॥ॐ॥

॥श्री परमात्मने नमः ॥

॥श्री गणेशाय नमः॥

मनुस्मृति

Shri Hindu Dharm Vedic Education Foundation

विषय सूची

॥ श्री हरि ॥

प्रस्तावना

वर्त्तमान समाज मे एक शब्द जो राजनीतिक, सामाजिक रूप से बहुधा सुनने मे आता है वह है 'मनुवाद', परन्तु न तो इसका अर्थ बताया जाता है न ही यह की मनुवाद की परिभाषा के क्या मायने हैं। अंग्रेज आलोचकों से लेकर वर्त्तमान समाज में दिखाई देने वाले तथाकथित 'मनुविरोधी' राजनीतिज्ञों और भारतीय लेखकों ने मनुस्मृति का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह बेहद भयावह, विकृत एकांगी और पूर्व आग्रह से युक्त है। परन्तु वह वास्तविकता से कोसों दूर है । संसार मे व्याप्त किसी किसी भी धर्म पुस्तक के आप दो पक्ष देख सकते हैं- उत्तम तथा अधम । इन सभी महानुभावों ने मनुस्मृति के उत्तम पक्ष की सर्वथा अवहेलना करते हुए केवल अधम पक्ष की और ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है और यह दिखाने का प्रयास किया है की सनातन हिंदू समाज कितना निष्कृष्ट और कितना विकृत है। इसी से देश-विदेश में सनातन धर्म के प्रति भ्रान्ति उत्पन्न होती हैं और हमारे धर्म का ह्रास होता है।

मनुस्मृति को गाली सब देतें है परन्तु यह कोई नहीं बताता की मनुस्मृति में व्यक्तिगत चित्तशुद्धि से लेकर पूरी समाज व्यवस्था तक कई ऐसी उत्तम बातें हैं जो आज भी हमारा मार्गदर्शन कर सकती हैं। जन्म के आधार पर जाति और वर्ण की व्यवस्था पर सबसे पहली

चोट मनुस्मृति में ही की गई है । सबके लिए शिक्षा और सबसे शिक्षा ग्रहण करने की बात भी इसमें सम्मलित है। स्त्रियों की पूजा करने अर्थात् उन्हें अधिकाधिक सम्मान देने, उन्हें कभी शोक न देने, उन्हें हमेशा प्रसन्न रखने और संपत्ति का विशेष अधिकार देने जैसी बातें भी हैं और सबसे महत्वपूर्ण बात जो छिपाई जाती है वह यह है की मनुस्मृति में वर्णित वर्ण व्यवस्था गुण-कर्म- योग्यता पर आधारित वर्ण व्यवस्था है, जन्म पर आधिरित संकीर्ण जातिव्यस्था नहीं है। मनुस्मृति में केवल कर्म पर आधिरित वर्ण व्यवस्था का उल्लेख किया गया है, किसी जाति अथवा गोत्रों का विवरण नहीं है। मनुस्मृति अध्याय १० के श्लोक ६५ में कहा गया है :

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज् जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च ॥ ॥६५॥

अर्थात शूद्र ब्राह्मण बन सकता है और ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त हो सकता है । इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्यों में भी वर्ण परिवर्तन हो सकता है।

प्रसिद्द इतिहासकार एन्टॉनी रीड कहते हैं कि बर्मा, थाइलैण्ड, कम्बोडिया, जावा-बाली आदि में धर्मशास्त्रों और प्रमुखतः मनुस्मृति, का बड़ा आदर था। इन देशों में इन ग्रन्थों को प्राकृतिक नियम देने वाला ग्रन्थ माना जाता था और राजाओं से अपेक्षा की जाती थी कि वे इनके अनुसार आचरण करेंगे। इन ग्रन्थों का प्रतिलिपिकरण किया

गया, अनुवाद किया गया और स्थानीय कानूनों में इनको सम्मिलित कर लिया गया।

'बाइबल इन इण्डिया' नामक ग्रन्थ में लुई जैकोलिऑट (Louis Jacolliot) लिखते हैं:

"मनुस्मृति ही वह आधारशिला है जिसके ऊपर मिस्र, परसिया, ग्रेसियन और रोमन कानूनी संहिताओं का निर्माण हुआ। आज भी यूरोप में मनु के प्रभाव का अनुभव किया जा सकता है।"

(Manu Smriti was the foundation upon which the Egyptian, the Persian, the Grecian and the Roman codes of law were built and that the influence of Manu is still felt in Europe.)

दूसरा पक्ष यह भी है ईसाईयों के लिए बाइबल और मुसलमानों के लिए कुरान और हदीस की तरह मनुस्मृति का अक्षरक्षः पालन करना किसी भी हिन्दू के लिए प्रथम आवश्यकता नहीं हैं और वर्तमान समाज में मनुस्मृति में वर्णित सिद्धांतों का कितना पालन हो रहा है यह कहने का विषय नहीं है क्योंकि एक शब्द का पालन भी नहीं हो रहा है। आश्चर्य इस बात का है की मनुस्मृति का विरोध वह लोग करते हैं जिन्होंने मनुस्मृति पढना तो दूर उसकी छवि तक नहीं देखी है और वही व्यक्ति मनुस्मृति को जला कर, उसको जूते मार कर यह साबित करने का प्रयास करता है की देखिए हम कितने सभ्य हैं। इसी पर कबीरदास जी ने कहा है:

साधु ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय,
सार-सार को गहि रहै, थोथा देई उड़ाय।

इस संसार में ऐसे सज्जनों की जरूरत है जैसे अनाज साफ़ करने वाला सूप होता है। जो सार्थक को बचा लेता है और निरर्थक को उड़ा देता है। मनुस्मृति का विरोध करने वालों को किसने रोका है की अधम विचारों को फेंक दीजिए और उत्तम विचारों को अपना लीजिए, उन्हें जीवन में भी उतारिए और एक सुन्दर समाज का निर्माण कीजिए।

हमारा सदैव यही प्रयास रहा ही की समाज मे व्याप्त भ्रांतियों को दूर कर, सनातन धर्म के उत्तम पक्ष का विकास कर, धर्म और देश का विकास किया जाए। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता की संकीर्ण जाति व्यवस्था से हमारे समाज का ह्रास हुआ है, परन्तु केवल एक त्रुटी के कारण सम्पूर्ण धर्म को कलंकित करना दुर्भाग्यपूर्ण हैं।

हज़ारों वर्षों के चिंतन में जहां कुछ अनुपम विचार और व्यवहार है, वहां कुछ विसंगतियां होनी असंभव नहीं है। यह भी संभव है की स्थान, काल, परिस्थिति और व्यक्तिगत वृत्तियों के आधार पर पुस्तक में प्रक्षेप भी हुआ हो परन्तु उस समय में सिद्ध किए गए सिद्धांतों का कलियुग में विरोध कुछ ऐसा ही है की हम सभी डायनासोरों को मानवखोर राक्षसों की संज्ञा दे कर उन्हें धिक्कारें क्योंकि विश्व के सबसे पुराने धर्म ग्रन्थ ऋग्वेद में भी मनु को मानव-जाति का पिता कहा गया है। आवश्यकता है कि हम उदारतापूर्वक चिंतन करें और

सभ्य समाज के निर्माण के लिए जो उत्तम है उसे ग्रहण करें और अधम को पूरी सतर्कता और विनम्रता से त्याग दें।

सनातन धर्म की यही विशेषता रही है की समय के साथ धर्म और समाज की परिभाषा बदल जाती है। इसी विशेषता के कारण हम अनेकों विप्लवों के बाद भी स्थिर खड़े हैं और सम्पूर्ण विश्व में सनातन विचारधारा को न केवल स्वीकार किया जा रहा है परन्तु धर्म के अनेकों अंगों को मान्यता भी प्राप्त हो रही हैं।

संक्षेप में इस पुस्तक के संकलन का भी यही उद्देश्य है की बुद्धिमान मनुष्य इस ग्रन्थ को पढ़ कर, विचार कर, सत्य शोधन कर उत्तम को ग्रहण करें तथा अधम को सम्पूर्ण रूप से त्याग दें ।

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥

॥ श्री हरि ॥

॥ मनुस्मृति ॥

॥अथ प्रथमोऽध्यायः पहला अध्याय ॥

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥१॥
भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवानां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥२॥
त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित् प्रभो ॥३॥

महर्षियों ने एकाग्रचित्त बैठे हुए मनु महाराज के पास जाकर और उनका पूजन करके, विधिपूर्वक यह प्रश्न किया – हे भगवन् ! आप सभी ब्राह्मण आदि वर्गों के और सङ्कीर्ण जातियों के वर्णाश्रम धर्म क्रम से कहने में समर्थ हैं, अतः हमें आप उपदेश कीजिये क्योंकि केवल आप ही समस्त वैदिक, श्रौत-स्मार्त कर्मों के अगाध और अनन्त विषय को जानने वाले हैं । ॥१-३॥

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितोजा महात्मभिः।
प्रत्युवाचार्च्य तान् सर्वान् महर्षीञ्श्रूयतामिति ॥४॥

इस प्रकार महर्षियों के विनयपूर्वक प्रश्नों को सुनकर, महात्मा मनु ने, सब का आदर करके कहा - अच्छा सुनो। ॥४॥

जगत् की सृष्टि का विषय

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ॥५॥
ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तोजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः ॥ ॥६॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ ॥७॥
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत् ॥ ॥८॥

यह संसार अपनी उत्पत्ति के पूर्व अन्धकारमय था, अज्ञात था, इसका कोई लक्षण नहीं था। किसी भी अनुमान से यह जानने योग्य नहीं था। चारों ओर से मानो सोया हुआ था। इस महाप्रलय स्थिति के अनन्तर, सृष्टि के प्रारम्भ में, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि विश्व को सूक्ष्म एवं स्थूल रूप में प्रकट करने की इच्छा से अतीन्द्रिय, महासूक्ष्म, नित्य, विश्वव्यापक, अचिन्त्य परमात्मा ने अपने आप को प्रकट किया अर्थात् महत्तत्त्व आदि की उत्पत्ति द्वारा अपनी शक्ति को संसार में प्रकट किया। उसके पाश्चात्य अनेक प्रकार की प्रजा सृष्टि की इच्छा से जल वृष्टि करके उसमें अपना शक्ति रूप बीज स्थापित किया। ॥५-८॥

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ॥९॥

वह बीज ईश्वर की इच्छा से ,सूर्य के समान चमकीला स्वर्ण के रंग का गोला बन गया। उसमें से संपूर्ण विश्व के पितामह स्वयं ब्रह्माजी का प्रादुर्भाव हुआ। ॥६॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ ॥१०॥
यत् तत् कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मैति कीर्त्यते ॥ ॥११॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात् तदण्डमकरोद् द्विधा ॥ ॥१२॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥ ॥१३॥

जल को नार कहते हैं क्योंकि जल की उत्पत्ति नर नामक परमात्मा से हुई है। जल में ही परमात्मा ने ब्रह्मरूप से पहले स्थिति की है। इसलिये परमात्मा को नारायण कहते हैं। जो सारे जगत् की उत्पात्ति का कारण है, अप्रकट है, सनातन है, सत्-असत् पदार्थों का प्रकृतिभूत है, उसी से उत्पन्न वह पुरुष संसार में ब्रह्मा नाम से जाना जाता है। ब्रह्मा ने उस अंड में एक वर्ष ब्राह्ममान रहकर, अपनी इच्छा से उसके दो टुकड़े कर दिए। उस अंड के ऊपरी भाग से स्वर्गलोक, नीचे के भाग से भूलोक और दोनों के बीच आकाश बनाकर आठों दिशाओं और जल के स्थिर स्थान -समुद्र का निर्माण किया। ॥१०-१३॥

सृष्टि की उत्पत्ति

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनसश्चाप्यहङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ ॥१४॥
महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ ॥१५॥
तेषां त्ववयवान् सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम्।
संनिवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ ॥१६॥
यन् मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तानीमान्याश्रयन्ति षट् ।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥ ॥१७॥

ब्रह्मा ने उस परमात्मा रूप प्रकृति से मन उत्पन्न किया, फिर मन से अहंकार, अहंकार से महत्तत्व, सत्त्व, रज, तम, तीनों गुण और शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों के विषय रूप पांच ज्ञानेन्द्रिय और अहंङ्कार इन छ के सूक्ष्म अवयवों को अपनी अपनी मात्राओं में अर्थात् शब्द, स्पर्शादि में मिलाकर समस्त चल अचल रूप विश्व की रचना की। शरीर के सूक्ष्म, छह हिस्सों अर्थात् अहंङ्कार और पञ्च महाभूत आदि समस्त कार्यों के आश्रय होने से उस ब्रह्मा की मूर्ति को शरीर कहते हैं। ॥ १४-१७ ॥

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ ॥ १८ ॥
तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद् व्ययम् ॥ ॥१६॥
आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद् गुणः स्मृतः ॥ ॥२०॥

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥

पञ्चमहाभूत और मन अपने कार्यों और सूक्ष्म अंगों के द्वारा समस्त प्राणियों की उत्पत्ति के लिये अविनाश ब्रह्म अर्थात शरीर में प्रविष्ट होते हैं। उन सात प्रकृतियों अर्थात् महत्तत्व, अहङ्कार और पञ्चमहाभूत की सूक्ष्म मात्रा से, पञ्चतन्मात्रा से, अविनाशी परमात्मा नाशवान् जगत् को उत्पन्न करते हैं। इन पञ्चमहाभूतों में पहले का गुण अगला पाता है। जैसे आकाश का गुण शब्द आगे के वायु में व्याप्त हुआ । वायु का गुण स्पर्श अग्नि में, अग्नि का रूप जल में स्थापित हुआ इत्यादि। इनमें से जिसमें जितने गुण हैं वह उतने गुणों वाला गुणवाला है। जैसे आकाश में एक गुण शब्द है। वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण हैं, इसलिये आकाश एक गुण वाला और वायु दो गुणवाला कहलाया । इसी प्रकार अन्य गुणों के विषय में भी जानना चाहिए। परमात्मा ने वेदानुसार ही सबके नाम और कर्म अलग अलग बांट दिये हैं, जैसा गौ जाति का नाम गो, अश्वजाति का अश्व और कर्म जैसे ब्राह्मणों का वेदाध्ययन आदि, क्षत्रियों को प्रजारक्षा आदि जैसा पूर्वकल्प में था वैसा ही रचा गया है। ॥ १८-२१ ॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत् प्राणिनां प्रभुः।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥ ॥२२॥
अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋच्।यजुस्।सामलक्षणम् ॥ ॥२३ ॥
कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
सरितः सागरान् शैलान् समानि विषमानि च ॥ ॥२४॥

फिर परमात्मा ने, यज्ञादि में जिनको भाग दिया जाता है ऐसे प्राणवाले इन्द्रादि देवता; वनस्पति आदि के स्वामी देवता, साध्य नामक सूक्ष्म देवगण और यज्ञों की रचना की। अग्नि, वायु और सूर्य इन तीनों में क्रम से यज्ञ, कर्म, संपादन के लिये, ऋक, यजु, साम इस त्रयी विद्या को उत्पन्न किया[1]। काल और काल का विभाग वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, प्रहर, घटिका, पल, विपल आदि नक्षत्र, ग्रह, नदी, समुद्र, पर्वत और ऊंचीं, नीची भूमि की सृष्टि हुई। ॥ २२-२४ ॥

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च।
सृष्टिं ससर्ज चैवैमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥ ॥ २५ ॥
कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्चैमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥ ॥२६॥
अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ ॥२७॥
यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ ॥२८॥
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद् यस्य सोऽदधात् सर्गे तत् तस्य स्वयमाविशत् ॥ ॥२९॥

सृष्टि की रचना करने की इच्छा से ब्रह्मा ने तप, वाणी, रति, काम और क्रोध को उत्पन्न किया। भले और बुरे कर्मों के विचार के लिये धर्म और अधर्म का निर्णय किया। सुख, दुःख, काम, क्रोध आदि द्वन्द्व धर्मों के अधीन संसार के प्राणियों को उत्पन्न किया। पञ्चमहाभूतों की सूक्ष्स मात्रा, पञ्चतन्मात्राओं के साथ यह सारी सृष्टि क्रम से उत्पन्न

[1] अग्नि, वायु और सूर्य से वेदों की उत्पत्ति होने के कारण ही ऋग्वेद का पहला मन्त्र अग्नि स्तुति का, यजुर्वेद का पहला मन्त्र वायु स्तुति का तथा सामवेद का पहला मन्त्र सूर्य स्तुति का है।

हुई। सृष्टि के आदि में इस प्रभु ने, जिस स्वाभाविक कर्म में जिसकी उत्पत्ति की, उसी कर्म को उसने ग्रहण किया। हिंसक कर्म- अहिंसक कर्म, मृदु-दया, क्रूर-कठोरता, धर्म-ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा, अधर्म-झूठ बोलना आदि जो पूर्वकल्प में जिसका था वही सृष्टि के समय उसमें प्रविष्ट हो गया। ॥२५-२९॥

यथर्तुलिङ्गान्यर्तवः स्वयमेवर्तुपर्यये।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ॥३०॥
लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ ॥३१॥
द्विधा कृत्वाऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ ॥३२॥
तपस्तप्त्वाऽसृजद् यं तु स स्वयं पुरुषो विराट् ।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ॥३३॥
अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ॥३४॥
मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ॥३५॥

जिस प्रकार वसन्त आदि ऋतु अपने स्वाभाविक चिह्न को धारण करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य अपने अपने पूर्व कर्मों को प्राप्त होते हैं। परमात्मा ने लोक की वृद्धि के लिये, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों को पैदा किया । इनमें विराट रूप परमात्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य और पैर से शूद्र उत्पन्न हुए। परमात्मा ने इस संसार को दो भागों मे विभक्त करके एक को पुरुष तथा दूसरे को स्त्री बनाया और स्त्रीभाग से विराट पुरुष को उत्पन्न किया। उस विराटपुरुष रूप प्रजापति ने तप करके जिस पुरुष को

उत्पन्न किया वही मैं, सारे विश्व को उत्पन्न करने वाला हूँ - ऐसा आपलोग जानिये। मैंने प्रजा सृष्टि की इच्छा से कठिन तप करके पहले दस महाऋषियों को उत्पन्न किया। उनके नाम इस प्रकार हैं- मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेतस, वशिष्ठ, भृगु और नारद ॥ ३०-३५॥

एते मनूंस्तु सप्तान् यानसृजन् भूरितेजसः।
देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितोजसः ॥ ॥३६॥
यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् ।
नागान् सर्पान् सुपर्णांश्च पितृणांश्च पृथग्गणम् ॥ ॥३७॥
विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितैन्द्रधनूंषि च ।
उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥ ॥३८॥
किन्नरान् वानरान् मत्स्यान् विविधांश्च विहङ्गमान्।
पशून् मृगान् मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥ ॥३९॥
कृमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम्।
सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ॥ ॥४०॥
एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान् महात्मभिः।
यथाकर्म तपोयोगात् सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ ॥४१॥

इन दस प्रजापतियों ने दूसरे प्रकाशमान सात मनुओं को, देवता और उनके निवास स्थानों को, ब्रह्मऋषियों को उत्पन्न किया और यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग, सर्प, सुपर्ण गरुडादि, और पितरों को उत्पन्न किया। विद्युत्-बिजली, अशनि[2], मेघ,

[2] एक तरह की बिजली

रोहित[3], इन्द्रधनुष, उल्का[4], निर्घात[5], केतु[6], और अनेकों प्रकार की ज्योति, ध्रुव अगस्त्य आदि को उत्पन्न किया । किन्नर, अश्वमुख, नरदेह, वानर, मत्स्य, तरह तरह के पक्षिगण, पशु, मृग, मनुष्य, सर्प, ऊपर-नीचे दांतवाले जीव, कृमि, कीट, पतङ्ग, जूं, मक्खी, खटमल और संपूर्ण काटनेवाले छोटे जीव मच्छर आदि, मेरी आज्ञा और अपनी तपस्या से मरीचि आदि महात्माओं ने इस स्थावर, जङ्गम विश्व को कर्मानुसार रचा है ॥३६-४१॥

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम्।
तत् तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ॥४२॥
पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ॥४३॥
अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवं।प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥ ॥४४॥
स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत् किं चिदीदृशम् ॥ ॥४५॥
उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ॥४६॥
अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ॥४७॥
गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥ ॥४८॥

---

[3] एक विचित्र वर्ण दण्डाकार आकाश का चिह्न
[4] जो आकाश से रेखाकार ज्योति गिरती है
[5] उत्पात शब्द
[6] पूंछदार तारा

इस जगत् में जिन प्राणियों का जो कर्म कहा है वैसा ही हम कहेंगे और उनके जन्म के क्रम का भी वर्णन करेंगे । सृष्टि चार प्रकार की है, उनको क्रम से कहते हैं-पशु, सिंह, ऊपर नीचे दाँतवाले, सभी राक्षस, पिशाच और मनुष्य यह सभी 'जरायुज' कहलाते हैं। पक्षी, साँप, नाक, मछली, कछुआ और जो भी इसी प्रकार भूमि या जल में पैदा होनेवाले जीव हैं वह सभी 'अण्डज' कहलाते हैं । मच्छर, दंश, जूँ, मक्खी, खटमल आदि पसीने की गर्मी से पैदा होनेवाले 'स्वदेज' होते हैं । वृक्ष आदि को 'उद्भिज्ज ' कहते हैं। यह दो तरह के हैं, बीज से पैदा होनेवाले और शाखा से पैदा होनेवालें। जो वृक्ष फलों के पकजाने पर सूख जाते हैं और जो बहुत फल, फूलवाले होते हैं उनको 'औषधि' कहते हैं। जिनमें फल आतें हैं परन्तु फूल नहीं आते उनको 'वनस्पति' कहते हैं। और जो फल, फूलवाले हैं वह 'वृक्ष' कहे जाते हैं। जिनमें जड़ से ही लता का मूल हो, शाखा न हो उसको 'गुच्छ' कहते हैं । गुल्म-ईख वगैरह, तृणजाति कई भांति के बीज और शाखा से पैदा होनेवाले, प्रतान-जिस में सूत सा निकले और वल्ली गुर्च आदि सब 'उद्भिज्ज' हैं। ॥४२-४८॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तस्संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ॥४९॥
एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः।
घोरेऽस्मिन् भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥ ॥५०॥
एवं सर्वं स सृष्ट्वैदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥ ॥५१॥
यदा स देवो जागर्ति तदेवं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ ॥५२॥
तस्मिन् स्वपिति तु स्वस्थे कर्मात्मानः शरीरिणः।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति॥ ॥५३॥

युगपत् तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन् महात्मनि।
तदाऽयं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥ ॥५४॥

यह सभी वृक्ष अज्ञानवश अपने पूर्व जन्म के बुरे कर्मों से घिरे हुए हैं। इनके भीतर छिपा हुआ ज्ञान है और इनको सुख-दुःख भी होता हैं। इस नाशवान् संसार में ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक यही उत्पत्ति का नियम कहा गया है। उस अचिन्त्य प्रभावशाली परमात्मा ने यह विश्व और मुझे उत्पन्न करके सृष्टिकाल को प्रलयकाल में मिलाकर अपने में लीन कर लिया। अर्थात् प्राणियों के कर्मवश बार बार सृष्टि और प्रलय किया करता है। जब परमात्मा जागता हैं अर्थात् सृष्टि की इच्छा करता है उस समय यह सारा जगत् चेष्टा युक्त हो जाता है और जब सोता है यानि प्रलय की इच्छा करता है, तब विश्व का अंत हो जाता है। यही परमात्मा का जागना और सोना है। जब वह सोता है, निर्व्यापार रहता है तब कर्मात्मा प्राण अपने अपने कर्मों से निवृत्त हो जाते हैं और मन भी सभी इन्द्रियों सहित शान्त भाव को प्राप्त कर लेता है। एक ही काल में, जब समस्त प्राणी परमात्मा में लय को प्राप्त कर लेते हैं, तब यह सुख से शयन करता हुआ कहा जाता है ॥४६-५४॥

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सैन्द्रियः।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः ॥ ॥५५॥
यदाऽणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थाणु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति ॥ ॥५६॥
एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम्।
सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ॥५७॥

उस दशा में यह जीव इन्द्रियों के साथ बहुत समय तक तम (सुषुप्ति अवस्था) का आश्रय करके रहता हैं । और अपना कर्म नहीं करता, किंतु पूर्व देह से जुड़ा रहता है। फिर पहले अणुमात्रिक[7] चर और अचर के हेतुभूत बीज में प्रविष्ट होकर, पुर्यष्टक को मिलकर शरीर को धारण करता हैं। इस प्रकार अविनाशी परमात्मा जागरण और शयन से, इस चराचर जगत् को उत्पन्न और नष्ट किया करता है। ॥ ५५-५७ ॥

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥ ॥५८॥
एतद् वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद् हि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥ ॥५९॥
ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिमनुना भृगुः।
तानब्रवीद् ऋषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ॥६०॥

मनु जी कहते हैं- प्रजापति ने सृष्टि के पूर्व इस धर्मशास्त्र को बना कर मुझे उपदेश दिया। फिर इसका उपदेश मैंने मरीचि आदि अन्य ऋषियों को दिया। इस समस्त शास्त्र का उपदेश भृगु आपको करेंगे, जो कि मुझ से सम्पूर्ण प्राप्त किया गया है। उसके बाद मनु की आज्ञा पाकर महर्षि भृगु ने सब ऋषियों को कहा कि सुनो ॥ ५८-६० ॥

स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ॥ ॥६१॥
स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ ॥६२॥

[7] शरीर बनने की आठ सामग्री हैं-जीव, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, वायु, अविद्या-इन को शास्त्र में 'पुर्यष्टक' कहते हैं।

स्वायम्भुव मनु के वंश में, छः मनु और हैं। उन्होंने अपने अपने काल में प्रज्ञा की सृष्टि, पालन आदि किया है। उनका नाम- स्वारोचिष, औत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत है। ॥६१-६२॥

मन्वन्तर आदि काल का मान

स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥ ॥६३॥
निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत् तु ताः कला ।
त्रिंशत् कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ॥६४॥
अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ॥६५॥
पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ॥६६॥

अब मन्वन्तर आदि काल का मान कहते हैं-
आँख की पलक गिरने का समय निमेष कहलाता हैं,
१८ निमेष की एक काष्ठा नामक काल होता है,
३० काष्ठा की एक कला,
३० कला का एक मुहूर्त,
३० मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है।

मनुष्य और दैव अहोरात्र-दिन, रात का विभाग सूर्य करता है । उसमें प्राणियों के सोने के लिए रात और कर्म करने के लिए दिन होता है। मनुष्यों के एक मास का पितरों का एक अहोरात्र होता है। उसमें

कृष्णपक्ष का दिन कर्म करने और शुक्लपक्ष की रात्रि शयन करने के लिए होता है।॥ ६३-६६।

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद् दक्षिणायनम् ॥ ॥६७॥
ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत् प्रमाणं समासतः।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ॥६८॥
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत् कृतं युगम्।
तस्य तावत्शती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः॥ ॥६९॥
इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ॥७०॥
यदेतत् परिसङ्ख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ॥७१ ॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसङ्ख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥ ॥७२॥

मनुष्य के एक वर्ष में देवताओं का अहोरात्र होता है। उस में उत्तरायण दिन और दक्षिणायन रात है। ब्राह्म अहोरात्र और चारों युगों का प्रमाण इस प्रकार है - मनुष्यों के तीन सौ साठ (३६०) वर्ष का एक (१) देव वर्ष होता है । ऐसे चार हजार (४०००) वर्षों को कृतयुग कहते हैं और उसकी संध्या (युग का आरम्भकाल) और सन्ध्यांश (युग का अन्तकाल) दोनों चार सौ (४००) वर्ष का है। इस तरह सन्ध्या और सन्ध्यांश मिलकर चार हजार दो सौ (४२००) दैववर्ष का कृतयुग होता है अर्थात् ४०० x ३६० = १७२८००० (सत्रह लाख अट्ठाइस हजार) वर्ष उसका मान है । बाकी त्रेता, द्वापर और कलि इन तीनों के सन्ध्या और सन्ध्यांश के साथ जो संख्या होती है, उस में हजार में' सैकड़े की और सैकड़े में की एक एक संख्या घटाने से तीनों की

संख्या पूरी होती हैं। इस प्रकार त्रेतायुग ३६००=१२६६००० (बारह लाख छियासठ हजार) । द्वापर २४००= ६६३००० (छियासठ लाख तीन हज़ार) और कलि १२००=४३२००० (तिरालिस लाख दो हज़ार) मान होते हैं। यह जो पहले चारों युगों की बारह हजार १२००० दैववर्ष संख्या कही है, यह एक, दैवयुग का मान है। ऐसे हजार दैवयुगों का ब्रह्मा का १ दिन और उतनी ही रात होती है। अर्थात् दो हजार दैववर्षों का ब्रह्मा का अहोरात्र होता है । १२००० दैववर्ष का एक १ युग, इसको १००० गुणा करने से १,२०,००,००० (एक करोड़ बीस लाख) देव वर्षों का ब्राह्मदिन और इतनी ही रात्रि हुई। इसे ३६० से गुणा करने से ४,३२,००,००,००० (चार करोड़ बत्तीस लाख) मनुष्य वर्षों का ब्राह्मदिन और उतनी ही रात्रि होती है ॥६७-७२॥

तद् वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ॥७३॥
तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ॥७४॥
मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात् तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ॥७५॥
आकाशात् तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥ ॥७६॥
वायोरपि विकुर्वाणाद् विरोचिष्णु तमोनुदम्।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत् तद् रूपगुणमुच्यते ॥ ॥७७॥
ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ ॥७८॥

एक हजार युग का ब्रह्मा का पुण्यदिन और उतनी ही रात्रि है। उस रात्रि के अन्त में ब्रह्मा सोकर जागता है और अपने मन को सृष्टि में

प्रेरित करता है। परमात्मा की इच्छा से प्रेरित मन सृष्टि को विकृत करता है। मनसतत्व से आकाश पैदा होता हैं जिस का गुण शब्द है । आकाश के विकार से, गन्ध को धारण करनेवाला, पवित्र वायु उत्पन्न हुआ है, उसका स्पर्शगुण है। वायु के विकार से, अन्धकार को नष्ट करनेवाला, प्रकाशमान अग्नि पैदा हुआ। है, उसका गुण रूप है। अग्नि से जल उत्पन्न होता है, जिसका गुण रस है और जल से पृथिवी उत्पन्न होती है, जिसका गुण गन्ध है। यही आदि से सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम है ॥ ७३-७८॥

यद् प्राग् द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ॥७९॥
मन्वन्तराण्यसङ्ख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ॥८०॥
चतुष्पात् सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चिन् मनुष्यान् प्रति वर्तते ॥ ॥८१॥
इतरेष्वागमाद् धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥ ॥८२॥
अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥ ॥८३॥
वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम्।
फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ॥८४॥
अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ ॥८५॥

पूर्व जो बारह हजार वर्ष का एक दैवयुग कहा है, ऐसे ७१ युग का एक मन्वन्तरकाल होता है । मन्वन्तर असंख्य हैं, सृष्टि और संहार भी असंख्य हैं। परमात्मा यह सब क्रीडाव्रत अर्थात बिना श्रम के -खेल

खेल में ही किया करते हैं कृतयुग में धर्म पूरा, चार पैर का और सत्यमय होता है क्योंकि उस समय में अधर्म से मनुष्यों की कोई कार्य नहीं बनता था। दूसरे युगों में धर्म क्रम से चोरी, झूठ, माया इन सभी से चौथाई-चौथाई घटता है। सत्ययुग में सब रोग रहित होते हैं। सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं। ४०० वर्ष की आयु होती है। आगे त्रेता आदि में चतुर्थांश घटती जाती है । मनुष्यों को, वेदानुसार आयु, फर्मों के फल और देह का प्रभाव, सब युगानुसार फल देते हैं युगों के अनुसार धर्म का स्वरुप बदलता रहता है, सतयुग में धर्म का स्वरुप कुछ और होता है, त्रेता में कुछ और, द्वापर में उससे अलग, कलि में कुछ दूसरे ही प्रकार का बन जाता है, इस तरह चारों युगों में धर्म का अवारूप आपस में विलक्षण होता हैं ॥ ७९-८५ ॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ॥८६॥
सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ॥८७॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ॥८८॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ ॥८९॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ॥९०॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ॥९१॥

सतयुग में तप मुख्य धर्म है, त्रेतायुग में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलियुग में एक मात्र दान देना मुख्य धर्म है। परमात्मा ने, संसार की

रक्षा के लिये ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के काम,अलग अलग नियत किये। पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना, यह छः कर्म ब्राह्मणों के हैं। प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और इन्द्रियों के विषयों में न फंसना, यह क्षत्रियों के कर्म हैं । पशुओं को पालना, दान देना, यज्ञ कराना, व्यापार करना, ब्याज लेना और खेती करना, यह सभी कर्म वैश्यों के हैं। परमात्मा ने शूद्रों का एक ही काम बतलाया है भक्ति से, इन सभी वर्णों की सेवा कार्य में संलग्न होना ॥ ८६-९१ । ।

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।
तस्मान् मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥ ॥९२॥
उत्तमाङ्गोद्भवाज् ज्येष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ॥९३॥

पुरुष नाभि के ऊपर पवित्र माना गया है। उससे भी उस का मुख अतिपवित्र है । परमात्मा के मुखतुल्य होने से, चारों वर्णों में बड़ा होने से,और वेद पढ़ाने से, ब्राह्मण सारे जगत् का प्रभु है ॥९२-९३ ||

तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात् तपस्तप्त्वाऽदितोऽसृजत्।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ॥९४॥
यस्यास्येन सदाऽश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥ ॥९५॥
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ॥९६॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ॥९७॥

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती । स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ॥९८॥

ब्रह्मा ने अपने मुख से दैव और पितृकार्य संपादनार्थ और लोक की भलाई के लिए, ब्राह्मण को उत्पन्न किया है। जिस के मुखद्वारा देवगण हव्य और पितृगण कव्य (श्राद्धादि में) को ग्रहण करते हैं उससे श्रेष्ठ कौन है ? भूतों (स्थावर, जङ्गम) में प्राणी (कीटदि) श्रेष्ठ हैं। इन में भी बुद्धिजीवी (पशु आदि) इनसे भी मनुष्य श्रेष्ठ है उन में भी ब्राह्मण अधिक श्रेष्ठ है। और ब्राह्मणों में विद्वान्, विद्वानों में कर्म जाननेवाले, उन में कर्म करनेवाले और उनमें से भी ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ होता है। ब्राह्मण का शरीर ही धर्म की अविनाशी मूर्ति है। क्योंकि, वह धर्म द्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है ।। ९४-९८ ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ॥९९॥
सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत् किं चित्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ ॥१००॥

ब्राह्मण का उत्पन्न होना पृथिवीं में सब से उत्तम है। क्योंकि सब जीवों के धर्मरूपी संचित धनराशि की रक्षार्थ वह समर्थ है अर्थात ब्राह्मण ही धर्म की रक्षा के लिए उपदेश देने में समर्थ है। जो कुछ जगत् के पदार्थ हैं वह सभी ब्राह्मणों के हैं। ब्रह्ममुख से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण, सब ग्रहण करने योग्य है ॥९९-१००॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ ॥१०१॥
तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः।

स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ ॥१०२॥
विदुषा ब्राह्मणेनैदमध्येतव्यं प्रयत्नतः।
शिश्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यग् नान्येन केन चित् ॥ ॥१०३॥
इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः।
मनोवाक्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ ॥१०४॥
पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्तसप्त परावरान्।
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ॥ ॥१०५॥

ब्राह्मण, यदि दूसरे का दिया अन्न भोजन करे, या वस्त्र पहने, या दान दे, तब भी वह सब ब्राह्मण का अपना ही है। अन्य सभी तो ब्राह्मणों की कृपा से भोजन पाते हैं। ब्राह्मण और क्षत्रियों के कर्म विवेक के लिये स्वायम्भुव मनु ने यह धर्मशास्त्र बनाया है। विद्वान् ब्राह्मण को यह धर्मशास्त्र पढ़ना और शिष्यों को पढ़ाना चाहिये और शिष्यों के अतिरिक्त अन्य किसी को इसका उपदेश नहीं करना चाहिये । नियमनिष्ठ ब्राह्मण जो इस शास्त्र का अध्ययन करता है वह मन, वाणी, देह के पापों से लिप्त नहीं होता। धर्मशास्त्रविशारद ब्राह्मण अपने अपवित्र स्वजनों को पवित्र कर देता है और अपने वंश के सात पिता, पितामह आदि और पुत्र, पौत्र आदि को पवित्र कर देता है और समस्त पृथिवी को भी वह प्राप्त करने योग्य है ॥ १०१-१०५ ॥

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम्।
इदं यशस्यमायुष्यं इदं निःश्रेयसं परम् ॥ ॥१०६॥
अस्मिन् धर्मेऽखिलेनोक्तौ गुणदोषौ च कर्मणाम्।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ ॥१०७॥
आचारः परमो धर्मः श्रुत्योक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥ ॥१०८॥

यह शास्त्र, कल्याणदायक, बुद्धिवर्धक, यशदायक, आयुवर्धक और मोक्ष का सहायक है। इस स्मृति में सारे धर्म कहे कहे हैं। कर्मों के गुण दोष भी कहे हैं और चारों वर्णों का शाश्वत अर्थात परंपरा से प्राप्त आचार कथन भी किया गया है। श्रुति और स्मृति में कहा आधार परधर्म है, इसलिए इसमें ब्राह्मणों को सदा तत्पर रहना चाहिए ॥ १०६-१०८॥

आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ॥ ॥१०९॥
एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ॥११०॥

अपने आचार से हीन ब्राह्मण वेदफल को नहीं पाता और जो आचार युक्त है वह फलभागी होता है। इस प्रकार मुनियों ने, आचार से धर्म प्राप्ति देखकर, धर्म के परममूल आचार को ग्रहण किया है ॥ १०६-११० ॥

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च।
व्रतचर्यौपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ ॥१११॥
दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम्।
महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च शाश्वतम् ॥ ॥११२॥
वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च।
भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च॥ ॥११३॥
स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च।
राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥ ॥११४॥
साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥ ॥११५॥

अब इस धर्मशास्त्र में मनु ने, किन किन विषयों को कहे हैं, उस की संख्या बतलाते हैं-जगत् की उत्पत्ति, संस्कारों की विधि, ब्रह्मचारियों के व्रताचरण, गुरुवन्दन, उपासना आदि, स्नानविधि, स्त्रीगमन, विवाहों की लक्षण, महायज्ञ-वैश्वदेवादि, श्राद्धाविधि, जीवनोपाय, गृहस्थ के व्रतनियम, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार, आशौचनिर्णय, द्रव्यशुद्धि, स्त्रियों के धर्मोपाय, वानप्रस्थ आदि तपों के धर्म, मोक्ष और संन्यासधर्म, राजाओं के संपूर्ण धर्म, कार्यों का निर्णय-साखी-गवाहियों से प्रश्नविधि, स्त्री-पुरुषों के धर्म, हिस्सा-बाँट और जुआरी, चोरों का शुद्धि करण कहा गया है। ॥१११-११५॥

वैश्यशूद्रोपचारं च सङ्कीर्णानां च संभवम्।
आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥ ॥११६॥
संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसंभवम्।
निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ॥११७॥
देशधर्मान्जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान्।
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः ॥ ॥११८॥

वैश्य और शूद्रों के धर्मानुष्ठान का प्रकार, वर्णसङ्करों की उत्पत्ति, वर्णों का आपद्धर्म और प्रायश्चित्तविधि, उत्तम, मध्यम, अधम इन तीन प्रकार के कर्मों से देहगति का निर्णय, मोक्ष का स्वरूप, और कर्मों के गुण दोष की परीक्षा, देश धर्म, जाति का धर्म, कुल का धर्म जो परंपरा से चला आता हैं। पाखण्डियों के कर्म, गण-वैश्य आदि के धर्म इस शास्त्र में भगवान् मनु ने कहा है ॥ ११६-१८ ।।

यथैदमुक्तवांशास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया।
तथैदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ॥११९॥

जिस प्रकार, मनु से पूर्वकाल में मैंने पूछा, तब उन्होंने इस शास्त्र उपदेश किया था। उसी प्रकार अब आप मुझ से सुनिये ॥११९॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां स्मृतौ प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥१॥

॥महर्षि भृगु द्वारा प्रवचित मानव धर्म शास्त्र स्मृति का पहला अध्याय समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥ मनुस्मृति ॥

॥अथ द्वितीयोऽध्यायः दूसरा अध्याय ॥

धर्म का लक्षण

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ ॥१॥
कामात्मता न प्रशस्ता न चैवैहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ ॥२॥

वेद के जानने वाले, धार्मिक, राग द्वेष से रहित, महात्माओं ने जिस धर्म का सेवन किया और हृदय से अच्छी प्रकार से जाना उसको सुनो। पुरुष को कामफल का अभिलाषी होना अच्छा नहीं है और न बिल्कुल इच्छा का त्याग ही श्रेष्ठ है, क्योंकि बिना इच्छा, वेदाध्ययन और वैदिक कर्मों का अनुष्ठान नहीं हो सकता ॥१-२॥

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसंभवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥ ॥३॥
अकामस्य क्रिया का चिद् दृश्यते नैह कर्हि चित्।

यद् यद् हि कुरुते किं चित् तत् तत् कामस्य चेष्टितम्॥ ॥४॥
तेषु सम्यग् वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।
यथा सङ्कल्पितांश्चेह सर्वान् कामान् समश्नुते ॥ ॥५॥

इस कर्म से यह इष्टफल होगा-यही संकल्प है । इसलिए सब कामों का मूल संकल्प है। यज्ञादि समस्त कर्म संकल्प से ही होते हैं। व्रत, नियम, धर्म सब संकल्प से किये जाते हैं अर्थात् बिना संकल्प कुछ नहीं हो सकता। संसार में कोई भी कर्म बिना इच्छा के पूर्ण होते नहीं देखा गया। शास्त्रोक्त कर्मों का भलीभांति अनुष्ठान करने में स्वर्ग लोक की प्राप्ति और इष्ट कर्मों की पूर्ती होती है ॥३-५॥

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ॥६॥

संपूर्ण वेद, धर्ममूल हैं – वेद के तत्व को जानने वाले विदुषियों की स्मृति और शील ब्रह्मण्यता, साधु पुरुषों का आचार, और आत्म-सन्तोष यह धर्म में प्रमाण माने जाते हैं ॥६॥

यः कश्चित् कस्य चिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ ॥७॥
सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥ ॥८॥
श्रुतिस्मृत्योदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ॥९॥

जिस वर्ण का जो धर्म मनु ने कहा है, वह सब वेदोक्त हैं क्योंकि वेद संपूर्ण ज्ञान का भण्डार है। विद्वान्, ज्ञानदृष्टि से, वेदप्रमाण द्वारा धर्मशास्त्र को जांचकर, अपने धर्म में श्रद्धा करें। जो पुरुष, वेद और स्मृतियों में कहे धर्मों का पालन करता है, वह संसार में कीर्ति पाकर, परलोक में अक्षय सुख पाता है। ॥९॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ ॥१०॥
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ॥११॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ॥ ॥१२॥

श्रुति अर्थात वेद और स्मृति को ही धर्मशास्त्र को कहते हैं। यह दोनों सब विषयों में निर्विवाद, तर्क-कुतर्क रहित हैं क्योंकि, इन्हीं से धर्म का प्रकाश हुआ है। जो द्विज, कुतर्कों से इनकी निन्दा करते हैं, वह नास्तिक हैं, वेदनिन्दक हैं। वह शिष्टसमाज से निकाल देने योग्य हैं। वेद, स्मृति, सदाचार, और आत्म-सन्तोष, यह चार प्रकार के धर्मलक्षण, मुनियों ने कहे हैं ॥१०-१२॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ ॥१३॥
श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।

उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ ॥१४॥
उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ ॥१५॥
निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्य चित् ॥ ॥१६॥

जो पुरुष, अर्थ-प्रयोजन, काम-अभिलाषा में नहीं फंसे हैं उनको धर्म का ज्ञान होता है। धर्म जाननेवालों के लिए, सब से श्रेष्ठ प्रमाण श्रुति है। जहां श्रुति दो प्रकार की हो अर्थात् दो विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन करती हो, वहां वह दोनों अर्थ ही धर्म हैं, यह ऋषियों ने कहा है। श्रुतिभेद की मान्यता इस प्रकार दिखलाते हैं- उदितकाल-सूर्योदयकाल में, अनुदित-सूर्योदय से पूर्व में, समयाध्युषित-सूर्य, नक्षत्र वर्जितकाल में, सर्वथा यज्ञ-होम होता है, यह वेद की श्रुति है। इस तरह ज्ञात होता है एक ही श्रुति कालभेद कहलाती है और उन में अलग अलग यज्ञकर्म किया जाता है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक जिस वर्ण (द्विजाति) के लिए वेदमन्त्रों से कर्म लिखे हैं उसी का इस शास्त्र को पढ़ने सुनने का अधिकार है ॥१३-१६॥

देश विभाग

सरस्वतीदृशद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ ॥१७॥
तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ ॥१८॥

सरस्वती और दृषद्वती नदी इन देवनदियों के बीच जो देश है उस को 'ब्रह्मावर्त' कहते हैं जिस देश में, परंपरा से, जो आचार चला आता है, वही वर्णों का और सङ्कीर्ण जातियों का 'सदाचार' कहा जाता है ॥१७-१८॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ ॥१९॥
एतद् देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ ॥२०॥
हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग् विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ ॥२१॥
आ समुद्रात् तु वै पूर्वादा समुद्राच्च पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ ॥२२॥

कुरुक्षेत्र और मत्स्यदेश पांचाल और शूरसेनक यह ब्रह्मर्षि देश, ब्रह्मावर्त के समीप हैं। कुरुक्षेत्रादि देशों में उत्पन्न ब्राह्मणों से सभी मनुष्यों को अपने-अपने उचित सदाचारों की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। हिमवान् पर्वत और विन्ध्याचल के बीच में, सरस्वती के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम में, जो देश हैं, उनको 'मध्यदेश' कहते हैं। पूर्व समुद्र से पश्चिमसमुद्र तक, और हिमाचल से विन्ध्याचल के बीच में जो देश हैं, उनको 'आर्यावर्त' कहते हैं। ॥११-२२॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ ॥२३॥

एतान्द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः।
शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद् वृत्तिकर्शितः ॥ ॥२४॥

जिस देश में कृष्णसार मृग स्वभाव से विचरता है, वह यज्ञ करने योग्य देश है। इसके सिवा जो देश हैं, वह म्लेच्छ देश हैं- अर्थात यज्ञ लायक नहीं हैं। इन देशों में, द्विजातियों को यत्नपूर्वक निवास करना चाहिये और शूद्र, अपनी जीविकावश, चाहे जिस देश में निवास कर सकता है॥ २३-२४ ॥

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता।
संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ ॥२५॥
वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चैह च ॥ ॥२६॥

इस प्रकार, धर्म जानने का कारण और जगत् की उत्पत्ति संक्षेप से कही गई है । अब वर्णधर्म कहे जाते हैं। जो वैदिक पुण्यकर्म हैं, उनसे द्विजातियों का गर्भाधानादि शरीर-संस्कार, जो दोनों लोकों में पवित्र करनेवाला है करना चाहिये। ॥२५-२६॥

वर्णधर्म

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनं द्विजानामपमृज्यते ॥ ॥२७॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ ॥२८॥

गर्भाधान संस्कार, जातकर्म, चूडाकर्म, मौलीबंधन, इन संस्कारों से द्विजातियों के शुक्र और गर्भ सम्बन्धी दोष निवृत्त होते हैं। वेदाध्ययन, व्रत, होम, इज्याकर्म[8], ब्रह्मचारिदशा में देव-पितृतर्पण, पुत्रोत्पादन, महायज्ञ-पञ्चमहायज्ञ, यज्ञ-ज्योतिष्टोमादि, इन सभी कर्मों के करने से, यह शरीर ब्रह्मभाव पानेयोग्य होता है ॥२५-२८॥

प्राङ् नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रवत् प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ ॥२९॥
नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ॥३०॥

बालक का नाभिछेदन के पूर्व, जातकर्म-संस्कार करें, और अपने गृह्यसूत्रोक्त विधि के अनुसार, सुवर्ण, मधु और घृत का प्राशन (चटाना) करावे। फिर अशौच निवृत्त हो जाने पर, दसवें अथवा बारहवें दिन, शुभातिथि-मुहूर्त-नक्षत्र में, बालक का नाम करण करे ॥२६-३०॥

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात् क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ॥३१॥
शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद् राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ॥३२॥
स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।

---

[8] अग्निहोष्ट इत्यादि

मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ॥३३॥

ब्राह्मण का नाम मंगलवाचक, क्षत्रिय का बलवाचक, वैश्य का धनयुक्त और शूद्र का दासयुक्त नाम होना चाहिये। ब्राह्मणों के नाम में शर्मा, क्षत्रियों के वर्मा, वैश्यों के भूति और शूद्र के दास लगाना चाहिए। स्त्रियों के नाम मुख से उच्चारण योग्य, क्रूर न हो, वह साफ़, सुन्दर, मंगलवाची, अन्त में दीर्घ अक्षर वाला और आशीर्वाद वाचक होना चाहिए। ॥३१-३३॥

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद् वैष्टं मङ्गलं कुले ॥ ॥३४॥
चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ॥३५॥
गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्यौपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात् तु द्वादशे विशः॥ ॥३६॥

बालक को चतुर्थ मास में घर से बाहर निकाले। छठे मास में उसको अन्न खिलाना चाहिए, अथवा या जैसी रीति अपने कुल में हो वैसा करे। द्विजों का चूडाकर्म पहले या तीसरे वर्ष में वेदानुसार करना चाहिए। बालक ब्राह्मण बालक का गर्भवर्ष से आठवें वर्ष यज्ञोपवीत करे, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष और वैश्य का बारहवें वर्ष करना चाहिये। ॥३४-३६ ॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यो विप्रस्य पञ्चमे ।

राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यैहार्थिनोऽष्टमे ॥ ॥३७॥
आ षोदशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आ द्वाविंशात् क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः ॥ ॥३८॥
अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ ॥३९॥
नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हि चित्।
ब्राह्मान् यौनांश्च संबन्धान्नाचरेद् ब्राह्मणः सह ॥ ॥४०॥

वेदाध्ययन और उसके अर्थज्ञान से बढ़ा तेज ब्रह्मवर्चस कहलाता है। उसकी इच्छा वाले ब्राह्मण का पांचवें वर्ष, बलार्थी क्षत्रिय का छठे वर्ष, धन चाहनेवाले वैश्य का आठवें वर्ष यज्ञोपवीत संस्कार करे। सोलह वर्ष तक ब्राह्मण की सावित्री नहीं जातीं । क्षत्रिय की बाइस वर्ष तक और वैश्य की चौबीस वर्ष तक नहीं जाती अर्थात् यह यज्ञोपवीत अथवा उपनयन समय की परमावधि हैं। इस काल के बाद, यह तीन, समय में संस्कार न होने से, सावित्री पतित हो जाते हैं। और अपने अपने काल में यज्ञोपवीत न होने से इन द्विजों की संज्ञा 'व्रात्य' होती है और यह शिष्टों से निन्दित होते हैं। इन अशुद्ध व्रात्यों के साथ, जिनका विधिपूर्वक प्रायश्चित इत्यादि नहीं हुआ, आपत्तिकाल में भी ब्राह्मण को, विद्या अथवा विवाह का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। ॥ ३७-४०॥

कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥ ॥४१॥
मौञ्जी त्रिवृत् समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी॥ ॥४२॥

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ ॥४३॥

कृष्णमृग, रुरुमृग और अज इनके चर्म को क्रम से तीनों वर्ण के ब्रह्मचारी धारण करें और सन, क्षौम (अलसी) और ऊन का वस्त्र धारण करें। मूँज की तिलडी और चिकनी मेखला ब्राह्मण की बनाये, क्षत्रिय की मूर्वा नामक बेल के रेशे की धनुष के गुण सी बनाये, और वैश्य की सन के डोरे की बनानी चाहिए। यदि मूँज न मिले तो कुश, अशमन्तक, वल्वज तृणों से तीन वर्णों की मेखला बनाये। यह तीन लार की उपयुक्त मेखला को एक, तीन, अथवा पाँच गांठ लगाकर धारण करना चाहिए। ॥४१-४३॥

कार्पासमुपवीतं स्याद् विप्रस्यौर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥ ॥४४॥
ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥ ॥४५॥
केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः।
ललाटसम्मितो राज्ञः स्यात् तु नासान्तिको विशः॥ ॥४६॥
ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः॥ ॥४७॥

ब्राह्मण का यज्ञोपवीत सूत का, क्षत्रिय का सन का और वैश्य का भेड़ की ऊन का, ऊपर को बटा हुआ (दाहिने हाथ से) तीन हाथ का होना चाहिए । धर्मशास्त्र के अनुसार, ब्राह्मण बेल वा पलाश का दण्ड,

क्षत्रिय वट अथवा कत्था की लकड़ी का दण्ड, वैश्य पीपल अथवा गूलर की लकड़ी के दण्ड को धारण करें। ब्राह्मण का दण्ड ऊँचाई में शिखा तक, क्षत्रिय का मस्तक तक और वैश्य का नाक तक होना चाहिए । यह सब दण्ड सीधे, छेदरहित, देखने में सुन्दर, दूसरे को भय न करनेवाले, छाल सहित और आग में न जले हुए, होने चाहिए। ॥४४-४७॥

प्रतिगृह्योप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि ॥ ॥४८॥
भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ॥४९॥
मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥ ॥५०॥

ब्रह्मचारी दण्ड धारण कर, सूर्य की आराधना और अग्नि की प्रदक्षिणा करके विधिपूर्वक भिक्षा मांगे। ब्राह्मण ब्रह्मचारी भिक्षा मांगते समय, 'भवति भिक्षां देहि' क्षत्रिय 'भिक्षां भवति देहि', वैश्य 'भिक्षां देहि भवति' ऐसा बोले । ब्रह्मचारी को, पहले माता से, माता की बहन से, बहन से और जो ब्रह्मचारी का अपमान न करती हो उससे भिक्षा मांगना चाहिए। ॥ ४८-५०॥

समाहृत्य तु तद् भैक्षं यावदन्नममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ ॥५१॥
आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।

श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥ ॥५२॥
उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात् समाहितः।
भुक्त्वा चौपस्पृशेत् सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥ ॥५३॥
पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥ ॥५४॥
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ॥५५॥

अपने प्रयोजन भर को निष्कपट भाव से भिक्षा लाकर गुरु को तृप्ति भर देकर, पवित्रता से पूर्व दिशा को मुख करके आचमन पूर्वक भोजन करे। आयु के हित के लिए पूर्वमुख, यश के लिए दक्षिण मुख, संपत्ति के लिए पाश्चिम मुख, सत्य के लिए उत्तरमुख होकर भोजन करे। द्विज को नित्य सावधानी से आचमनपूर्वक भोजन ग्रहण करके फिर आचमन और जल के हाथ से आँख, कान, नाक़ का स्पर्श करना चाहिए। अन्न को आदर से ग्रहण करे,उसकी निन्दा न करे। उसको देखकर हर्षित, पुलकित होकर सर्वथा प्रशंसा करे। इस तरह आदर से किया हुआ भोजन शरीर और प्राणों को बल देता है अन्यथा दोनों का नाश करता है। ॥ ५१-५५ ॥

नौच्छिष्टं कस्य चिद् दद्यान्नाद्यादेतत् तथाऽन्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चौच्छिष्टः क्व चिद् व्रजेत् ॥ ॥५६॥
अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत् परिवर्जयेत् ॥ ॥५७॥

उच्छिष्ट-झूठा अन्न किसी को न दे, भोजन के बीच में रुक रुक कर भोजन न करे, अधिक भोजन न करे और झूठे मुंह कहीं न जाय। अतिभोजन से आरोग्य और आयु में बाधा होती है, यह स्वर्ग और धर्म का विरोधी है। लोक में भी अच्छा नहीं माना जाता, इसलिए अतिभोजन नहीं करना चाहिए। ॥ ५६-५७ ॥

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदा चन ॥ ॥५८॥
अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे देवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ॥५९॥
त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात् ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥ ॥६०॥
अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित्।
शौचेप्सुः सर्वदाऽचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥ ॥६१॥
हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ ॥६२॥

ब्राह्मण सदा ब्राह्मतीर्थ से आचमन करे, या प्रजापतितीर्थ और देवतीर्थ से करे परन्तु पितृतीर्थ से कभी आचमन न करे। अँगूठे के मूल को ब्राह्मतीर्थ कहते हैं । अँगुलियों के मूलभाग को प्रजापतितीर्थ अग्रभाग को देवतीर्थ और अँगूठा-तर्जनी के मध्य भाग को पितृतीर्थ कहते हैं। आचमन के समय तीन बार आचमन करके दो बार मुख धोने और आँख, कान, नाक, मुख आदि इन्द्रिय, हृदय और सिर का जल से स्पर्श करे। धर्मज्ञ पुरुष, पवित्र होने की इच्छा से, नित्य, एकान्त में

पूर्व या उत्तरमुख बैठकर, शीतल और फेन (झाग) रहित जल से, ब्राह्म आदि तीर्थों से आचमन करें। यह आचमन जल हृदय तक पहुँच जाने से ब्राह्मण, कण्ठ तक पहुँच से क्षत्रिय, मुख मे पहुँचने से वैश्य और होठ स्पर्श मात्र से शूद्र पवित्र होता है—अर्थात् इसी हिसाब से जल लेकर अपना अपना आचमन करना चाहिए। ॥५२-६२॥

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्यौच्यते द्विजः।
सव्ये प्राचीनावीती निवीती कण्ठसज्जने ॥ ॥६३॥
मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥ ॥६४॥

बायें कंधे पर जनेऊ रखकर, दाहिने हाथ को बाहर निकालने से द्विज 'उपवीती' कहलाता है। दाहिने कंधे पर से बायें तरफ़ लटकाने से 'आवीती' और गले में माला के समान पहन लेने पर 'निवीती' कहा जाता है। यदि मेखला, मृगचर्म, दण्ड, जनेऊ और कमण्डलु पुराने हो जाएँ या टूट जाएँ तो इनको जल में प्रवाहित कर और अपने गृह्यसूत्र के मन्त्रों को पढ़कर, दूसरा धारण करना चाहिए। ॥६३-६४॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके मतः ॥ ॥६५॥
अमन्त्रिका तु कार्यैयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ॥६६॥
वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।

पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ॥६७॥
एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥ ॥६८॥
उपनीयं गुरुः शिष्यं शिक्षयेत्शौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्यौपासनमेव च ॥ ॥६९॥

ब्राह्मण को गर्भ से सोलहवें चर्ष, क्षत्रिय का बीसवें चर्ष, और वैश्य का चौवीसवें वर्ष केशान्त संस्कार किया जाता है। स्त्रियों की शरीर-शुद्धि के लिए, सब संस्कार (उपनयन छोड़कर) समय पर क्रम से होते हैं, पर उः सभी अमन्त्र होते हैं अर्थात स्त्रियों के सभी संस्कारों मे वेदमन्त्रों को पाठ नहीं करना चाहिए। विवाह-संस्कार ही स्त्रियों को उपनयन संस्कार है, पति का गृह ही गुरुकुल वास है, गृहाग्नि को प्रज्वल्लित करना ही हवनकर्म है। यह द्विजों के द्विजत्व को करनेवाले उपनयन-संस्कार को कहा है, अब उन के कर्तव्य कर्मों को सुनो। ॥६५-६९॥

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥ ॥७०॥
ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ॥७१॥

शिष्य के यज्ञोपवीत संस्कार के उपरांत, पहले गुरु (शिष्य को) शुद्धि, आचार, प्रातःकाल और सायंकाल हवन और सन्ध्या सिखाये। पढ़ने वाले शिष्य को, शास्त्रविधि से उत्तरमुख आचमन करके, हल्का वस्त्र

धारण कर जितेन्द्रिय होकर, ब्रह्माञ्जलि पूर्वक पढ़ना चाहिए ॥ ७०-७१ ।।

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ ॥७२॥
अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद् विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥ ॥७३॥
ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यति ॥ ॥७४॥
प्राक्कूलान् पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओं।कारमर्हति ॥ ॥७५॥

वेदाध्ययन के आरम्भ और अन्त में सदा गुरु के चरण छुए और हाथ जोड़कर पढ़े, इसी को 'ब्रह्माञ्जलि' कहते हैं। अलग अलग हाथ से गुरु के पैर छुए, दाहिने से दाहिना और बाएं से बायां। गुरु बिना आलस्य के पहले शिष्य को 'अधीष्व भो' – 'हे शिष्य पढ़ो' कहकर वेद पढ़ाये और अन्त में 'विरामोऽस्तु' कहकर विश्राम करे। वेदाध्ययन के आदि और अन्त में 'ॐ' का उच्चारण सदा करे। यदि आदि में 'ॐ' न कहे तो विद्या में प्रेम नहीं होता और अन्त में न कहे तो पढ़ी विद्या भूल जाती है। पूर्वदिशा को कुशासन का अग्रभाग करके, उस पर वेदाध्यायी वैठकर, तीन प्राणायाम करके, पवित्रता से, स्वाध्याय करने के पूर्व ॐकार का उच्चारण करे। ॥७२-७५॥

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।

वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च ॥ ॥७६॥
त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यर्चोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥ ॥७७॥

प्रजापति ने, अकार, उकार, मकार और भूः, भुवः स्वः, इन तीन व्यहतियों को ऋक्, यजु और सामवेद से दुहकर सार निकाला है और तीनों वेद से, गायत्री ऋचा के एक-एक पाद को दुहा है। ॥७६-७७॥

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ॥७८॥
सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात् त्वचैवाहिर्विमुच्यते ॥ ॥७९॥
एतयाऋचा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया।
ब्रह्मक्षत्रियविद्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ॥८०॥

वेदज्ञ ब्राह्मण, प्रातः और सायंकाल समय, ॐकार, और भूः, भुवः स्वः, इन व्याहृतियों को पूर्व लगाकर गायत्री जपने से, वेद पढ़ने का फल पाता है। जो द्विज, ग्राम वा नगर के बाहर एकान्त में, ओमकार, तीन-व्याहृति और गायत्री इन तीनों का एक हजार जप करता है, वह केंचुल से सांप की भांति, महापापों से छूट जाता है। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य गायत्री न जपता हो और समय पर अपनी अग्निहोत्रादि क्रिया न करता हो तो वह सत्पुरुषों में निन्दा पाता है। ॥७८-८०॥

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ॥८१॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥ ॥८२॥
एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते ॥ ॥८३॥
क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः।
अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ ॥८४॥

ॐकार, तीनों व्याहृति और तीन चरण की गायत्री इनको वेद का मुख जानना चाहिए। जो पुरुष, आलस्य रहित होकर तीन वर्ष तक गायत्री जप करता है, वह अन्त में वायु तुल्य व्यापक होकर, परब्रह्म को पहुँचता है। 'ॐ' यह परब्रह्म का वाचक है, प्राणायाम बड़ा तप है, गायत्री से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है और मौन रहने से सत्य बोलना उत्तम होता है। वेदोक्त होम, यज्ञ, क्रिया सब नाशवान हैं-या उनका स्वर्गादि फलभी नाशवान है। केवल ॐकार परब्रह्म-प्रजापति का रूप ही अविनाशी जानना चाहिए। ॥८१-८४॥

विधियज्ञाज् जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्यात्शतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ ॥८५॥
ये पाकयज्ञाः चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ॥८६॥
जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ॥८७॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तैव वाजिनाम् ॥ ॥८८॥

विधियज्ञ[9] से जप यज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है और जिस जपयज्ञ में पास में बैठा व्यक्ति भी न सुन सके, ऐसा उपांशु जप सौ गुना श्रेष्ठ है और जिस में होठ भी न हिले, ऐसा मानसिक जप हज़ार गुना श्रेष्ठ है। विधियज्ञ और चारों पाकयज्ञ[10], जपयज्ञ के सोलहवें भाग के समान भी नहीं हो सकते । ब्राह्मण, गायत्रीजप से ही मुक्ति पाता है, और यज्ञ आदि करे चाहे न करे। वह गायत्री द्वारा मैत्र[11] अर्थात सर्वप्रिय कहा जाता है, इसमें संशय नहीं है । विवेकी पुरुष को, मन को खींचने वाले विषयों से, इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए, जैसे सारथि घोड़ों को वश में रखता है। ॥ ८५-८८।।

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः।
तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ॥८९॥
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता। ॥९०॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ॥९१॥

---

[9] दर्शपौर्णमास, विश्वेदेव आदि
[10] वैश्वदेव, बलिकर्म, नित्यश्राद्ध और अतिथिपूजन
[11] गायत्री द्वारा सूर्य की उपासना करने को 'मैत्र' कहा जाता है

पूर्वाचार्यों ने ग्यारह इन्द्रियां कही हैं, उनके नाम हैं-कान, आँख, नाक, जीभ, खाल, गुदा, शिश्न, हाथ, पैर और वाणी इन दस इन्द्रियों में पहली पांच 'ज्ञानेन्द्रिय' और बाद वाली 'कर्मेन्द्रिय' कहलाती हैं। ॥८६-९१॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनौभयात्मकम्।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ॥९२॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषं ऋच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं निगच्छति ॥ ॥९३॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥ ॥९४॥
यश्चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ॥९५॥

ग्यारहवां मन है, वह अपने संकल्प-विकल्प रूप गुण से दसों इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त करता है। इसी मन को वश मे करने से सभी इन्द्रियां वश में हो जाती हैं। इन्द्रियों के विषय में फंसने से, अवश्य दोष होता है, पर उनको वश में रखने से सिद्धि प्राप्त हो जाता है। विषय भोग की इच्छा उसके भोगने से कभी शान्त नहीं होती जैसे घृत से अग्नि कभी शान्त नहीं होती अपितु बढती ही है। जो पुरुष 'सब कामनाओं को भोगता है और जो उन सबको छोड़ता है। इन दोनों में से उनको छोड़ना ही बेहतर है। ॥९२-९५॥

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ॥९६॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छति कर्हि चित् ॥ ॥९७॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितैन्द्रियः॥ ॥९८॥

विषयों में फँसी इन्द्रियों को, जैसा ज्ञान से वश में किया जा सकता है, वैसा विषय के त्याग से नहीं किया जा सकता है । जिस का का मन विषयों में लगा होता है, उसको वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, नियम और तप कभी फल नहीं देते। जिसको कोई चीज़ सुनकर; या छूकर या देखकर या खाकर, या सूंघकर हर्ष अथवा शोक नहीं होता, उसको जितेन्द्रिय ज्ञानना चाहिए ॥९६-९८॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ ॥९९॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥ ॥१००॥

जैसे पानी की मशक में छेद हो जाने से उसका पानी बाहर निकल जाता है, वैसे ही यदि इन्द्रियों में से एक भी इन्द्रिय विषयों में संलग्न हो जाती है तो मनुष्य की बुद्धि में विकार आ जाता है । इसलिए इन्द्रियों को और मन को वश में करके, शरीर को क्लेश ना देकर, अच्छी रीति से अपने कार्यों का साधन करना चाहिए। ॥९९-१००॥

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमाऽर्कदर्शनात् ।

पश्चिमां तु समासीत: सम्यग् ऋक्षविभावनात् ॥ ॥१०१॥
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ ॥१०२॥
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नौपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ ॥१०३॥
अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥ ॥१०४॥
वेदौपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥ ॥१०५॥

प्रातःकाल, सन्ध्या और गायत्रीजप का समय सूर्यदर्शन तक रहता है और सायंकाल में नक्षत्रदर्शन तक रहता है । प्रातःसन्ध्या से रात में किया हुआ साधारण दोष और सायंसन्ध्या से दिन में किया हुआ साधारण दोष दूर हो जाता है। जो प्रातः सन्ध्या और सायं संन्ध्या नहीं करता उसको शुद्र की भांति सब द्विजाति के कामों से अलग कर देना चाहिए। जल के पास अथवा वन में, एकाग्र होकर नित्य कर्म, गायत्रीजप और स्वाध्याय को करना चाहिए। वेदों के छ: अंगो को पढ़ने में, नित्य स्वाध्याय में, ब्रह्मयज्ञ और होममन्त्र पढ़ने में, अनध्याय नहीं माना जाता है ॥१०१-१०५॥

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम्। ब्र
ह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट् कृतम्॥ ॥१०६॥
यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ ॥१०७॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम् ।
आ समावर्तनात् कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः ॥ ॥१०८॥
आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥ ॥१०९॥
नापृष्टः कस्य चिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ ॥११०॥
अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति ॥ ॥१११॥

नित्य कर्म में अनध्याय नहीं माना जाता, क्योंकि वह ब्रह्मयज्ञ कहा जाता है । उसमें ब्रह्माहुति का होम, पुण्यफल है और अनाध्याय में वषट्कार-वेदाध्ययन की समाप्ति का शब्द किया जाता है। जो ब्रह्मचारी, एक साल तक नियम से पवित्र होकर स्वाध्याय करता है उसके लिए वह स्वाध्याय, दूध, दही, घी और मधु की प्राप्ति कराता है। ब्रह्मचारी को उपनयन के बाद समावर्तन[12] तक, गुरुकुल में, होम के लिए लकड़ी बटोरे, भिक्षा लाए, भूमि पर सोए और गुरुसेवा करनी चाहिए। आचार्यपुत्र, सेवक, ज्ञान दाता, धर्मपरायण, पवित्र, प्रामाणिक, पढ़ने योग्य, धनदाता, सदा चारी और अपने जाति-सम्बन्धी यह दस धर्मार्थ पढ़ाने योग्य हैं। बिना पूछे किसी से न बोले और जो अन्याय से पूछे उससे भी न बोले, ऐसे मौके पर चतुर जानकर को भी अनजान सा रहना चाहिए, क्योंकि, जो अधर्म से जो

[12] गुरु से सम्पूर्ण विद्या प्राप्त कर घर लौटने तक

पूछता है या जो उत्तर देता है, उन में एक मर जाता है अथवा द्वेषी बन जाता है ॥१०६-१११॥

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा।
तत्र विद्या न वप्तव्या शुभं बीजमिवौषरे ॥ ॥११२॥
विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ॥११३॥

जिसको पढ़ाने से धर्म, धन अथवा सेवा कुछ भी न मिले, उसको विद्या नहीं देनी चाहिए। अच्छा बीज अनुपजाऊ भूमि में बोना ही व्यर्थ है। वेदज्ञाता, विद्या के साथ ही मर जाए वह अच्छा है परन्तु घोर दुःख के समय मे भी कुपात्र में विद्याबीज कभी न बोवे ॥११२-११३॥

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ॥११४॥
यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ॥११५॥
ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ॥११६॥

विद्या ने ब्राह्मण के पास आकर कहा मैं तेरी निधि हूँ, आप मेरी रक्षा करना तथा द्वेष रखने वाले पुरुष को मुझे कभी न देना, ऐसा करने से मैं तुम में अधिक बलवान होकर रहूंगी । जो पवित्र, जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी हो और निधि के समान मेरी रक्षा करनेवाला हो, उसको

मेरा उपदेश करना। जो कोई पढ़ता हो उससे उसके गुरु की आज्ञा बिना यदि दूसरा पढ ले, तो वह विद्याचोर, नरकगामी होता हैं ॥ ११४-११६॥

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽध्यात्मिकमेव वा।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ॥११७॥
सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ ॥११८॥
शय्याऽऽसनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्याऽऽसनस्थश्चैवेनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ॥११९॥
ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रमन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥ ॥१२०॥

जिससे लौकिक विषय, या वैदिक क्रिया था ब्रह्मविद्या को सीखे, उसको पहले प्रणाम करना चाहिए, उसे प्रणाम करने के पश्च्यात किसी ओर को प्रणाम करे। जो केवल गायत्री ज्ञानता हो, जितेन्द्रिय हो वह ब्राह्मण शिष्टों में मान्य होता है। जो तीन वेदों का भी ज्ञाता हो परन्तु भक्ष्याभक्ष्य का विचार न रखता हो, सभी निषिद्ध चीजें बेचता हो, वह अजितेन्द्रिय शिष्टों में माननीय नहीं होता। जिस शय्या और आसन्न पर, अपने से श्रेष्ठ-बड़ा बैठता हो उस पर कभी न बैठे। स्वयं आसन अथवा शय्या पर बैठा हो तब किसी पूज्य का आगमन हो तो उठकर प्रणाम करना चाहिए। गुरु या किसी श्रेष्ठ के आने पर युवा पुरुष के प्राण ऊपर को चढ़ने लगते हैं और फिर उठकर प्रणाम आदि करने पर वह प्राण स्वस्थ होते हैं। अत: अपने से वरिष्ठ और

विद्या आदि मे उत्तम व्यक्तियों के आने पर, अपने आसन से उठकर स्वागत अवश्य करना चाहिए ॥ ११७-१२० ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्धर्मो यशो बलम् ॥ ॥१२१॥
अभिवादात् परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥ ॥१२२॥
नामधेयस्य ये के चिदभिवादं न जानते ।
तान् प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात् स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥ ॥१२३॥
भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥ ॥१२४॥
आयुष्मान् भव सौम्यैति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥ ॥१२५॥

जो पुरुष वरिष्ठों की सेवा और उनको प्रणाम करता है उसकी आयु, विद्या, यश और बल चारों बढ़ते हैं। वृद्ध को प्रणाम करते हुए विप्र,'मैं अमुक नाम हूँ' ऐसा कहे। जो प्रणम्य पुरुष आशीर्वाद देने का नियम न जानता हो, उनको प्रणाम के समय में 'मैं हूं' इतना ही कहे और स्त्रियों को भी प्रणाम करते हुए यही कहना चाहिए। अभिवादन-प्रणाम करने के समय अपने नाम के अन्त में भोः' कहे जैसे - 'देवेशमहिमस्मि भोः। प्रणम्य पुरुष के नाम के स्थान में भी 'भोः' कहना चाहिए, यह सम्बोधन ऋषियों ने कहा है। अर्थात् प्रणम्य का नाम न कहकर 'भोः' कहना चाहिए। विप्र प्रणाम करे तो आशीर्वाद में 'आयुष्मान् भव सौम्य' ऐसा कहे। और उसके नाम के अन्त में

अकार का अगर व्यञ्जनान्त नाम हो तो उसके पहले अक्षर का प्लुत ऊंचा उच्चारण करे ॥ १२१-१२५ ॥

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ ॥१२६॥
ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम्।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ ॥१२७॥

जो ब्राह्मण, प्रणाम-आशीर्वाद की रीति न जानता हो उसको प्रणाम नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह शूद्र के समान है। आपस में मिलने पर ब्राह्मण से 'कुशल' क्षत्रिय से 'अनामय' वैश्य से 'क्षेम' और शूद्र से 'आरोग्य' पूछना चाहिए ॥ १२६-१२७ ॥

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥ ॥१२८॥
परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबन्धा च योनितः।
तां ब्रूयाद् भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ ॥१२९॥
मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरान् ऋत्विजो गुरून्।
असावहमिति ब्रूयात् प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ ॥१३०॥
मातृश्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृश्वसा।
सम्पूज्या गुरुपत्नीवत् समास्ता गुरुभार्यया ॥ ॥१३१॥
भ्रातुर्भार्योपसङ्ग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि।
विप्रोष्य तूपसङ्ग्राह्या ज्ञातिसंबन्धियोषितः ॥ ॥१३२॥

यज्ञादि में दीक्षित ब्राह्मण उम्र में छोटा हो तब भी उसका नाम नहीं लेना चाहिए, उसको 'भोः' 'भवान्' कहकर सम्बोधित करना चाहिए। जो दूसरे की स्त्री हो अथवा जिससे सम्बन्ध न हो उससे 'भवति', सुभगे, 'भगिनी' कहकर बोलना चाहिए। मामा, पिता का भाई, श्वशुर, ऋत्विज्ञ और गुरु यह यदि उमर में छोटे हों, तब भी, मिलने पर उठकर "असौ अहम्" कहकर अपना नाम प्रकट करना चाहिए। मौसी, मामी, सास और बुआ, यह सभी गुरुस्त्री के समान पूज्य हैं इसलिए इनका आदर सदैव गुरुमाता के समान करना चाहिए। ज्येष्ठ भाई की सवर्णा स्त्री से रोज प्रणाम आदि करना चाहिए, और जाति, सम्बन्धी स्त्रियों को पितृकुल या मातृकुल में, विदेश से आने पर प्रणाम करना चाहिए ॥१२८-१३२॥

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि।
तृवद् वृत्तिमातिष्ठेन् माता ताभ्यो गरीयसी ॥ ॥१३३॥
दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥ ॥१३४॥

पिता की बहन, माता की बहन और बड़ी बहन माता के समान आदर योग्य हैं, पर माता इनमें सबसे श्रेष्ठ हैं। एक नगर का निवासी उम्र में दस वर्षे बड़ा होने तक सख्य अर्थात बराबरी का होता है। इसी प्रकार संगीत, नृत्य आदि जाननेवाला उम्र में पाँच वर्ष बड़ा, वेदज्ञ तीन वर्ष बड़ा और सम्बन्धी थोड़े ही दिन बड़ा, समान अवस्था के माने जाते हैं । ॥१३३-१३४॥

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥ ॥१३५॥
वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद् यदुत्तरम् ॥ ॥१३६॥
पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥ ॥१३७॥

दस वर्ष के ब्राह्मण को, सौ वर्ष का भी क्षत्रिय पिता माने और अपने को पुत्र माने । धन, कुटुम्ब, आयु, कर्म और विद्या यह पाँच बड़ाई (मान) के स्थान हैं। इनमें, पहले से दूसरा क्रम से अधिक मान्य होता है। तीनों वर्णों में जो इन पाँच बातों में जो बड़ा हो वहीं जगत् में माननीय है और दसवीं अवस्था में (६० वर्ष में) शुद्र भी माननीय होता है ॥१३५-१३७॥

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ ॥१३८॥
तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥ ॥१३९॥
उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ ॥१४०॥
एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ ॥१४१॥

चक्र युक्त गाड़ी में बैठा, नब्जे वर्ष से अधिक उम्र कर वृद्ध, रोगी, सिर पर बोझा उठाए व्यक्ति, स्त्री, वेदपाठी, ब्रह्मचारी, राजा और विवाह में वर, इनको देखकर मार्ग छोड़ देना चाहिए। यह सब जहां इक्कठे हों वह स्नातक ब्राह्मण,जिसका वेदपाठ हो गया है, और राजा अधिक माननीय होते हैं। इन दोनों में भी राजा स्नातक का मान करे। जो अपने शिष्य का उपनयन करके उसे कल्प[13] और रहस्य[14] के साथ वेद पढ़ाता हैं वह 'आचार्य' कहलाता है। जो ब्राह्मण वेद के एक देश अथवा एक अङ्गों (जैसे ज्योतिष, व्याकरण आदि) को जीविका के लिए पढ़ाता है, वह 'उपाध्याय' कहलाता है॥१३८-१४१॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ ॥१४२॥
अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥ ॥१४३॥
य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत् कदा चन ॥ ॥१४४॥
उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ ॥१४५॥

जो गर्भाधान आदि संस्कार विधि से करता है और अन्न से पोषण करता है, वह 'गुरु' कहलाता है। जो ब्राह्मण आहवनीय अग्नि का

---

[13] यज्ञ विधि
[14] उपनिषद

वरण कर, अग्न्याधेय कर्म, अष्टादर्श, पौर्णमास आदि पाकयज्ञ और अग्निष्टोम आदि यज्ञ करता है वह उसका 'ऋत्विज' कहलाता है। जो वेद का शुद्ध अध्यापन कराता है वह पिता, माता के समान माननीय होता है, उसके साथ कभी द्रोह न करे। 'आचार्य' 'उपाध्याय' से दस गुना; पिता आचार्य से सौ गुना और माता पिता से हज़ार गुना अधिक पूज्य है ॥१४२-१४५॥

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चैह च शाश्वतम् ॥ ॥१४६॥
कामान् माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
संभूतिं तस्य तां विद्याद् यद् योनावभिजायते ॥ ॥१४७॥
आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा ॥ ॥१४८॥
अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्यौपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतौपक्रियया तया ॥ ॥१४९॥

पैदा करनेवाला पिता और वेदाध्यापक गुरु में, गुरु श्रेष्ठ है। क्योंकि वह ब्रह्मजन्म का दाता हैं, उसी से लोक, परलोक में स्थिर सुख मिलता है। माता और पिता कामवश होकर जो बालक पैदा करते है, वह जिस योनि में जाता है, उसी प्रकार उसके हाथ, पैर अंग हो जाते हैं। परन्तु वेदविशारद आचार्य, गायत्री उपदेश से जो बालक की जाति उत्पन्न करता है वह जाति सत्य, अजर और अमर हैं । जो उपाध्याय वेद पढ़ाकर, जिसका थोड़ा या बहुत उपकार करता है, उसको भी गुरु के समान जानना चाहिए ॥१४६-१४९॥

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥ ॥१५०॥
अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति हौवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ ॥१५१॥
ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान् समेत्यौचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ ॥१५२॥

ब्रह्म-वेद पढ़ाने योग्य जन्म देनेवाला और स्वधर्म की शिक्षा देनेवाला ब्राह्मण यदि बालक हो तब भी वह धर्मानुसार बूढ़ों के पिता समान है। अंगिरस मुनि के विद्वान पुत्र ने बाल्य अवस्था में अपने चाचा, मामा आदि पित्रव्यों को वेद पढ़ाया और धर्मबुद्धि से उनको शिष्य जान 'हे पुत्रका:!' अर्थात 'हे लड़कों' ऐसा कह कर पुकारा था । उन्होंने अत्यधिक क्रोध कर के देवताओं से पुत्र का अर्थ पूछा, तब उन्होंने कहा कि बालक ने उचित रीति से तुम्हें पुकारा है। ॥१५०-१५२॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ ॥१५३॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ ॥१५४॥
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ ॥१५५॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ ॥१५६॥

अज्ञानी ही बालक है और मन्त्रदाता ही पिता हैं। इसलिए अज्ञानी मूर्ख को बालक और मन्त्रदाता को पिता कहते हैं। न बहुत उम्र से, न सफ़ेद बालों से, न धन से, न सम्बन्ध -रिश्तेदारी में बड़ाई होने से ब्राह्मण की बड़ाई है, किन्तु जो वेद-विशारद हैं, वही श्रेष्ठ हैं यह ऋषियों ने नियम बनाया है। ब्राह्मण की ज्ञान से, क्षत्रियों की पराक्रम से, वैश्यों की धन-धान्य से और शूद्रों की जन्म-उम्र से बड़ाई होती है। सर के बाल पक जाने से कोई वृद्ध नहीं होता, किन्तु जो युवा पुरुष भी वेद-विशारद है उसको देवताओं ने भी वृद्ध कहा है ॥ १५३-१५६ ॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ ॥१५७॥
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ ॥१५८॥
अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥ ॥१५९॥
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ ॥१६०॥

जैसा काठ का हाथी और चमड़े का मृग, वैसा बिना पढ़ा ब्राह्मण है। यह तीनों नाममात्र को धारण करते हैं पर किसी काम के नहीं हैं। जैसे स्त्रियों के लिए नपुंसक पुरुष निष्फल है, गौ के लिए दूसरी गौ निष्फल है, अज्ञानी को दिया दान निष्फल है, वैसा ही बिना वेद पढ़ा ब्राह्मण निष्फल है क्योंकि ऐसा ब्राह्मण श्रौतस्मार्त कर्मों के अयोग्य

होता है। किसी के चित्त को दुखाकर धर्मशिक्षा नहीं देनी चाहिए। मधुर और कोमल वाणी बोलनी चाहिए। जिसकी वाणी और मन शुद्ध है, दोषों से रहित है, उसको वैदिक कर्मों का पूरा फल मिलता है। ॥१५९-१६०॥

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययाऽस्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ ॥१६१॥
सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ ॥१६२॥
सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ ॥१६३॥

बहुत दुखी होने पर भी किसी को मर्मभेदी वचन नहीं कहने चाहिए। जिसमें किसी दूसरे की हानि होती हो ऐसी बात का विचार भी नहीं करना चाहिए और जिससे लोगों में घबराहट पैदा होती हो, उस अहित करनेवाली बात को भी नहीं कहना चाहिए। सम्मान में, सुख का अनुभव न कर, विष की तरह उससे नित्य डरते रहना चाहिए और अपमान की अमृत की तरह सदा चाह रखनी चाहिए। इस लोक में अपमान से जो दुःख नहीं मानता वह सुख से सोता है, सुख से जागता है, सुख से विचरता है और उसका अपमान करनेवाला नष्ट हो जाता है ॥१६१-१६३॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन् सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ ॥१६४॥

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥ ॥१६५॥
वेदमेव सदाऽभ्यस्येत् तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहौच्यते ॥ ॥१६६॥
आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥ ॥१६७॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ ॥१६८॥

इस क्रम से गर्भाधानादि उपनयन संस्कारों से पवित्र द्विज गुरुकुल में वेद प्राप्ति योग्य तप करे। द्विज को तपों से और नाना प्रकार के व्रत में संपूर्ण वेद और उपनिषदों के ज्ञान का संपादन करना चाहिए। तप करने की इच्छा से वेद का सदा अभ्यास करे। वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का परम तप कहा गया है। जो द्विज पुष्पमाला को भी धारण करके अर्थात् ब्रह्मचर्य का नियम न रखकर भी नित्य यथाशक्ति वेदाध्ययन करता है, वह निश्चय ही नख-शिख से परम तप करता है। जो द्विज वेद को न पढ़कर, अन्य कार्य में श्रम करता हैं, वह जीता हुआ ही वंश के साथ शुद्रता को प्राप्त होता है ॥ १६४-१६८ ॥

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ ॥१६९॥
तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ ॥१७०॥
वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते।

न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चिदा मौञ्जिबन्धनात् ॥ ॥१७१॥

श्रुति की आज्ञा से द्विज को माता से पहला जन्म, उपनयन से दूसरा जन्म, ज्योतिष्ठोम आदि यज्ञदीक्षा लेने पर तीसरा जन्म होता है। इन तीनों में उपनयन वाले ब्रह्मजन्म में सावित्री-गायत्री माता और आचार्य को पिता कहा जाता है। वेद के अध्यापन से आचार्य को पिता कहते हैं। उपनयन के बिना बालक को श्रौत स्मार्त कर्मों का अधिकार नहीं होता ॥१६९-१७१॥

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनाद् ऋते।
शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते ॥ ॥१७२॥
कृतौपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ ॥१७३॥
यद्यस्य विहितं चर्म यत् सूत्रं या च मेखला।
यो दण्डो यत्च वसनं तत् तदस्य व्रतेष्वपि ॥ ॥१७४॥
सेवेतैमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्यैन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥ ॥१७५॥

जिसका यज्ञोपवीत न हुआ हो उसके समीप, श्राद्धकर्म के मन्त्रों के सिवाय दूसरे वेदमन्त्रों का उच्चारण न करें। क्योकि उपनयन से पूर्व वह शूद्र के समान माना जाता है। उपनयन के बाद बालक को व्रत धारण और विधि से वेद का अध्ययन कराए। उपनयन में जिसके लिए जो चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड और वस्त्र धारण करने को कहा है वही व्रत में धारण करना चाहिए। गुरु कुल में ब्रह्मचारी को इन्द्रियों

को संयम करके अपनें तप की वृद्धि के लिए इन नियमों का पालन करना चाहिए ॥ १७२-१७५ ॥

ब्रह्मचारी के धर्म

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ ॥१७६॥
वर्जयेन् मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ ॥१७७॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥ ॥१७८॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ ॥१७९॥

नित्य स्नान से पवित्र होकर द्विज, देवता, कृषि और पितरों का तर्पण, देवपूजन और होम करना चाहिए। मधु, मांस, सुगन्ध का पदार्थ, पुष्प, रस, स्त्री, सड़ी वस्तु जैसे सिरका इत्यादि और प्राणियों की हिंसा इनको छोड़ देना चाहिए। तेल लगाना, आँखों में अंजन, जूता, छतरी, काम, क्रोध, लोभ, नाच, गान, बाजा, जुआ, व्यर्थ बोलना, परनिंदा, झूठ बोलना, स्त्रियों को देखना और छूना, दूसरे का अनहित, यह सब छोड़ देना चाहिए ॥१७६-१७९॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्व चित्।
कामाद् हि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ ॥१८०॥

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ ॥१८१॥
उदकुम्भं सुमनसो गोशकृत्मृत्तिकाकुशान् ।
आहरेद् यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ ॥१८२॥
वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद् भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ ॥१८३॥
गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ ॥१८४॥

हमेशा अकेला सोना चाहिए और वीर्य की रक्षा करनी चाहिए। जो इच्छा से वीर्यपात करता है वह अपने ब्रह्मचर्यव्रत का नाश करता है। अपनी अनिच्छा से यदि वीर्यपात हो जाये तो स्नान, सूर्य पूजन करने ले पश्च्यात 'पुनर्मामेत्विन्द्रियम्' इस ऋचा का तीन बार जप करे। जल का घड़ा, फूल, गोबर, मिट्टी और कुश यह वस्तुएं आवश्यकता अनुसार ले कर आये और प्रतिदिन भिक्षा मांगे। वेद और यज्ञ से जो हीन नहीं है, अपने नित्यकर्म में परायण हैं, उनके घरों से ब्रह्मचारी को भिक्षा लानी चाहिए। अपने गुरुकुल में, जाति में और सम्बन्धियों में भिक्षा नहीं मांगनी चाहिए। यदि किसी अन्य से भिक्षा न मिल सके तो पहले पहले को छोड़ कर दूसरों से भिक्षा मांगनी चाहिए अर्थात नजदीक के रिश्तेदारों को छोड़ कर दूर वालों से भिक्षा मांगनी चाहिए। ॥१८०- १८४॥

सर्वं वापि चरेद् ग्रामं पूर्वौक्तानामसंभवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ ॥१८५॥

दूरादाहृत्य समिधः सन्निदध्याद् विहायसि ।
सायं।प्रातश्च जुहुयात् ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ ॥१८६॥
अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ ॥१८७॥

यदि धर्म-कर्म वाले पुरुषों का गाँव में अभाव हो तो सभी गाँवों में भिक्षा मांगने जाना चाहिए। महापातकी लोगों को छोड़ देना चाहिए और अपनी वाणी का सदा संयम रखना चाहिए। दूर से समिधा-होम की लकड़ी लाकर ऊँचे पर रखनी चाहिए और आलस्य हीन होकर प्रातःकाल और सायंकाल उससे अग्नि में हवन करना चाहिए। ब्रह्मचारी नीरोग होने पर यदि सात रात तक भिक्षा न ला सके और हवन न करे तो उसको 'अवकीर्णिव्रत प्रायश्चित्त' करना चाहिए ॥ १८५-१८७ ॥

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद् व्रती।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ ॥१८८॥
व्रतवद् देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद् व्रतमस्य न लुप्यते ॥ ॥१८९॥
ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत् कर्म विधीयते ॥ ॥१९०॥

ब्रह्मचारी को भिक्षा माँगकर ही नित्य भोजन करना चाहिए और केवल एक ही घर से अन्न लाकर नहीं खाना चाहिए। क्योकि भिक्षासमूह से जो निर्वाह होता है, वह व्रत के समान माना जाता है।

देवयज्ञ में निमन्त्रण हों तो निषिद्ध पदार्थ छोड़कर यदि एक घर के अन्न का भी तृतिपूर्वक भोजन करे तो ब्रहमचर्य व्रत धारक का व्रत भंग नहीं होता। इसी प्रकार श्राद्ध में ऋषियों के अर्पण तुल्य भोजन करने से भी व्रत भंग नहीं होता है। लेकिन विद्वानों में यह कर्म केवल ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए कहा है, क्षत्रिय और वैश्य के लिए ऐसे कर्म का विधान नहीं है ॥१८८-१९०॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ ॥१९१॥
शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद् वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ ॥१९२॥
नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात् साध्वाचारः सुसंवृतः।
आस्यतामिति चौक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥ ॥१९३॥
हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात् सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत् प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ ॥१९४॥
प्रतिश्रावणसंभाषे शयानो न समाचरेत्।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥ ॥१९५॥

गुरु प्रतिदिन कहें अथवा न कहें, पर अध्ययन और आचार्य के हित के लिए सदा यत्न करना चाहिए। शरीर, वाणी, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय और मन का संयम करके हाथ जोड़कर गुरुमुख को देखते हुए रहना चाहिए। ओढ़ने के वस्त्र से दाहिना हाथ सदा बाहर रखे, और गुरुआज्ञा से गुरु के सम्मुख बैठे अर्थात जब गुरु कहें ‘बैठो ’ केवल तभी बैठे। गुरु के सम्मुख सदा सादा भोजन करे और सादे वस्त्र सदा

पहने। गुरु के पहले जागे और पीछे सोये। ब्रह्मचारी सोता, बैठा, खाता, खड़ा और मुंह फेरकर खड़ा हुआ गुरु से वार्तालाप न करे ॥ १९१-१९५ ॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः। प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद् धावंस्तु धावतः ॥ ॥१९६॥
पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्येत्य चान्तिकम् ।प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ ॥१९७॥
नीचं शय्याऽऽसनं चास्य नित्यं स्याद् गुरुसन्निधौ। गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ ॥१९८॥
नौदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्। न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ ॥१९९॥
गुरोर्यत्र परिवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्तते । कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ ॥२००॥
परीवादात् खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः। परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥ ॥२०१॥

गुरु आसन पर बैठे हों तो शिष्य आसन से उठकर, गुरु खड़े हो तो उनके पास जाकर, आते हों तो सन्मुख जाकर और जा रहे हों तो उनके पीछे दौड़कर बात करना चाहिए । गुरु पीछे हो तो सन्मुख होकर, दूर हो तो पास जाकर, लेटें हों तो प्रणाम करके, खड़े हों तो समीप होकर आज्ञा को सुनना चाहिए। गुरु के पास में बिछौना तथा आसन गुरु से नीचा रखना चाहिए और उनके सामने मनमानी तौर से बैठना नहीं चाहिए। गुरु के पीछे भी उनका अकेला नाम लेकर न

बोले और उनकी बोल चाल, चेष्टा इत्यादि की नक़ल न करे। जहाँ गुरुनिन्दा होती हो वहाँ शिष्य को अपने दोनों कानों को बंद कर लेना चाहिए अथवा वहां से दूर चले जाना चाहिए। गुरुनिन्दा सच्ची या झूठी सुनने अथवा करने से, मर कर गधा और कुत्ता होता है। गुरुधन का अनुचित उपभोग करने वाला कृमि और दुष्टता करने वाला कीट होता है ॥१९९ -२०१॥

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥ ॥२०२॥
प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ।
संश्रवे चैव गुरोर्न किं चिदपि कीर्तयेत् ॥ ॥२०३॥

शिष्य को स्वयं दूर रहकर, दूसरे के द्वारा गुरुपूजा नहीं करनी चाहिए। क्रोध मे भी पूजा नहीं करनी चाहिए तथा जब गुरु अपनी स्त्री के संग हों तब भी पूजा नहीं करनी चाहिए। शिष्य यदि आसन अथवा गाड़ी में बैठा हो तो उतर कर गुरु को प्रणाम करे। गुरु के सन्मुख यदि शिष्य की ओर से गुरु की तरफ वायु आता हो (प्रतिवात) अथवा गुरु की ओर से शिष्य की तरफ वायु आता हो (अनुवात) तो शिष्य को गुरु के सन्मुख नहीं बैठना चाहिए, अर्थात इन दोनों अवस्थाओं मे गुरु के सामने न बैठ कर गुरु की आज्ञा से उनके दाएँ अथवा बाएं ओर बैठना चाहिए । यदि गुरु कुछ न सुन सकें तो कुछ कहना भी नहीं चाहिए ॥ २०२-२०३॥

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च।

आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥ ॥२०४॥
गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद् वृत्तिमाचरेत् ।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान् गुरूनभिवादयेत् ॥ ॥२०५॥
विद्यागुरुष्वेवमेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्माद् हितं चोपदिशत्स्वपि ॥ ॥२०६॥
श्रेयःसु गुरुवद् वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ ॥२०७॥
बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।
अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवत्मानमर्हति ॥ ॥२०८॥

बैल, घोड़ा, ऊँट की सवारी में, मकान की छत, चटाई, शिला, पाटा और नाव पर गुरु के साथ बैठने का निषेध नहीं है। गुरु का गुरु समीप आये तो उनका गुरु की समान सम्मान करे। गुरु की आज्ञा बिना अपने माता, पिता आदि को भी प्रणाम न करें। विद्या, गुरु, पिता आदि, अधर्म से बचानेवाला और हितैषी इनसे भी गुरु समान ही व्यवहार करें। विद्या, तप से श्रेष्ठ, अपने से बड़ा सदाचारी, गुरुपुत्र और गुरुसम्बन्धी इनसे भी गुरु के समान व्यवहार करें। गुरुपुत्र, अपने से छोटा, या समान अवस्था का अथवा यज्ञकर्म में शिष्य हों तो भी वेद का अध्यापक होने से गुरु के समान ही माननीय होता हैं। ॥२०४-॥

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनौच्छिष्टभोजने ।
न कुर्याद् गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ ॥२०९॥
गुरुवत् प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।

असवर्णास्तु सम्पूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥ ॥२१०॥
अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥ ॥२११॥

गुरु के समान गुरुपुत्र को उबटन मलना, स्नान कराना, पैर दवाना और उनका जूठा खाना यह सब काम नहीं करना चाहिए। गुरु की स्त्री सजातीय हो तो गुरुसमान पूज्य है, अथवा उसको उठकर प्रणाम करले–यही सेवा है। उबटन मलना, स्नान कराना, शरीर दबाना, फूल से बाल गूंथना, यह काम गुरु स्त्री के नहीं करने चाहिए ॥ २०६-२११ ।

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ ॥२१२॥
स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥ ॥२१३॥
अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ ॥२१४॥
मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ ॥२१५॥
कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।
विधिवद् वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ ॥२१६॥

पूरे बीस साल का जवान और भला बुरा जाननेवाला शिष्य जवान गुरुत्री को पैर छूकर प्रणाम न करे, दूर से भूमि पर ही प्रणाम कर ले

करे। यह स्त्रियों का स्वभाव होता है कि पुरुषों को दोष लगा देती हैं, इसेलिए बुद्धिमान् पुरुष स्त्रियों से सदा सावधान रहते हैं । संसार में पुरुष पण्डित हो या सूर्ख, उसको काम, क्रोध के वश कुमार्ग में ले जाने को स्त्रियां बड़ी समर्थ होती हैं। माता, बहन अथवा पुत्री के साथ भी एकान्त में न बैठे, क्योंकि इन्द्रियां ऐसी प्रबल हैं कि विद्वान् के मन को भी खींच लेती हैं। यदि इच्छा हो तो युवा शिष्य युवती गुरुपत्नी को 'मैं अमुक हूँ' कहकर दूर से भूमि पर प्रणाम करना चाहिए ॥२१२-२१६ ॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ॥२१७॥
यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ ॥२१८॥
मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथ वा स्यात्शिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत् सूर्यो नाभ्युदियात् क्व चित् ॥ ॥२१९॥

विदेश से आने पर पैर छूकर और प्रतिदिन दूर से, गुरुस्त्री को प्रणाम करना चाहिए । यही शिष्यों को आचार है। जैसे पुरुष, कुदाल-फावड़े से भूमि को खोदता हुआ जल प्राप्त करता है, उसी प्रकार सेवा से गुरुविद्या को पाता है। ब्रह्मचारी, मुण्डित या शिखावाला, या जटाधारी हो उसका गाँव के भीतर सूर्योदय और सूर्यास्त नहीं होना चाहिए। अर्थात् दोनों काल में गाँव के बाहर सन्ध्या-गायत्री की उपासना में रहना चाहिए ॥२१७-२१६॥

तं चेदभ्युदियात् सूर्यः शयानं कामचारतः ।
निम्लोचेद् वाऽप्यविज्ञानाज् जपन्नुपवसेद् दिनम् ॥ ॥२२०॥
सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान् महतेनसा ॥ ॥२२१॥
आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ ॥२२२॥
यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किं चित् समाचरेत् ।
तत् सर्वमाचरेद् युक्तो यत्र चास्य रमेन् मनः ॥ ॥२२३॥

यदि ब्रह्मचारी, इच्छा से सोता रहे और सूर्योदय हो जाय या नगर में ही सूर्यास्त हो जाय, तो एक दिन उपवास और गायत्री जप करे। यदि सोते हुए को सूर्योदय और सूर्यास्त हो जाय और उसका प्रायश्चित्त न करे तो उसको महापातक लगता हैं। आचमन करके प्रतिदिन दोनों सन्ध्या में एकाग्रसन होकर पवित्र स्थान में यथाविधि गायत्री जप करना चाहिए। यदि किसी धर्म का स्त्री अथवा शुद्र आचरण करता हो और उसमें मन लगे तो उसका भी पालन करें। अथवा जिस धर्म में अपना चित्त प्रसन्न हो वहीं करे ॥२२०-२२३॥

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।
अर्थ एवैह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ ॥२२४॥
आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ ॥२२५॥
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ ॥२२६॥

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ ॥२२७॥

कोई अर्थ और धर्म को, कोई काम को , कोई अर्थ को, कोई धर्म को ही श्रेष्ठ मानते हैं। पर धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का आचरण करने से भला होता है-यह धर्मशास्त्र की आज्ञा है। आचार्य ब्रह्मा की मूर्ति, पिता प्रजापति की मूर्ति, माता पृथिवी की मूर्ति और बड़ा भाई अपनी ही मूर्ति है। इनसे दुःखी होने पर भी इनका अपमान न करे और ब्राह्मण को तो इनका अपमान कभी करना ही नहीं चाहिए । मनुष्य की उत्पत्ति और पालन आदि में, माता, पिता जो दुःख सहते हैं उसका बदला सैकड़ों वर्ष सेवा से भी नहीं हो सकता ॥ २२४-२२७ ॥

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ ॥२२८॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
न तैरनभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ ॥२२९॥
त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवौक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ ॥२३०॥
पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साऽग्निस्त्रेता गरीयसी ॥ ॥२३१॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीन् लोकान् विजयेद् गृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते ॥ ॥२३२॥
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।

गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ ॥२३३॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ ॥२३४॥
यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात् प्रियहिते रतः ॥ ॥२३५॥

इसलिए सदा माता, पिता और आचार्य का प्रिय कार्य करे। इन तीनों के सन्तुष्ट होने से सब तप पूरे हो जाते हैं। इन तीनों की सेवा को परम तप कहा जाता है। इनकी आज्ञा लेकर दूसरे धर्मों का आचरण करना चाहिए। यह ही तीनों लोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग हैं। तीनों आश्रम, तीनों वेद और तीनों अग्नि हैं। पिता गार्हपत्यअग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु अहवनीयाग्नि का स्वरूप है, यह तीनों अग्नि संसार में बड़े हैं। इन तीनों की भक्ति सेवा से तीनों लोक गृहस्थ जीतता है और स्वर्ग में देवताओं की भांति सुख पाता है। मातृभक्ति से यह लोक, पितृभक्ति से मध्यलोक और गुरुभक्ति से ब्रह्मलोक को पाता है। जिसने इन तीनों का आदर किया उसने सब धर्मों का पालन किया और जिसने अनादर किया उसके सब धर्म-कर्म निष्फल हैं। जब तक पिता, माता और गुरु जीवित रहें तब तक इनकी सेवा में विशेष रूप से लगे रहना चाहिए ॥२२८-२३५॥

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद् यदाचरेत् ।
तत् तन्निवेदयेत् तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ ॥२३६॥
त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ ॥२३७॥

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ ॥२३८॥
विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥ ॥२३९॥
स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ ॥२४०॥

इसके अतिरिक्त, परलोक प्रप्ति के लिए जो भी कर्म करे वह मन, वचन और कर्म से इनको ही निवेदन कर दे। इन तीनों की सेवा से, पुरुष के कर्तव्य पूरे हो जाते हैं। यह मुख्य धर्म है और गौणधर्म भी माना जाता है। श्रद्धामय पुरुष उत्तम विद्या को हीनजाति से भी सीखे और चण्डाल से भी लोकमर्यादा सीखें और हीनकुल मे भी यदि स्त्री रत्न सुशील स्त्री को तो उसे विवाह के लिए स्वीकार कर ले। विष से अमृत और बालक से भी हित वचन ग्रहण कर लेने चाहिए। शत्रु से भी सदाचार और अपवित्र में से भी सुवर्ण मिले तो उसे निकाल लेना चाहिए। स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, शौच, अच्छे वचन अरि भांति भांति के शिल्प आदि सब से सीख ले ॥ २३६-२४०॥

अब्राह्मणादध्यायनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्यायनं गुरोः ॥ ॥२४१॥
नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे वाऽननूचाने काङ्क्षन् गतिमनुत्तमाम् ॥ ॥२४२॥
यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।
युक्तः परिचरेदेनमा शरीरविमोक्षणात् ॥ ॥२४३॥

आपत्तिकाल में क्षत्रिय, वैश्य से भी अध्ययन का विधान है, परन्तु ऐसे गुरु की सेवा अध्ययनकाल तक ही करनी चाहिए। जो गुरु ब्राह्मण न हो या साङ्गवेद का ज्ञाता न हो तो मोक्षार्थी ब्रह्मचारी जीवनभर गुरुकुलवास न करें। यदि नैष्ठिक-ब्रह्मचारी जीवन भर गुरुकुलवास चाहें तो देहान्त तक सावधानी से गुरुसेवा में लगा रहे ॥२४१-२४३॥

आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥ ॥२४४॥
न पूर्वं गुरवे किं चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्व्र्थमाहरेत् ॥ ॥२४५॥
क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रौपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥ ॥२४६॥

जो ब्राह्मण देहान्त तक गुरु की सेवा-सुश्रुसा करता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है। धर्मज्ञ ब्रह्मचारी को अध्ययन के पहले दक्षिणा आदि से गुरु का कुछ भी उपकार नहीं करना चाहिए। किन्तु समावर्तन के पश्च्यात, गुरु की आज्ञा से यथा शक्ति गुरुदक्षिणा देनी चाहिए। खेत, सोना, गौ, घोड़ा, छतरी, जूता, आसन, अन्न, शाक और वस्त्र अर्पण करके गुरु को प्रसन्न करे ॥२३३-२४६॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद् वृत्तिमाचरेत् ॥ ॥२४७॥
एतेष्वविद्यमानेषु स्थानासनविहारवान् ।

प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद् देहमात्मनः ॥ ॥२४८॥
एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चैह जायते पुनः ॥ ॥२४९॥

गुरु की मृत्यु उपरांतर, विद्वान् गुरुपुत्र, गुरुस्त्री और गुरु के सहोदर भाई आदि हों तो उनको गुरु के समान मानना चाहिये । और यह विद्यमान न हों तो, गुरुस्थान में अग्नि की सेवा करे और उपासना से निज देह को ब्रह्म प्राप्ति के योग्य करे। इस प्रकार जो ब्राह्मण, अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह परमात्मा में लीन होकर, पुनः इस लोक में जन्म नहीं लेता ॥२४७-२४६॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां स्मृतौ द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥२॥

॥महर्षि भृगु द्वारा प्रवचित मानव धर्म शास्त्र स्मृति का दूसरा अध्याय समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥ मनुस्मृति ॥

॥अथ तृतीयोऽध्यायः तीसरा अध्याय ॥

षट् त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ ॥१॥
वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ ॥२॥
तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा ॥ ॥३॥
गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ ॥४॥
असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ॥५॥
महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसंबन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ॥६॥
हीनक्रियं निश्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षयामयाव्य्ऽपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च॥ ॥७॥

गुरुकुल में तीनों वेद छत्तीस वर्ष या, अठारह वर्ष या, नव वर्ष तक ब्रह्मचारी पढ़े या, जितने काल में हो सके, उतने काल तक ही पढ़े

और ब्रह्मचर्य का पालन करे । क्रम से तीन, दो, या एक ही वेद पढ़कर, ब्रह्मचर्य की की अवस्था समाप्त होने के पश्च्यात, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। उस वेदज्ञ ब्रह्मचारी को आसन पर बैठाकर, पिता वा आचार्य पुष्पमाला पहनाकर मधुपर्क विधि से पूजन करे। फिर गुरु की आज्ञा से, स्नान, समावर्तन करने के बाद, अपने वर्ण की शुभ लक्षणवाली कन्या से विवाह करे। जो माता की सपिण्ड[15] में न हो और पिता के गोत्र में न हो, ऐसी कन्या द्विजों के लिये विवाह योग्य होती है। यदि गौ, बकरी, भेड़, धन और धान्य से अत्यंत धनी भी हो तो भी विवाहसम्बन्ध जातकर्म संस्कार-रहित, पुरुष रहित, वेदपाठरहित, शरीर में चक्षुत बाल चाला, बवासीररोगी, क्षयरोगी, मन्दाग्नि, मृगी, श्वेतकुष्ठ, और गलितकुष्ठ इन दस कुलों में विवाह नहीं करना चाहिये ॥१-७॥

विवाह-नियम

नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥ ॥८॥
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ॥९॥
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ॥ ॥१०॥
यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।

---

[15] सात पीढ़ी

नौपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाऽधर्मशङ्कया ॥ ॥११॥

कपिल रंग वाली, अधिक अंगों वाली, रोगी, बिना बालवाली, अधिक बालवाली, ज्यादा बोलनेवाली और पीली आँखों वाली कन्या से विवाह न करें। नक्षत्र, वृक्ष, नदी, म्लेच्छ, पर्वत, पक्षी, साँप और शूद्र नामवाली और भयदायक नामवाली के साथ विवाह न करे। सुन्दर अङ्गवाली, सुन्दर नामवाली, हंस और हाथी के समान चलने वाली, पतले रोम, बाल और दांतवाली, कोमल शरीरवाली कन्या के साथ विवाह करना चाहिये। जिसका भाई न हो, जिसके पिता का पता मालुम न हो, ऐसी कन्या के साथ 'पुत्रिकाधर्म'[16] से डरकर विवाह नहीं करना चाहिये ॥८-११॥

सवर्णाऽग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः ॥ ॥१२॥
शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ ॥१३॥
न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्यौपदिश्यते ॥ ॥१४॥
हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥ ॥१५॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को अपने वर्ण की कन्या से विवाह श्रेष्ठ है। परन्तु कामवश होकर जो विवाह होता है वह अधम विवाह है। शुद्र

---

[16] जिसका प्रथम पुत्र नाना को गोद धर्म से देना पड़े उसको पुत्रिका कहते हैं।

पुरुष शूद्र कन्या के साथ, वैश्य-वैश्य और शुद्र कन्या के साथ, क्षत्रिय-क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या के साथ, ब्राह्मण- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या के साथ विवाह कर सकता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय को आपत्तिकाल में भी शूद्र कन्या से विवाह नहीं करना चाहिये । जो द्विजाति मोह वश हीनजाति की कन्या से विवाह करता हैं वह अपने कुल और परिवार को ही शूद्र करता है। ॥१२-१५॥

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥ ॥१६॥
शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ ॥१७॥
दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु ।
नाश्नन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥ ॥१८॥

शूद्र कन्या के साथ विवाह करनेवाला द्विज पतित हो जाता है। यह अत्रि और उतथ्य के पुत्र गौतमऋषि का मत है। शौनक ऋषि के मत से क्षत्रिय, शूद्रकन्या में सन्तान पैदा करने से पतित होता हैऔर भृगुऋषि के मत से, शूद्रकन्या से विवाह करनेवाले वैश्य के पौत्र हो जाने पर वह पतित होता है। ब्राह्मण, शूद्र स्त्री के संयोग से पतित होता हैं और उससे सन्तान पैदा करने से ब्राह्मणत्व से हीन होजाता है। शुद्रा स्त्री की प्रधानता में देव, पितर श्राद्ध में अन्न को ग्रहण नहीं करते है और वह पुरुष स्वर्गगामी नहीं होता ॥ १६-१८

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च ।

तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ॥१९॥
चतुर्णामपि वर्णानं प्रेत्य चैह हिताहितान् ।
अष्टाविमान् समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ ॥२०॥
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ॥२१॥
यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ।
तद् वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ॥ ॥२२॥

शुद्रा का अधर चुम्बन से और उसकी सांस लगने से, उस पुरुष की और उसकी संतान की पापशुद्धि का कोई उपाय नहीं है। चारों वर्णों का लोक और परलोक में हित अहित करनेवाला, आठ प्रकार का विवाह होता है-ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच । जिस वर्ण का जो विवाह धर्मानुकूल है और जो गुण-दोष जिसमें है और उनसे पैदा सन्तान में जो हैं, उनको कहता हूं । ॥१६-२२॥

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ।
विश्।शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद् धर्म्यानराक्षसान् ॥ ॥२३॥
चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः।
राक्षसं क्षित्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ ॥२४॥
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदा चन ॥ ॥२५॥
पृथक् पृथग् वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥ ॥२६॥

ब्राह्मण को क्रम से पहले के छः विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व) धर्म हैं और क्षत्रिय वैश्य और शूद्र को चार (आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व) धर्म हैं पर राक्षस विवाह किसी के लिए अच्छा नहीं हैं। ब्राह्मण के लिए पहले चार विवाह श्रेष्ठ हैं। क्षत्रिय के लिए एक राक्षस, वैश्य और शुद्र के लिए एक आसुर विवाह श्रेष्ठ माना गया है। पांच विवाहों में तीन धर्म सम्बन्धी और दो अधर्म सम्बन्धी हैं। पैशाच और असुर कभी करने योग्य नही हैं इसलिए इन दोनों को नहीं करना चाहिए। पहले कहे विवाह अलग अलग या मिले हुए गान्धर्व और राक्षस क्षत्रियों के धर्म सम्बन्धी हैं ॥२३-२६॥

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ ॥२७॥
यज्ञे तु वितते सम्यग् ऋत्विजे कर्म कुर्वते।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ ॥२८॥
एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ ॥२९॥

वेदज्ञ और सुशील वर को बुलाकर उसका पूजन सत्कार करके कन्यादान को 'ब्राह्म विवाह' कहते हैं। बड़े यज्ञ में ऋत्विक ब्राह्मण को वस्त्र-आभूषण से सुशोभित कन्या का दान 'दैव विवाह' कहा जाता है। एक एक या दो दो गौं, बैल यज्ञ के लिए, घर से लेकर, शास्त्रानुसार जो कन्यादान होता है उसको 'आर्ष विवाह' कहते हैं ॥२७-२९॥

सहौभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ॥३०॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ॥३१॥
इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥ ॥३२॥
हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ॥३३॥
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ॥३४॥

'तुम दोनों साथ धर्माचरण करो' ऐसा कहकर वर कन्या का पूजन करके जो कन्यादान होता है उसको 'प्राजापत्य विवाह' कहते हैं। वर के माता पिता आदि और कन्या को यथाशक्ति धन देकर जो इच्छापूर्वक कन्यादान है उसको 'आसुर विवाह' कहते हैं। कन्या और वर की इच्छा से जो संयोग होता है उसको 'गन्धर्व विवाह' कहते हैं, यह कामवश भोगमात्र के लिए हैं, धर्मार्थ नहीं है। मारकर, दुःख देकर, रोती हुई कन्या को ज़बरदस्ती उठा कर ले जाना 'राक्षस विवाह' कहलाता है। सोती, नशे में और बेसुध कन्या के साथ एकान्त में संभोग करना 'पैशाच विवाह' होता है। यह महाअधम और पापपूर्ण विवाह है ॥ ३०-३४॥

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।

इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ॥३५॥
यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः।
सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतो मम ॥ ॥३६॥

वर के हाथ में जल देकर कन्यादान ब्राह्मणों के लिए उत्तम पक्ष है। दूसरे वर्णों में इच्छानुसार बिना जल, वचनमात्र से ही विवाह हो जाता है। भृगु ने ब्राह्मणों से कहा-इन सब विवाह में जिसका जो गुण मनु ने कहा है वह आप लोग सुनिए ॥३५-३६॥

दश पूर्वान् परान् वंश्यानात्मानं चैकविंशकम् ।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयत्येनसः पितृन् ॥ ॥३७॥
दैवौढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान् ।
आर्षौढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन् षट् षट् कायौढजः सुतः ॥ ॥३८॥
ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ॥ ॥३९॥

ब्राह्म विवाह से पैदा हुआ पुत्र सुकर्म करे तो अपने पिता- पितामह आदि दस पूर्वपुरुषों को और पुत्र-पौत्र आदि दस आगे के वंशजों सहित इक्कीसवें अपनी आत्मा को अपयश रुपी पाप से मुक्त करता है । दैव विवाह का पुत्र सात पीढ़ी पहली और सात आगे की, आर्ष विवाह का पुत्र तीन पीढ़ी पहली और तीन आगे की, और प्राजापत्य विवाह का पुत्र छः पीढ़ी पहली और छः आगे की और अपने को अपयश रुपी पाप से मुक्त करता है। क्रम से ब्राह्म आदि चार विवाहों

से जो सन्तान होती है वह तेजस्वी और शिष्ट पुरुषों में मान्य होती है ॥३७-३९॥

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ ॥४०॥
इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसाऽनृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ॥४१॥
अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान् विवर्जयेत् ॥ ॥४२॥
पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते ।
असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि ॥ ॥४३॥

ब्राह्म आदि विवाहों से पैदा हुए पुत्र, रूपवान, सत्वगुणी, धनवान्, यशस्वी, पुष्कल भोग वाले, धार्मिक होते हैं और सौ वर्ष जीते हैं। अन्य दूषित विवाहों से पैदा हुए पुत्र, कुकर्मी, झूठे और धर्मनिन्दक होते हैं। अच्छे विवाहों से अच्छी और बुरे से बुरी सन्तान पैदा होती हैं। इसलिए, निन्दित विवाहों को नहीं करना चाहिए । विवाह-संस्कार अपने वर्ण-जाति की कन्या के साथ करना उत्तम है और दूसरे वर्ण की कन्या के साथ विवाह विधि इस प्रकार जाननी चाहिए ४०-४३ ॥

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया । वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ ॥४४॥
ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा । पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ ॥४५॥

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्बिगर्हितैः ॥ ॥४६॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या । त्र
योदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दशरात्रयः ॥ ॥४७॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥ ॥४८॥

ब्राह्मण के साथ क्षत्रिय कन्या का विवाह हो तो वर का हाथ न पकड़ कर बाण की नोक पकड़े। वैश्य की कन्या पशु हांकने का दण्डा और शूद्र कन्या पहने वस्त्र का किनारा पकड़ ले। ऋतुकाल में अपनी स्त्री से संभोग करे और अमावास्या आदि पांच दिनों को छोड़ दे। स्त्रियों की स्वाभाविक ऋतुरात्रि, सोलह हैं। उनमें शुरू के चार दिन निन्दित हैं। उन सोलह रात्रियों में शुरू की चार रात्रि, ग्यारहवीं और तेरहवीं निषिद्ध हैं बाकी दस रात्रि उत्तम हैं। युग्म तिथि छठी, आठवीं दसवीं आदि रात्रि से पुत्र, और अयुग्म पांचवीं, सातवीं, नवीं रात्रि से कन्या उत्पन्न होती हैं । इसलिए पुत्र की इच्छा करने वाले को युग्म रात्रि में भोग करना चाहिए। ॥ ४४-४८॥

पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान् पुं।स्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ॥४९॥
निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ ॥५०॥

पुरुष का वीर्य अधिक होने पर पुत्र और स्त्री का वीर्य अधिक होने पर कन्या होती है। और दोनों के समान होने पर नपुंसक सन्तान अथवा जोड़ा पैदा होता है। वीर्य क्षीण होने से सन्तान नहीं होती। पहले की दूषित आठ रात्रियों को छोड़कर, बाकी रात्रि में, जिस आश्रम का पुरुष स्त्रीभोग करता हैं, वह किसी भी आश्रम में रहता हुआ, ब्रह्मचारी के समान ही माना जाता है ॥४६-५०॥

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयात् शुल्कमण्वपि ।
गृह्णंशुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥ ॥५१॥
स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥ ॥५२॥
आर्षे गोमिथुनं शुल्कं के चिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पोऽप्येवं महान् वाऽपि विक्रयस्तावदेव सः ॥ ५३॥
यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।
अर्हणं तत् कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥ ॥५४॥

विद्वान् पिता, कन्यादान में, कुछ भी उसके बदले में मूल्य न ले, यदि लोभ से कुछ ले लेता है तो वह सन्तान बेचने वाला है। स्त्री धन, वाहन, वस्त्र आदि जो पिता, भाई आदि अपने भोग में लाते हैं वे नरक में पड़ते हैं । आर्ष -विवाह में जो एक एक या दो-दो, गौ-बैल वर से लिया जाता है कोई आचार्य कहते हैं- वह मूल्य है, पर यह मिथ्या है। क्योंकि विक्रय का मूल्य कभी अधिक कभी कम होता है पर वह नियत है, इसलिये मूल्य नहीं है। जिस कन्या का वर का दिया हुआ धन उसके पिता भाई आदि न लें और वह धन कन्या को ही दे दिया

जाये, वह भी विक्रय नहीं है। क्योंकि वह कन्या का पूजन-सत्कार मात्र है ॥ ५१-५४ ॥

स्त्रियों का आदर

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ॥५५॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ॥५६॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत् कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद् हि सर्वदा ॥ ॥५७॥

पिता, भाई, पति और देवर को स्त्रियों का सत्कार और आभूषण आदि से उनको भूषित करना चाहिए। इससे बड़ा शुभ फल होता है । जिस कुल में स्त्रियों का सत्कार, पूजन किया जाता है उस कुल पर देवता प्रसन्न रहते हैं। जहां सत्कार, पूजन नहीं किया जाता वहां सभी धर्म, कर्म निष्फल होते हैं। जिस कुल में स्त्रियां शोक में रहती हैं, वह कुल शीघ्र ही बिगड़ जाता है और जहां प्रसन्न रहती हैं, वह सदा बढ़ता ही जाता है। ॥५५-५७ ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ॥५८॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ॥५९॥
संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ॥६०॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ॥६१॥

जिस कुल में स्त्रियों का सत्कार नहीं है वह, उनके शाप से नष्ट होजाता है जैसे विष आदि के मारण से हो जाता है। इस कारण सत्कार के अवसर, विवाह आदि और उत्सवों पर सदा गहना, वस्त्र और भोजन से स्त्रियों को सन्तुष्ट करना चाहिए। जिस कुल में स्त्री अपने पति से और पति स्त्री से सन्तुष्ट रहते हैं, उस कुल में अवश्य कल्याण होता है। यदि स्त्री शोभित न हो तो पति को प्रसन्न नहीं कर सकती और बिना प्रसन्नता के सन्तान उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥ ५८-६१॥

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद् रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ॥६२॥
कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ ॥६३॥
शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ।
गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ॥६४॥

स्त्री भूषित हों तो सारे कुल की शोभा है, नहीं तो परिवार की शोभा नहीं होती। दूषित विवाहों से, कर्म के लोप से, वेद के न पढ़ने से और ब्राह्मणों का अपमान करने से उत्तम कुल भी अधम हो जाता है ।

शिल्प[17] करने से, लेन देन करने से, शूद्रा स्त्री से उत्पन्न सन्तान, गौ, घोड़ा, सवारी आदि के खरीद-बिक्री करने से, खेती और राजा की नीच चाकरी करने से उत्तम कुल भी बिगड़ जाता है ॥ ६२-६४ ॥

पञ्चयज्ञ, हवन आदि

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् ।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥ ॥६५॥
मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसङ्ख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः॥ ॥६६॥
वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ ॥६७॥
पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चौदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ॥६८॥

अनाधिकारी को यज्ञ कराने से, श्रौत-स्मार्त कर्मों में अश्रद्धा से और वेद न पढ़ने से, उत्तम कुल भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। जो कुल निर्धन भी वेदाध्ययन रूप सम्पत्ति वाले हैं, वे बड़े कुलों में गिने जाते हैं और यशभागी होते हैं। जिस अग्नि की साक्षी में विवाह किया जाता है उसको वैवाहिक कहते हैं। उसमें सायं प्रातः होम, वैश्वदेव, शान्ति-पौष्टिक कर्म, नित्य पाक आदि वैदिक कर्म गृहस्थ को करना चाहिए। गृहस्थों के यहां हिंसा के पाँच स्थान होते हैं चूल्हा, चक्की, झाड़ू,

[17] भांति भांति की कारीगरी

ओखली, और जल का घड़ा इनको काम में लाने से पाप लगता है ॥ ६५-६८ ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ॥६९॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ॥७०॥
पञ्चैतान् यो महाऽयज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ॥७१॥

इन दोषों को मिटाने के लिए महर्षियों ने गृहस्थ के लिए पांच महायज्ञ नित्य करने को कहा है । उनके नाम हैं-ब्रह्मयज्ञ- पढ़ना -पढ़ाना, पितृयज्ञ-पितरों का तर्पण, देवयज्ञ-होम, भूतयज्ञ-प्राणियों को बलि देना, मनुष्ययज्ञ-अतिथि सत्कार करना । इन पाँच महायज्ञ को जो गृहस्थ, शक्ति भर न छोड़े वह हिंसा दोष का भागी नहीं होता ॥ ६९-७१ ॥

देवताऽतिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ॥७२॥
अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान् प्रचक्षते ? ॥ ॥७३॥
जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ॥७४॥
स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दैवे चैवेह कर्मणि ।

दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥ ॥७५॥

जो पुरुष, देवता, अतिथि, सेवक, माता-पिता आदि, और आत्मा इन पाँचों को अन्न नहीं देता वह जीता भी मरा सा है। कोई ऋषि पाँच महायज्ञ को अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्महुत और प्राशित नाम से भी कहते हैं। अहुत-जप, हुत-होम, प्रहुत-भूत बलि, ब्राह्महुत-ब्राह्मण की पूजा, प्राशित-नित्य श्राद्ध को कहते हैं। द्विज, वेदाध्ययन और अग्निहोत्र में सदा लगा रहे। जो देवकर्म में लगा रहता है, वह इस जगत का पौषण करता है ॥७२-७५॥

अग्नौ प्रास्ताऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज् जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ॥७६॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ॥७७॥
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज् ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ॥७८॥

क्योंकि अग्नि में आहुति देने से सूर्य को मिलती है. सूर्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न और अन्न से प्रजा का पालन होता है। जैसे सभी प्राणी प्राणवायु के सहारे जीते हैं वैसे ही सब आश्रम गृहस्थ के सहारे रहते हैं। तीनों आश्रमों को विद्या और अन्न दान, गृहस्थ ही धारण करता है इसलिए सब आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही बड़ा है। ॥७६-७८॥

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता । सु

खं चेहेच्छताऽत्यन्तं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ॥७९॥
ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥ ॥८०॥
स्वाध्यायेनार्चयेतऋषीन् होमैर्देवान् यथाविधि ।
पितृंश्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ ॥८१॥
कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ॥८२॥
एकमप्याशयेद् विप्रं पित्र्यर्थे पाञ्चयज्ञिके ।
न चैवात्राशयेत् किं चिद् वैश्वदेवं प्रति द्विजम् ॥ ॥८३॥

इस लोक में और परलोक में सुख चाहनेवालों को गृहस्थाश्रम का धारण सावधानी से करना चाहिए। क्योंकि ऋषि, पितर, देवता, प्राणी, और अतिथि सभी गृहस्थों से आशा रखते हैं। वेदाध्ययन से ऋषियों का, होम से देवताओं का, श्राद्ध से पितरों का, अन्न से मनुष्यों का, और बलि से भूत-जीव का सत्कार करें। गृहस्थ को, पितरों की प्रसन्नता के लिए जल, तिल, आदि अन्नों से या दूध, कंद, फलों से नित्य श्राद्ध करना चाहिए। पञ्च महायज्ञ में, पितृयज्ञ के लिए एक ब्राह्मण को भी भोजन देना उचित है, लेकिन वैश्वदेव में किसी अन्य को भोजन देना उचित नहीं है। ॥७९-८३॥

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्याद् देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ॥८४॥
अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ॥८५॥

विश्वेदेव के निमित्त गृहाग्नि में द्विजों को नित्य होम करना चाहिए, वह आहुति पहले अग्नि और सोम को फिर दोनों को एक बार में और उसके पश्च्यात विश्वेदेव को, उसके बाद धन्वन्तरि को देनी चाहिए । ॥८४-८५॥

कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ।
सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ ॥८६॥
एवं सम्यग् हविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत्॥ ॥८७॥
मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि ।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥ ॥८८॥
उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद् भद्रकाल्यै च पादतः। ब्र
ह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥ ॥८९॥

इसके पश्च्यात कुह्वै[18], अनुमत्येया[19], प्रजापति, द्यावा-पृथिवी को आहुति दे कर, अन्त में स्विष्टकृत को 'स्वाहा' उच्चारण के साथ आहुति देनी चाहिये । इस प्रकार, अच्छी विधि से होम करके सब दिशाओं में प्रदक्षिणा करने के पश्च्यात इन्द्र, यम, वरुण, चन्द्र और इनके अनुचरों के लिए बलि दे। 'मरुद्भ्य' ऐसा कह कर घर के द्वार पर मरुत को बलि देनी चाहिए, 'अद्भ्य' ऐसा कह कर जल,

---

[18] अमावास्या
[19] अनुमति-पूर्णिमा

'वनस्पतिभ्य' ऐसा कह कर मूसल-ओखली को बलि देनी चाहिए। वास्तु पुरुष के सिर पर अर्थात् घर के ईशान कोण में 'श्री' के लिए 'श्रियै नमः' ऐसा कह कर बलि देनी चाहिए। वास्तु के चरण में अर्थात भूमि में भद्रकाली के लिए 'भद्रकाल्यै नमः' ऐसा कह कर बलि देनी चाहिए। मध्य में अर्थात घर के बीच में ब्राह्मण और वातोष्पति के लिए 'ब्रह्म वास्तोष्यतीभ्यां नमः' ऐसा कह कर बलि देनी चाहिए। ॥ ८६-८९ ॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत् ।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तञ्चारिभ्य एव च ॥ ॥९०॥
पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ॥९१॥
शूनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वयसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥ ॥९२॥

विश्वेदेव के निमित्त आकाश में बलि देनी चाहिए। दिन देवता और रात्रि देवता को बलि देनी चाहिए । घर के सब से ऊंचे भाग में 'सर्वात्मभूतये नमः' कहकर बलि देनी चाहिए और बलिशेष को ' पितृभ्यो नमः' कहकर दिशा दिशा में पितरों को बलि देना चाहिए। कुत्ता, पतित, चाण्डाल, कोड़ी, पापी, रोगी, कौवा, कीड़ों को धीरे से भूमि पर बलि देनी चाहिए ॥ ९०-९२॥

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिः पथार्जुना ॥ ॥९३॥

कृत्वैतद् बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद् विधिवद् ब्रह्मचारिणे ॥ ॥९४॥
यत् पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद् गुरोः।
तत् पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही ॥ ॥९५॥
भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ।
वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ॥९६॥
नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् ।
भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद् दत्तानि दातृभिः ॥ ॥९७॥
विद्यातपस्समृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ।
निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥ ॥९८॥

इस प्रकार जो गृहस्थ ब्राह्मण बलि देकर प्राणियों का सत्कार करता है, वह तेजस्वी परमधाम को प्राप्त होता है। बलिकर्म के बाद अतिथि सत्कार करे और फिर संन्यासी और ब्रह्मचारी को भिक्षा का दान करे। गुरु को गोदान करने से जो पुण्य फल शिष्य को मिलता है, वही संन्यासी और ब्रह्मचारी को भिक्षा देने से गृहस्थ को मिलता है। वेद विशारद ब्राह्मण का आदर करके भिक्षा वा एक जलपात्र देना चाहिए। जो भस्मीभूत अर्थात वेदपाठ से रहित, मूर्ख ब्राह्मण को अज्ञान से जो दान दिया जाता है वह समस्त हव्य-कव्य निष्फल हो जाता है। विद्या और तप से युक्त ब्राह्मणों के मुख रूप अग्नि में जो हव्य-कव्य अर्पित करता है, वह महा दुःख और पापों से उबारता है। ॥९३-९८॥

अतिथि सत्कार

सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनौदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९॥

गृहस्थ को आये हुए अतिथि का आसन, जल और अन्न से यथा शक्ति सत्कार करना चाहिए ॥९९ ॥

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः ।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥ ॥१००॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदा चन ॥ ॥१०१॥
एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते ॥ ॥१०२॥
नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा।
उपस्थितं गृहे विद्याद् भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥ ॥१०३॥

जो उच्छवृत्ति[20] भी यदि अतिथि का सत्कार न करे तो अतिथि उसके सभी पुण्यों को हर लेता है। अन्न न हो तब भी तृणासन, भूमि, जल और सुवचन ये सत्पुरुषों के यहां सदा रहते हैं। जो ब्राह्मण एक रात्रि गृहस्थ के यहां निवास करता है उसको अतिथि कहते हैं। वह नित्य

[20] जो खेतों में अन्न बीनकर निर्वाह करता हो और पंचाग्नि –आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिण और आव्सध्य में हवन करता हो।

नहीं रहता इसिलिये अतिथि कहा जाता है। एक गांव में रहनेवाला, हंसी, मज़ाक करके साथ रहनेवाला, स्त्री और अग्निहोत्री ब्राह्मण को अतिथि नहीं मानना चाहिए ॥ १००-१०३ ॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनः ॥ ॥१०४॥
अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्यौढो गृहमेधिना ।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन् गृहे वसेत् ॥ ॥१०५॥
न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् ॥ ॥१०६॥

जो मूर्ख दूसरे के यहां खाने के लोभ से अतिथि बनता है, वह मरकर अन्न देनेवाले का पशु होता है । यदि गृहस्थ के घर सूर्यास्त के बाद भी अतिथि आ जाए, समय में अथवा असमय में, तो भी उसको भी भूखा न रखे। जो पदार्थ अतिथि को अर्पित न किया गया हो अर्थात अथिति को न खिलाया हो तो वह पदार्थ स्वयं भी नहीं खाना चाहिए। अतिथि का सत्कार यश, आयु और स्वर्ग देनेवाला है ॥ १०४-१०६॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद् हीने हीनं समे समम् ॥ ॥१०७॥
वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत् ।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥ ॥१०८॥
न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ।
भोजनार्थं हि ते शंसन् वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ ॥१०९॥

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते ।
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ ॥११०॥
यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत् ।
भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥ ॥१११॥

आसन, स्थान, शय्या, सेवा और उपासना, इन सबका उत्तम अतिथि से उत्तम, मध्यम को मध्यस और साधारण से साधारण बर्ताव करना चाहिए । वैश्वदेव के बाद यदि कोई अतिथि आ जाये तो उसको भी भोजन बनाकर खिलाये, परन्तु उस भोजन में से बलि न दे। विप्र को भोजनार्थ अपना कुल व गोत्र नहीं बतलाना चाहिए । यदि बतलाये तो वह, वान्ताशी 'उगला हुआ खानेवाला' कहा जाता है[21] । ब्राह्मण के घर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अपना मित्र, जातीय पुरुष और गुरु ये सभी अतिथि नहीं माने जाते है। अगर क्षत्रिय अतिथि, बनकर आये तो ब्राह्मणभोजन के बाद उसको भी प्रसन्नता से भोजन करा दे ॥ १०७-१११ ॥

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ ।
भोजयेत् सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२॥
इतरानपि सख्यादीन् सम्प्रीत्या गृहमागतान् । प्र
कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत् सह भार्यया ॥ ११३॥
सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेदविचारयन् ॥ ११४॥

[21] क्योंकि कह केवल भोजन के लिए अपने पितरों पर आश्रित होता है।

गृहस्थ ब्राह्मण के घर वैश्य, शूद्र भी अतिथि रूप से आ जाये तो उनको भी ब्राह्मण भोज के बाद भोजन करा दे और भी मित्र-सम्बन्धी अदि प्रेम से अपने घर आएं तो उनकी स्त्री के साथ उनको भी अच्छा भोजन देना चाहिए। नवविवाहिता, कन्या, रोगी और गर्भवती इनको अंतिथि से पहले ही बिना विचार भोजन करा देना चाहिए ॥ १३३-११४॥

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥ ११५॥
भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥ ११६॥
देवान् ऋषीन् मनुष्यांश्च पितृन् गृह्याश्च देवताः।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग् भवेत् ॥ ११७॥
अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत् सतामन्नं विधीयते ॥ ११८॥

इस प्रकार सबको भोजन दिये बिना जो पहले अपने आप ही खा लेता है, मृत्यु उपरांत उसके मांस को कुत्ते और गीध खाते हैं। ब्राह्मण, अतिथि, सम्बन्धी आदि को खिलाकर पीछे बचा अन्न स्वयं तथा स्त्री को खाना चाहिए। देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर और घर के पूज्य देवताओं का पूजन करके शेष अन्न गृहस्थ को खाना चाहिए। जो अपने ही लिए भोजन तैयार करता है वह केवल पाप को ही खाता है, क्योंकि उत्तम पुरुष को पञ्च महायज्ञ से बचे अन्न का ही भोजन फलदायक होता है। ॥११५-११८॥

राजर्त्विग्स्नातकगुरून् प्रियश्वशुरमातुलान् ।
अर्हयेन् मधुपर्केण परिसंवत्सरात् पुनः ॥ ११९॥
राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ ।
मधुपर्केण सम्पूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥ १२०॥
सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायं प्रातर्विधीयते ॥ १२१॥

राजा, ऋत्विक, स्नातक, गुरु, मित्र, जामाता, प्रिय पुरुष और श्वसुर, मामा, एक साल के बीतने पर घर आएं तो मधुपर्क से पूजन करना चाहिए। राजा और वेदज्ञ ब्राह्मण साल के भीतर भी यदि यज्ञ के मौके पर आ जायें तो मधुपर्क से पूजन करना चाहिए। अगर यज्ञ के लिए न आकर, सामान्य रूप में आये तो पूजन न करें। स्त्री को शाम को पकाये अन्न में से बिना मन्त्र पढ़े ही बलि देना चाहिए। इस बलि को वैश्वदेव कहते हैं। यह सायंकाल और प्रातःकाल करना चाहिए । ॥११९-१२१॥

श्राद्ध प्रकरण

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चन्द्रक्षयेऽग्निमान् ।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान् मासानुमासिकम् ॥ ॥ १२२॥
पितृणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः।
तच्चामिषेणा कर्तव्यं प्रशस्तेन प्रयत्नतः॥ ॥ १२३॥
तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः।
यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान् प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ॥ १२४॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।
भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ ॥ १२५॥
सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः । प
ञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥ ॥ १२६॥

अग्निहोत्री द्विज अमावास्या को पितृयज्ञ पूरा करके प्रतिमास 'पिण्डान्वाहार्यक्ष श्राद्ध' को करे। पितरों का हर मास में जो श्राद्ध होता है उसको 'अन्वाहार्यक श्राद्ध' कहते हैं। वह उत्तम भोज्य पदार्थों[22] से करना चाहिए उसमें जो ब्राह्मण ग्राह्य हैं और जो त्याज्य हैं, जितने भोजन कराने चाहिए और जो अन्न चाहिए उसका विस्तार इस प्रकार हैं -

देवकर्म में दो ब्राह्मण और पितृकर्म में तीन ब्राह्मण या दोनो में एक एक ही भोजन कराना चाहिए । अच्छा समृद्ध यजमान भी अधिक ब्राह्मणों को आमंत्रित न करे क्योंकि अधिक विस्तार से सत्कार, देश,

[22] कुछ विद्वानों ने 'तच्चामिषेणा' शब्द का अर्थ उत्तम मांस (अमिष = मांस) भी कहा है परन्तु हम इस मत से सहमत नहीं हैं क्योंकि मांस देव, ऋषि, पितरों का भोजन न होकर यक्ष, पिशाच, राक्षसों का भोजन हैं। मनुस्मृति के ही अध्याय ११ श्लोक ९६ में स्वयं मनु महाराज ही कह रहे हैं - *" यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् । तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥ मद्य यक्षों का, मांस राक्षसों का और सुरा-आसव पिशाचों का भोजन है। देव-हवि खानवाले द्विजों को इसका सेवन कभी नहीं करना चाहिए"* तब श्राद्ध में मांस से पित्रर्पण और उसके पश्च्यात उसे ब्राह्मणों को खिलाने की बात उचित प्रतीत नहीं होती । अतः 'तच्चामिषेणा' शब्द का अर्थ उत्तम भोज्य पदार्थ करना ही उचित है।

काल, पवित्रता और श्रेष्ठ ब्राह्मण इन पाँचों को नष्ट करता है। अतः अधिक विस्तार कभी नहीं करना चाहिए॥१२२-१२६॥

प्रथिता प्रेतकृत्यैषा पित्र्यं नाम विधुक्षये ।
तस्मिन् युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥ ॥ १२७॥
श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः।
अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥ ॥ १२८॥
एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत्।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बहूनपि ॥ ॥ १२९॥

यह जो पितृकर्म है, वह प्रेतकर्म भी विख्यात है। अमावस्या के दिन इसको करने वाला पुरुष नित्य लौकिक फल को पाता है। वेदपाठी, सदाचारी, ब्राह्मण को ही देव और पितृकर्म का अन्न आदि देना चाहिए, ऐसा दान महाफल प्रदान करता है। देवकर्म और पितृकर्म में एक एक भी विद्वान् ब्राह्मण को भोजन देने से बड़ा फल मिलता है परन्तु बहुत से मूर्खों को भी भोजन देने से वह फल नहीं मिलता ॥१२७-१२६॥

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् ।
तीर्थं तद् हव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ ॥ १३०॥
सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते ।
एकस्तान् मन्त्रवित् प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ ॥ १३१॥
ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च ।

न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुध्यतः ॥ ॥ १३२॥
यावतो ग्रसते ग्रासान् हव्यकव्येष्वमन्त्रवित् ।
तावतो ग्रसते प्रेतो दीप्तशूलर्ष्ट्ययोगुडान् ॥ ॥ १३३॥

वंशपरम्परा से ही वेदज्ञ ब्राह्मण को जानना चाहिए क्योंकि वह ब्राह्मण हव्य, कव्य देने का पात्र है। उस समर्थ ब्राह्मण को दान देने से दानकर्ता अतिथि के समान फल प्राप्त करता है। जिस श्राद्ध में वेद न जाननेवाले दस लाख ब्राहाण भोजन करते हों, उसका फल एक ही वेदविशारद ब्राह्मण को भोजन कराने से होता है। हव्य और कव्य ज्ञानवृद्ध ब्राह्मण को देना चाहिए, मूर्ख को नहीं है क्योंकि रक्त से सने हुए हाथ रक्त से ही शुद्ध नहीं होते। वेदहीन ब्राह्मण, देव और पितृकर्म में जितने हव्य -कव्य के ग्रास खाता हैं, उतने ही जलते हुए शूल, वृष्टि और लोहे के गोले यजमान को निगलने पड़ते हैं। ॥ ३३०-१३३॥

ज्ञाननिष्ठा द्विजाः के चित् तपोनिष्ठास्तथाऽपरे ।
तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथाऽपरे ॥ ॥ १३४॥
ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः ।
हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥ ॥ १३५॥
अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद् वेदपारगः ।
अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात् पिता स्याद् वेदपारगः ॥ ॥ १३६॥
ज्यायांसमनयोर्विद्याद् यस्य स्याछ्रोत्रियः पिता ।
मन्त्रसम्पूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ ॥ १३७॥

कोई ब्राह्मण आत्मज्ञानी, कोई तप में तत्पर, कोई तप और स्वाध्याय में तत्पर और कोई कर्मनिष्ठ होते हैं। इनमें से ज्ञानी को श्राद्ध में ग्रहण करे, और देवकर्म में इन चारों को ग्रहण करना चाहिए। जिसका पिता वेदज्ञ न हो परन्तु पुत्र वेदपारंगत हो अथवा पुत्र वेदवेत्ता न हो परन्तु पिता वेदपारंगत हों, इन दोनों में जिसका पिता वेदपारंगत हो वह श्रेष्ठ है और देव पूजन के लिए दूसरा भी मान्य होता है ॥१३४-९३७॥

न श्राद्धे भोजयेन् मित्रं धनैः कार्योऽस्य सङ्ग्रहः ।
नारिं न मित्रं यं विद्यात् तं श्राद्धे भोजयेद् द्विजम्॥ ॥ १३८॥
यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ।
तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च ॥ ॥ १३९॥
यः सङ्गतानि कुरुते मोहात्श्राद्धेन मानवः ।
स स्वर्गाच्च्यवते लोकात्श्राद्धमित्रो द्विजाधमः ॥ ॥ १४०॥

श्राद्ध में मित्र को भोजन नहीं कराना चाहिए, मित्र ब्राह्मणों का सत्कार केवल धन से करना चाहिए । जो अपना न तो शत्रु हो न ही मित्र हो उसी ब्राह्मण को भोजन देना चाहिए। जो श्राद्ध और यज्ञ कर्म में केवल मित्रों को ही भोजन देता है, उसको न तो श्राधों का फल परलोक में नहीं मिलता है और न ही यज्ञों का। जो अज्ञानी पुरुष श्राद्ध के द्वारा मैत्री करता है उसको स्वर्ग प्राप्त नहीं होता ॥ ३६-३० ॥

संभोजानि साऽभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः ।
इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥ ॥ १४१॥
यथैरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम् ।

तथाऽनृचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम् ॥ ॥ १४२॥
दातृन् प्रतिग्रहीतृंश्च कुरुते फलभागिनः ।
विदुषे दक्षिणां दत्त्वा विधिवत् प्रेत्य चैह च ॥ ॥ १४३॥

जो श्राद्धकर्म में केवल अपने मित्रों को खिलाता है, वह 'पैशाची दक्षिणा' कहलाती है । जैसे अंधी गौ एक ही घर में रहती है, उसी तरह यह दक्षिणा केवल इस लोक में ही रहती है, परलोक में उपकार नहीं करती । जिस प्रकार बंजर भूमि में बीज बोकर, बोनेवाला फल नहीं पाता, वैसे ही-मूर्ख वेदहीन ब्राह्मण को हवि देने से फल नहीं पाता। विद्वान् ब्राह्मण को विधि से भोजन कराकर दक्षिणा देने और लेने वाले दोनों लोक में फलभागी होते हैं ॥ १४१-१४३ ॥

कामं श्राद्धेऽर्चयेन् मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम् ।
षता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥ ॥ १४४॥
यत्नेन भोजयेत्श्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् ।
शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम् ॥ ॥ १४५॥
एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः ।
पितृणां तस्य तृप्तिः स्यात्शाश्वती साप्तपौरुषी ॥ ॥ १४६॥
एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ।
अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ ॥ १४७॥
मातामहं मातुलं च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम् ।
दौहित्रं विट्पतिं बन्धुं ऋत्विग् याज्यौ च भोजयेत् ॥ ॥ १४८॥
न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।
पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ ॥ १४९॥

ये स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकवृत्तयः ।
तान् हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान् मनुरब्रवीत् ॥ ॥१५०॥

यदि योग्य, ब्राह्मण न मिले तो श्राद्ध में मित्र को भी भोजन करवादे परन्तु पर शत्रु विद्वान् को भी भोजन न करावाये क्योंकि द्वेष भाव से किया गया भोजन निष्फल होता है । वेद पारंगत ऋग्वेदी ब्राह्मण को, यजुर्वेदी शाखा वाले ब्राह्मण को, समाप्ति तक सामवेद जाननेवाले को, श्राद्ध में अच्छी प्रकार से भोजन करवाना चाहिए। इन में से कोई भी ब्राह्मण जिसके श्राद्ध में आदर से भोजन पाता है, उसकी सात पीढ़ी तक के पितर तृप्त होते हैं। यह हव्य और कव्य की प्रथम विधि हैं और सत्पुरुषों से आचरित गौण विधि इस प्रकार है-यदि ऊपर कहे ब्राह्मण न मिले तो नाना, मामा, भानजा, ससुर, गुरु, जामाता, मौसेरा भाई, ऋत्विज और यज्ञ करानेवालों को भोजन देना चाहिए। देवकर्म में ब्राह्मण की परीक्षा न करे और पितृकर्म में यत्न से परीक्षा करनी चाहिए। जो चोर, पतित वा नपुंसक हो, नास्तिकभाव से जीविका करता हो उन ब्राह्मणों को मनुजी ने देवकर्म और पितृकर्म में अयोग्य कहा है।॥ १४४-१५० ॥

जटिलं चानधीयानं दुर्बालं कितवं तथा ।
याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत् ॥ ॥१५१॥
चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा ।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥ ॥१५२॥
प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः । प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव
त्यक्ताग्निर्वार्धुषिस्तथा ॥ ॥१५३॥

यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः ।
ब्रह्मद्विष्परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च ॥ ॥१५४॥
कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च ।
पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चौपपतिर्गृहे ॥ ॥१५५॥
भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा ।
शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ॥ ॥१५६॥
अकारणे परित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा ।
ब्राह्मैर्यौनैश्च संबन्धैः संयोगं पतितैर्गतः ॥ ॥१५७॥

विद्याहीन जटाधारी, दुर्बल, जुआरी, बहुत यजमानों को एक साथ बैठाकर यज्ञ करानेवाला, द्रव्य लेकर पूजा करानेवाला, इन को श्राद्ध का भोजन नहीं देना चाहिए। वैद्य, पुजारी, मांस बेचनेवाला और वाणिज्य से जीविका करनेवाला इनको भी हव्यकव्य में न भोजन नहीं देना चाहिए। ग्राम और राजा का हरकारा, खराब नखवाला, काले दाँतवाला, गुरु विरोधी, अग्निहोत्र त्यागी, ब्याजखोर, क्षयरोगी, चरवाहा, परिवेत्ता[23], पञ्चमहायज्ञ न करनेवाला, ब्राह्मणद्वैषी, परिवित्ति[24], धर्मार्थ इकट्ठा किये धन से जीवन यापन करने वाला, नाच, गान अथवा कथावृत्ति से जीविका कमानेवाला, ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट, शुद्रा से विवाहित, पुनर्विवाह का लड़का, एक आँख वाला-काना, जिस के घर स्त्री का उपपति–जार रहता हो, वेतन लेकर पढ़ानेवाला, वेतन देकर पढ़ा हुआ। शूद्र का गुरु, कटुभाषी, कुण्ड-पति के जीते

[23] बड़े भाई के विवाह बिना पूर्व ही विवाहित
[24] छोटे भाई के विवाह होने पर अविवाहित बड़ा भाई

जार से पैदा, गोलक-पति के मरने पर जार से पैदा, बिना कारण माता, पिता और गुरु को त्यागने वाला, पतितों को पढ़ानेवाला, पढ़नेवाला और पतितों से कन्या सम्बन्ध करनेवाला इन सब को श्राद्ध में कभी भोजन नहीं कराना चाहिए ॥ १५१-१५७ ॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
समुद्रयायी बन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥ ॥१५८॥
पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा ।
पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी ॥ ॥१५९॥
धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्रेदिधिषूपतिः ।
मित्रध्रुग् द्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ ॥१६०॥
भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा ।
उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ॥ ॥१६१॥

घर में आग लगानेवाला, जहर देने वाला, जार से पैदा हुए का अन्न खानेवाला, सोमलता बेचनेवाला, समुद्र पार जानेवाला, राजा की स्तुति करनेवाला, तेल का व्यापारी, झूठी गवाही देने वाला, पिता से लड़नेवाला, धूर्त, शराबखोर, कोढ़ी आदि पाप रोगी, निन्दित, पाखण्डी, दूध, दही बेचने वाला, धनुष और बाण बनानेवाला, अग्रेदिधिपू[25] का पति, मित्रद्रोही, जुए से जीविका चलने वाला, अपने पुत्र से विद्या पढ़ने वाला, मृगीरोग, गण्डमालारोगी, श्वेतकुष्ठ,

---

[25] बड़ी अविवाहिता बहन के रहते विवाहित छोटी बहन

चुगलखोर, पागल, अन्धा, वेदनिन्दक इतने प्रकार के ब्राह्मण श्राद्ध में वर्जित हैं ॥ १५८-१६१ ॥

हस्तिगोऽश्वौष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ।
पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ ॥१६२॥
स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः ।
गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ ॥१६३॥
श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च ।
हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥ ॥१६४॥

हाथी, बैल, घोड़ा और ऊँट का सिखानेवाला, नक्षत्र से जीविका चलानेवाला जोशी, पक्षी पालनेवाला, युद्धशिक्षा देने वाला, नहर आदि तोड़नेवाला, नहर को बंद करनेवाला, घर बनानेवाला, दूत, मज़दूरी लेकर वृक्ष लगानेवाला, खेत के लिए कुत्ता पालनेवाला, बाज पक्षी से जीविका करनेवाला, कन्या को दूषित करनेवाला, हिंसक, शूद्र आचरण करनेवाला, और भूत, पिशाच पूजने वाला ये सब कर्म करनेवाले ब्राह्मण को श्राद्ध में भोजन नहीं करवाना चाहिए ॥१६२-१६४॥

आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं याचनकस्तथा ।
कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दित एव च ॥ ॥१६५॥
औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा ।
प्रेतनिर्यापकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ ॥१६६॥
एतान् विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान् ।

द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ ॥१६७॥

आचाररहित, नपुंसक, रोज़ भीख मांगनेवाला, खेती से जीने वाला, पीले पांव वाला रोगी, सत्पुरुषों से निन्दित, भेडा और भैंस से जीनेवाला, जो दूसरे की हो चुकी हो उसके साथ विवाह करनेवाला और प्रेत का धन लेनेवाला इनको श्राद्ध में वर्जित समझना चाहिए। इन सब दूषित आचारवाले और पंक्ति बाह्य अधम ब्राह्मणों को देव और पितृकार्यं में विद्वान् पुरुष को त्याग देना चाहिए ॥१६५-१६७॥

ब्राह्मणो त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।
तस्मै हव्यं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ ॥१६८॥
अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भवत्यूर्ध्वं फलौदयः ।
दैवे हविषि पित्र्ये वा तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ॥१६९॥
अव्रतैर्यद् द्विजैर्भुक्तं परिवेत्र्यादिभिस्तथा ।
अपाङ्क्तेयैर्यदन्यैश्च तद् वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ ॥१७०॥
दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते ।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ ॥१७१॥

वेद न पढ़नेवाला ब्राह्मण, फूस के आग की तरह निर्जीव हो जाता है। ऐसे ब्राह्मण को हव्य और कव्य न देना चाहिए क्योंकि राख में होम नहीं किया जाता। पंक्तिबाह्य ब्राह्मण को हव्य, कव्य देने से, जो दाता को फल होता है, वह सब मैं कहता हूँ। वेदव्रतरहित ब्राह्मण और परिवेत्ता आदि और पंक्तिबाह्य ब्राह्मणों को जो देव अथवा पितृकार्य में भोजन कराया जाता है वह राक्षसभोजन है। जो छोटा भाई, बड़े

भाई के रहते, उसके पहले विवाह और अग्निहोत्र करता है उसको परिवेत्ता कहते हैं और बड़े भाई को परिवित्ति कहते हैं ॥१६८-१७१॥

परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते ।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥ ॥१७२॥
भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः ।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥ ॥१७३॥
परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान् मृते भर्तरि गोलकः ॥ ॥१७४॥
तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चैह च ।
दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयन्ति प्रदायिनाम् ॥ ॥१७५॥

परिवित्ति, परिवेत्ता और वह जिस कन्या से विवाह करते हैं वह पांचवां कन्या देनेवाला और याजक - विवाह कराने वाला आचार्य सभी नरक को जाते हैं। भाई की मृत्यु होने पर उसकी स्त्री से कामवश जो नियोग करता है उसको 'दिधिषूपति' कहते हैं। दूसरे की स्त्री से उत्पन्न दो पुत्र की कुण्ड और गोलक संज्ञा है। पति के जीते, जार से पैदा हुआ कुण्ड और मरने के बाद पैदा हुआ गोलोक कहलाता है। वह दोनों परस्त्री से पैदा होकर, लोक और परलोक में हव्य, कव्य देनेवाले का नाश करते हैं ॥१७२-१७५॥

अपाङ्क्त्यो यावतः पङ्क्त्यान् भुञ्जानाननुपश्यति ।
तावतां न फलं तत्र दाता प्राप्नोति बालिशः ॥ ॥१७६॥
वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्य तु ।

पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥ ॥१७७॥
यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणान् शूद्रयाजकः ।
तावतां न भवेद् दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥ ॥१७८॥

पंक्तिबाह्य पुरुष श्राद्ध में जितने योग्य ब्राह्मणों को भोजन करते देखता है उनका फल परलोक में उस मूर्ख भोजन देनेवाले को नहीं मिलता। अन्धा देखकर दाता के नब्बे श्रोत्रिय ब्राह्मणों के भोजन का फल नष्ट करता हैं, काना साठ ब्राह्मणों का, सफ़ेद कोढ़ वाला सौ ब्राह्मणो का, पाप रोगी एक हजार श्रोत्रिय ब्राह्मणों के भोजन का फल नष्ट कर देता हैं। शूद्रों को यज्ञ करानेवाला जितने ब्राह्मणों को अपने अंगों से छूता हैं अर्थात् श्राद्ध में जितने ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठता है, उतनों के पूर्त सम्वन्धी श्राद्ध का फल दाता को नहीं मिलता है ॥१७६-१७८॥

वेदविद्चापि विप्रोऽस्य लोभात् कृत्वा प्रतिग्रहम् ।
विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥ ॥१७९॥
सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् ।
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ ॥ ॥१८०॥
यत् तु वाणिजके दत्तं नैह नामुत्र तद् भवेत् ।
भस्मनीव हुतं द्रव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥ ॥१८१॥
इतरेषु त्वपाङ्क्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु ।
मेदोऽसृङ्मांसमज्जाऽस्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ ॥१८२॥

वेदज्ञ भी जो शुद्र याजक का दान लोभ से ले लेता है, वह पानी में कच्चे बरतन की भांति शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। सोमलता बेचने वाले को जो हव्य, कव्य देता है वह विष्ठा होती है। वैद्य को देने से पीब-रक्त, और पुजारी को देने से नष्ट हो जाता है। ब्याजखोर को दान देने से निष्फल हो जाता है। श्राद्ध में जो दान वाणिज्य करने वाले को दिया जाता है वह दोनों लोक में निष्फल होता है। पुनर्विवाह के लड़के को दान देने से राख में घी डालने की भांति व्यर्थ होता है और जो दूषित मनुष्य हैं उनको देने से दाता के जन्मान्तर में भोजन के लिए मेद, रुधिर, मांस, मज्जा और हड्डी हो जाता है ॥१७९-१८२॥

अपाङ्क्त्योपहता पङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः ।
तान्निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान् पङ्क्तिपावनान् ॥ ॥१८३॥
अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च ।
श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः ॥ ॥१८४॥
त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ।
ब्रह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठसामग एव च ॥ ॥१८५॥

दूषित पंक्ति जिन श्रेष्ठ ब्राह्मणों से पवित्र होती है वह इस प्रकार के होने चाहिए-जो चारों वेदों और उनके अंगों को जाननेवाले,श्रोत्रिय और परम्परा से वेदाध्यायी हैं उन्ही को पंक्ति पावन जाने। त्रिणाचिकेतनामक यजुर्वेद मे वर्णित व्रत को करने वाला ब्राह्मण, पञ्चाग्निहोत्री, त्रिसुवर्ण नामक ऋग्वेद के व्रत को धारण करनेवाला, कल्प, व्याकरण, शिक्षा अदि. छः अङ्गों का ज्ञाता, ब्राह्मविवाह से पैदा

हुआ पुत्र और साम गान करनेवाला इन छः को पंक्तिपावन जानना चाहिए ॥ १८३-१८५ ॥

वेदार्थवित् प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः ।
शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः ॥ ॥१८६॥
पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते ।
निमन्त्रयेत त्र्यऽवरान् सम्यग् विप्रान् यथौदितान् ॥ ॥१८७॥
निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत् सदा ।
न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद् भवेत् ॥ ॥१८८॥
निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान् ।
वायुवत्चानुगच्छन्ति तथाऽसीनानुपासते ॥ ॥१८९॥

वेदार्थ का ज्ञाता, उसका अध्यापक, ब्रह्मचारी, सहस्त्र गौवों का दान करनेवाला और सौ वर्ष का ब्राह्मण यह पंक्तिपावन होते हैं। श्राद्ध के पहले दिन तथा उसी दिन उक्त गुणवाले ब्राह्मणों को आदर से तीन या कम को निमन्त्रण दे। श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण उस दिन नियम से रहे और वेदाध्ययन न करे। और यही नियम श्राद्ध करानेवाले को भी पालन करना चाहिए । पितर उन निमन्त्रित ब्राह्मणों के पास आते हैं और वायु के समान उनके पीछे चलते और उनके साथ बैठते भी हैं ॥ १८६-१८९ ॥

केतितस्तु यथान्यायं हव्ये कव्ये द्विजोत्तमः ।
कथं चिदप्यतिक्रामन् पापः सूकरतां व्रजेत् ॥ ॥१९०॥
आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते ।

दातुर्यद् दुष्कृतं किं चित् तत् सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ॥१९१॥
अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ।
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥ ॥१९२॥

हव्य और कव्य में यथाशास्त्र निमंत्रण पाकर और उसको स्वीकार कर, किसी कारण भोजन न करने से ब्राह्मण को दूसरे जन्म में शूकर होना पड़ता है। निमन्त्रण पाकर कामुक स्त्री से जो भोग करता है, वह दाता के पाप का भागी होता है। क्रोधरहित, पवित्र-रागद्वेषरहित, सदा ब्रह्मचारी, युद्धत्यागी, महाभाग-दया, शील आदि युक्त, देवता रूप पितर हैं। इसलिए भोजन करनेवालों को आचार, विचार से शुद्ध रहना चाहिए। ॥१९०-१९२॥

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।
ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ ॥१९३॥
मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
तेषां ऋषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ ॥१९४॥
विराज्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥ ॥१९५॥
दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥ ॥१९६॥

इन सब पितरों की जिससे उत्पत्ति हुई है और जो पितर जिन नियमों से जिसके पूज्य हैं वह सुनो। हिरण्यगर्भ के पुत्र मनु के जो मरीचि आदि पुत्र हैं, उनके पुत्र सोमपा आदि पितृगण हैं। विराट् के पुत्र

सोमनामक साध्यों के पितर हैं और मरीचि के पुत्र अग्निष्वात्त देवताओं के पितर कहे जाते हैं। दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, पक्षी और किन्नरों के बहिषद्र नामक पितर हैं ॥ १९३-१९६ ॥

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥ ॥१९७॥
सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः ।
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥ ॥१९८॥
अग्निदग्धानग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥ ॥१९९॥
य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्तिताः ।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ ॥२००॥

हविर्भुज सोमपा ब्राह्मणों के और क्षत्रियों के, आज्यपा वैश्य के और सुकालिन्नामक शूद्रों के पितर हैं। सोमपा भृगु के पुत्र, हविष्यमन्त अङ्गिरा के पुत्र, आज्यपा पुलस्त्य के पुत्र और सुकालिन् वशिष्ठ के पुत्र हैं। अग्निग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त और सौम्य ये ब्राह्मणों के पितर हैं। ये पितरों के मुख्य गण कहे गये हैं, इनके अनन्त जो पुत्र-पौत्र हैं उनको भी पितर जानना चाहिए ॥१९७ -२००॥

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः ।
देवेभ्यस्तु जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ ॥२०१॥
राजतैर्भाजनैरेषामथो वा रजतान्वितैः ।
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायौपकल्पते ॥ ॥२०२॥

दैवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते ।
दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं स्मृतम् ॥ ॥२०३॥
तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत् ।
रक्षांसि विप्रलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥ ॥२०४॥

मरीचि आदि ऋषियों से पितर हुए हैं, पितरों से देवता और मनुष्य हुए हैं। देवताओं से क्रम से स्थावर, जंगम रूप जगत् उत्पन्न हुआ है। इन सब पितरों को चांदी के पात्र से अथवा चांदी लगे पात्र से जलदान करने से अक्षय तृप्ति होती हैं। देवकार्य से पितृकार्य द्विजों के लिए विशेष माना जाता है। पितृश्राद्ध प्रधान कर्म है, और देवकर्म उसका अंग माना जाता है। देवकर्म पूर्व करने से पितृकर्म की पुष्टि होती है। पितृकर्म के रक्षक देवताओं की श्राद्ध से पूर्व स्थापना करें, क्योंकि रक्षारहित श्राद्ध का राक्षस नाश कर देते हैं ॥२०१-२०४॥

दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्र्याद्यन्तं न तद् भवेत् ।
पित्र्याद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥ ॥२०५॥
शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत् ।
दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ ॥२०६॥
अवकाशेषु चोक्षेषु जलतीरेषु चैव हि ।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥ ॥२०७॥
आसनेषूपक्लृप्तेषु बर्हिष्मत्सु पृथक्पृथक् ।
उपस्पृष्टोदकान् सम्यग् विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ ॥२०८॥

इस कारण श्राद्ध में आरम्भ और समाप्ति देवतापूर्वक करे, पित्रादिपूर्वक नहीं करना चाहिए। पित्रादिपूर्वक करने वाले का वंशसहित नाश हो जाता हैं । एकान्त और पवित्र देश में गोबर से भूमि लीपकर उसमें दक्षिण को झुकी वेदी बनानी चाहिए। खुला स्थान, पवित्र देश, नदीतीर अथवा निर्जन देश में श्राद्ध करने से पितर प्रसन्न होते हैं। उस स्थान में अलग अलग बिछे हुए कुशासनों पर निमन्त्रित ब्राह्मणों को बैठाना चाहिए । ॥२०५-२०८॥

उपवेश्य तु तान् विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान् ।
गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद् दैवपूर्वकम् ॥ ॥२०९॥
तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि ।
अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ॥ ॥२१०॥
अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाऽप्यायनमादितः ।
हविर्दानेन विधिवत् पश्चात् संतर्पयेत् पितृन् ॥ ॥२११॥
अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ।
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ ॥२१२॥

उन सदाचारी ब्राह्मणों को आसन पर बैठाकर सुगन्ध, चन्दन, पुष्प, धूप आदि से पहले देवताओं उसके पश्च्यात पितरों का पूजन करना चाहिए। उसके बाद कुश और तिल मिला अर्द्धजल दान करना चाहिए औंर सब की आज्ञा लेकर श्राद्ध करनेवाला ब्राह्मणों के साथ अग्नि में हवन करना चाहिए। पहले हवन से अग्नि, सोम और यम को तृप्त करें फिर अन्न आदि हवि से पितरों को तृप्त करना चाहिए |

अदि अग्नि न हो हो ब्राह्मण के हाथ में ही तीन आहुति दे, ब्राह्मण अग्निरूप है, ऐसा ऋषियों का मत है ॥ २०९-२१२ ॥

अक्रोधनान् सुप्रसादान् वदन्त्येतान् पुरातनान् ।
लोकस्याप्यायने युक्तान् श्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ॥ ॥२१३॥
अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् ।
अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥ ॥२१४॥
त्रींस्तु तस्माद् हविःशेषात् पिण्डान् कृत्वा समाहितः।
औदकेनैव विधिना निर्वपेद् दक्षिणामुखः ॥ ॥२१५॥

क्रोधरहित, प्रसन्नचित्त, वृद्ध और लोक की वृद्धि में तत्पर, श्रेष्ठ ब्राह्मण श्राद्ध के पात्र होते हैं। अपसव्य होकर पितरों के निमित्त अग्नि में दो आहुति देकर अपसव्य ही पूर्व दिशा से दक्षिण को पिण्ड छोड़ने की भूमि पर जल छोड़े। हवन की अन्य सामग्री का तीन पिण्ड बनाकर दक्षिणमुख दाहिने हाथ से कुशों के ऊपर पिण्ड छोड़ना चाहिए ॥२१३-२१५॥

न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् ।
तेषु दर्भेषु तं हस्तं निर्मृज्याल्लेपभागिनाम् ॥ ॥२१६॥
आचम्यौदक्परावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून् ।
षड् ऋतूंश्च नमस्कुर्यात् पितृनेव च मन्त्रवत् ॥ ॥२१७॥
उदकं निनयेत्शेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः ।
अवजिघ्रेच्च तान् पिण्डान् यथान्युप्तान् समाहितः ॥ ॥२१८॥
पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः ।

तानेव विप्रानासीनान् विधिवत् पूर्वमाशयेत् ॥ ॥२१९॥

पिण्डों के रखने के बाद वृद्ध प्रपितामह से लेकर ऊपर के तीन लेपभागी पितरों की तृप्ति के लिए उन कुशा के पास ही हाथ धोवे। फिर उत्तराभिमुख आचमन और तीन प्राणायाम धीरे से करके छह ऋतुओं को और पितरों को नमस्कार करे। फिर पिण्ड दान के पात्र में जो शेष जल बचा हो उसको पिण्डों के पास धीरे धीरे छोड़े और जिस क्रमसे पिण्डों को रखा था उसी क्रम से उठाकर सूंघे। पिण्डों में से थोड़ा थोड़ा भाग लेकर प्रथम ब्राह्मणों को विधि से खिलावे अर्थात् जिस पिता के निमित जो पिण्ड छोड़ा हो उस पिण्ड का भाग उसी पितर के स्थान में बैठे हुए ब्राह्मण को खिलाना चाहिए। ॥२१६-२१९॥

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् ।
विप्रवद् वाऽपि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥ ॥२२०॥
पिता यस्य निवृत्तः स्याज् जीवेच्चापि पितामहः ।
पितुः स नाम सङ्कीर्त्य कीर्तयेत् प्रपितामहम् ॥ ॥२२१॥
पितामहो वा तत्श्राद्धं भुञ्जीतैत्यब्रवीन् मनुः ।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥ ॥२२२॥

यदि पिता जीता हो तो श्राद्ध करनेवाला मरे हुए पितामह आदि तीन पुरुषों का श्राद्ध करे, या पितृ ब्राह्मण के स्थान पर अपने जीवित पिता को ही भोजन करना चाहिए। जिसका पिता मर गया हो और पितामह जीता हो, उसको पिता का नाम बोलकर प्रपितामह का नाम बोलना

चाहिए अर्थात् पिता और प्रपितामह दोनों का श्राद्ध करना चाहिए अथवा जीवित पितामह को उस श्राद्ध का भोजन करवाना चाहिए, यह मनुजी की आज्ञा है। अथवा श्राद्धकर्ता पितामह की आज्ञा से आप ही प्रपितामह और वृद्धप्रपितामह का श्राद्ध करे। ॥२२०-२२२

तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलौदकम् ।
तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन् ॥ ॥२२३॥
पाणिभ्यां तूपसङ्गृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम् ।
विप्रान्तिके पितॄन् ध्यायन् शनकैरुपनिक्षिपेत् ॥ ॥२२४॥
उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते ।
तद् विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ ॥२२५॥
गुणांश्च सूपशाकाद्यान् पयो दधि घृतं मधु ।
विन्यसेत् प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ ॥२२६॥
भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च ।
हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥ ॥२२७॥
उपनीय तु तत् सर्वं शनकैः सुसमाहितः ।
परिवेषयेत प्रयतो गुणान् सर्वान् प्रचोदयन् ॥ ॥२२८॥

उन निमन्त्रित ब्राह्मणों के हाथ में कुश और तिलोदक देकर पिण्ड का अग्रभाग पिता आदि तीन ब्राह्मणों को 'पित्रे स्वधास्तु' कहकर देना चाहिए। फिर अन्न का पात्र दोनों हाथ से उठाकर ब्राह्मण के पास लाकर धीरे से रख देना चाहिए। यदि दोनों हाथों से अन्नपात्र को न उठाया जाय तो दुष्ट राक्षस उसको हर लेते हैं, उसका रस चूस लेते हैं । श्राद्धकर्ता सावधानी से शाक, दाल आदि सब व्यञ्जन और दूध,

दही, घी और मधु इत्यादि पदार्थों को लाकर भूमि पर रखे। भक्ष्य, भोज्य, भांति-भाति के कंद, फल, भोज्य पदार्थ और सुगन्धित जल लाकर सब पदार्थों के गुणों की प्रशंसा करके ब्राह्मणों को परोसना चाहिए। ॥ २२३-२२८॥

नास्रमापातयेज् जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत् ।
न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् ॥ ॥२२९॥

श्राद्ध के दिन कभी रोना नहीं चाहिए, क्रोध नहीं करना चाहिए करे, झूठ नहीं बोलना चाहिए, पैर से अन्न को नहीं छूना चाहिए और अन्न को उछालकर भी नहीं परोसना चाहिए। ॥ ३२६ ॥

अस्रं गमयति प्रेतान् कोपोऽरीननृतं शुनः ।
पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ ॥२३०॥
यद् यद् रोचेत विप्रेभ्यस्तत् तद् दद्यादमत्सरः ।
ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात् पितॄणामेतदीप्सितम् ॥ ॥२३१॥
स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥ ॥२३२॥
हर्षयेद् ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैःशनैः ।
अन्नाद्येनासकृच्चैतान् गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ ॥२३३॥

आंसू गिराने से श्राद्धफल प्रेतों को प्राप्त होता है। क्रोध करने से शत्रुओं को प्राप्त होता है, झूठ बोलने से कुत्तों को प्राप्त होता है, पैर से ठोकर देने से राक्षसों को प्राप्त होता है और उछालने से पापियों

को फल को प्राप्त होता है। जो जो पदार्थ ब्राह्मणों के प्रिय लगे उनको अच्छी तरह परोसे और ईश्वर सम्बन्धी कथाएं कहे, क्योंकि वह पितरों को प्रिय होती हैं। ब्राह्मणों को वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण आदि सुनाकर खूब प्रसन्न करना चाहिए और धीरे धीरे भोजन करवाना चाहिए और बारम्बार पदार्थों के गुण का वर्णन करके भोजन में उन लोगों को प्रवृत्त करना करना चाहिए ॥२३०-२३३॥

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् ।
कुतपं चासनं दद्यात् तिलैश्च विकिरेन् महीम् ॥ ॥२३४॥
त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥ ॥२३५॥
अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद् भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः ।
न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् ॥ ॥२३६॥

दौहित्र[26] ब्रह्मचर्य व्रत में भी हो, तब भी उसको यत्न से श्राद्ध में भोजन करवाना चाहिए। उसको बैठने के लिए कुतत-हिमालय के समीप बना कम्बल दे और श्राद्धभूमि में तिल छिटक दे। श्राद्ध में दौहित्र, कम्बल और तिल यह तीन पवित्र होते हैं। पवित्रता, क्रोध न करना और धीरज इन तीन बातों की प्रशंसा है। सभी अन्न व अन्य भोज्य पदार्थों को गरम रखना चाहिए ब्राह्मण को मौन धारण कर भोजन करना चाहिए। यदि देनेवाला भोजन के गुण पूछे तो भी ब्राह्मणों को

[26] कन्या का पुत्र

कुछ नही कहना चाहिए अर्थात् भोजन के समय व्यर्थ नहीं बोलना चाहिए । ॥२३४-२३६॥

यावदुष्मा भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नओक्ता हविर्गुणाः ॥ ॥२३७॥
यद् वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद् भुङ्क्ते दक्षिणामुखः ।
सौपानत्कश्च यद् भुङ्क्ते तद् वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ ॥२३९॥
चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च ।
रजस्वला च षण्ढश्च नैक्षेरन्नश्नतो द्विजान् ॥ ॥२४०॥
होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते । दै
वे हविषि पित्र्ये वा तद् गच्छत्ययथातथम् ॥ ॥२४१॥

जब तक अन्न गरम रहता है और जब तक मौन होकर ब्राह्मण भोजन करते हैं और भोजन के गुण नहीं कहे जाते तब तक ही पितर अन्न का ग्रहण करते हैं। जो सर पर वस्त्र बांधकर, दक्षिणमुख होकर और जूता पहनकर खाता है, ऐसे भोजन का फल राक्षसों को पहुँचता है। चाण्डाल, शूकर, मुर्गा, कुत्ता, रजस्वला स्त्री, और नपुंसक ये लोग भोजन करते हुए ब्राह्मणों को दिखाई देने नहीं चाहिएं । हवन में, दान में, ब्राह्मणभोजन में, देवकर्म में या पितृकर्म में यदि चाण्डाल आदि की नज़र पड़े तो वह कर्म निष्फल हो जाता है। शूकर के सूंघने से, मुर्गे के पंख की हवा से, कुत्ते के देखने से और शूद्र के स्पर्श से श्राद्ध का अन्न दूषित हो जाता है ॥२३७-२४१॥

खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत् ।

हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत् पुनः ॥ ॥२४२॥
ब्राह्मणं भिक्षुकं वाऽपि भोजनार्थमुपस्थितम् ।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥ ॥२४३॥

श्राद्धकर्ता का सेवक भी यदि लूला, काना, या कम ज्यादा अंङ्गवाला हो तो उसे भी ब्राह्मणभोजन के समय हटा देना चाहिए। उस समय, यदि कोई ब्राह्मण वा भिक्षुक भोजन के लिए, आ जाय तो ब्राह्मणों की आज्ञा से उसका भी यथा शक्ति सत्कार करना चाहिए ॥२४२-२४३॥

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं संनीयाप्लाव्य वारिणा ।
समुत्सृजेद् भुक्तवतामग्रतो विकिरन् भुवि ॥ ॥२४४॥
असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् ।
उच्छिष्टं भागधेयं स्याद् दर्भेषु विकिरश्च यः ॥ ॥२४५॥
उच्छेषणां भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च ।
दासवर्गस्य तत् पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ ॥२४६॥

भोजन से बचा हुआ सब प्रकार का अन्न इकट्ठा करके जल से गीला करे और ब्राह्मणों के आगे रक्खे और थोड़ा सा कुशा पर छितरा दे। यह कुशों पर बिखरा हुआ और झूठा बचा अन्न बिना संस्कार मृत बालक, और कुलस्त्रियों का माना जाता है। श्राद्ध में भूमि पर पड़ा जूठा अन्न सीधे सरल स्वभाव दासों का भाग है ॥२४४-२४६॥

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु । अदैवं भोजयेत्श्राद्धं
पिण्डमेकं च निर्वपेत् ॥ ॥२४७॥

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः।
अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपनं सुतैः ॥ ॥२४८॥
श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति ।
स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥ ॥२४९ ॥
श्राद्धभुग् वृषलीतल्पं तदहर्योऽधिगच्छति । त
स्याः पुरीषे तं मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ ॥२५०॥

द्विजातियों का जब तक सपिण्डीकरण न हो, तब तक उनका श्राद्ध वैश्वदेवरहित करें और उसमें एक ब्राह्मण को भोजन और एक पिण्ड देना चाहिए। मृत पुरुष का सपिण्डीकरण हो जाने पर अमावस्या की श्राद्धविधि के अनुसार ही पुत्रों को पिण्डदान करना चाहिए। भोजन के बाद बचा जूठा अन्न जो शूद्र को देता है, वह मूर्ख नीचे सिर होकर कालसूत्र नरक को जाता है। जो श्राद्ध में भोजन करके इस दिन रात में स्त्रीसंग करता है, उसके पितर एक मासतक उसी स्त्री की विष्ठा में सोते हैं ॥२४७-२५०॥

पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत् ततः ।
आचान्तांश्चानुजानीयादभितो रम्यतामिति ॥ ॥२५१॥
स्वधाऽस्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम् ।
स्वधाकारः परा ह्याषीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥ ॥२५२॥
ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् ।
यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥ ॥२५३॥

तृप्त हुए ब्राह्मणों से 'स्वदितम्' आपने खूब भोजन किया? ऐसा पूछे। फिर आचमन करावाकर, 'अभितो रम्यताम्' इच्छानुसार पधारिए, यों कहकर विदा करे। उसके बाद ब्राह्मण 'स्वधा अस्तु' ऐसा कहें, क्योंकि सब पितृकर्मों में स्वधा शब्द का उच्चारण परम आशीर्वाद माना जाता है। भोजन किए ब्राह्मणों से जो अन्न बचा हो उसको 'यह अन्न शेष है' कह हर ब्राह्मणों को निवेदन करें और उन लोगों की आज्ञानुसार उसकी व्यवस्था करें ॥२५१-२५३॥

पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुशृतम् ।
सम्पन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ ॥२५४॥
अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसम्पादनं तिलाः ।
सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्र्याः श्राद्धकर्मसु सम्पदः ॥ ॥२५५॥
दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च सर्वशः ।
पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसम्पदः ॥ ॥२५६॥
मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् ।
अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥ ॥२५७॥

माता पिता के एकोद्दिष्ट और पार्वणश्राद्ध में 'स्वादितम्' गोष्ठीश्राद्ध में 'सुश्रुतम्' वृद्धिश्राद्ध में 'सम्पन्नम्' और देवकर्म में 'रुचितम्' ऐसा कहकर ब्राह्मणों से उनकी तृप्ति को पूछ लेना चाहिए। अपराह्न काल, कुश, गोबर से लिपी भूमि, तिल, निःसंकोच भोजन देना, भोजन का स्वाद और पंक्तिपावन ब्राह्मण श्राद्ध कर्म में उत्तम गिना जाता है। पूर्वाह्न काल, कुश, वेदमंत्र, हवि का अन्न और पूर्वोक्त भूमि आदि की पवित्रता, यह सब देवकर्म की सम्पत्ति हैं। मुनियों का अन्न आदि, दूध,

सोमलता का रस, फलों का गूदा, सेंधानमक, ये सब पदार्थ स्वभाव से ही हवि कहलाते हैं । २५४-२५७ ॥

विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः ।
दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन् याचेतैमान् वरान् पितृन् ॥ ॥२५८॥
दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव च । श्र
द्धा च नो मा व्यगमद् बहुदेयं च नोऽस्त्विति ॥ ॥२५९॥
एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।
गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥ ॥२६०॥

उन निमन्त्रित ब्राह्मणों को विदा करके, सावधानी से स्नान करे और दक्षिण दिशा को खड़ा होकर, पितरों से इन वरों को मांगे - हमारे कुले में दाता हों, वेदाभ्यास और सन्तान की वृद्धि हो, वैदिक कर्म से श्रद्धा दूर न हो और सुपात्रों को देने के लिए इमें बहुतला धन मिले - इस प्रकार, श्राद्ध कर्म पूरा होने पर वह पिण्ड गौ, ब्राह्मण या बकरे को खिला दे अथवा अग्नि या जल में डाल देव ॥ २५८-२६० ॥

पिण्डनिर्वपणं के चित् परस्तादेव कुर्वते ।
वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा ॥ ॥२६१॥
पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ।
मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात् सम्यक् सुतार्थिनी ॥ ॥२६२॥
आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा ॥ ॥२६३॥
प्रक्षाल्य हस्तावाचाम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् । ज्ञा

तिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा बान्धवानपि भोजयेत् ॥ ॥२६४॥

कोई आचार्य ब्राह्मण भोजन के पहलेही पिण्डनिर्वपण कराते हैं, कोई पिण्ड पक्षियों को खिलाते हैं, कोई जल वा अग्नि में छोड़ देते हैं। पुत्र की इच्छा रखने वाली पतिव्रता स्त्री को उन पिण्डों में से पितामह के मध्यम पिण्ड को खा लेना चाहिए। पिंड को खाने वाली वह स्त्री आयुष्मान्, यशस्वी, बुद्धिमान्, धनवान्, सन्तानवान्, सत्यगुणी और धार्मिक पुत्र को पैदा करती है। फिर दोनों हाथ धोकर, बचा हुआ अन्न अपने सत्कार पूर्वक अपनी जाति वालों को और दूसरे सम्बन्धियों को भी खिलाये। ॥ २६१-२६४ ॥

उच्छेषणं तु तत् तिष्ठेद् यावद् विप्रा विसर्जिताः।
ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ ॥२६५॥
हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्पते ।
पितृभ्यो विधिवद् दत्तं तत् प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ॥२६६॥
तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ।
दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत् पितरो नृणाम् ॥ ॥२६७॥
द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥ ॥२६८॥
षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै ।
अष्टावेनस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ ॥२६९॥
दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ॥ ॥२७०॥
संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च ।

वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ ॥२७१॥

ब्राह्मणों का उच्छिष्ट अन्न, ब्राह्मणों के विदा होने तक रहना चाहिए। , ब्राह्मणों के विदा होने के पश्च्यात वैश्वदेव और भूतबलि आदि करे, यह धर्मव्यवस्था है। पितरों को विधि से हवि अर्पित करने से जो चिरकाल तक अक्षय तृप्ति होती है वह इस प्रकार है- तिल, धान्य, यव, उड़द, जल, मूल और फल विधिपूर्वक पितरों को देने से, एक मास तक तृप्ति होती है। मछलीयों को देने से दो मास, हरिण के मांस से तीन मास, भेड के मांस से चार और भक्ष्य पक्षियों के मांस से पांच मास तक तृप्ति होती है। बकरे के मांस से छ: मास, चित्रमृग के मांस से सात मास, मृग से आठ मास और रुरु मृग से नौ मास तक तृप्ति होती है। शुकर और महिष के मांस से दस मास, खरगोश और कछुआ से ग्यारह मास तक तृप्ति होती है। गौ के दूध वा उसकी खीर से साल भर और लम्वे कान और नाकवाले बूढ़े बकरे के मांस से बारह वर्ष तक तृप्ति होती है ॥ २६५-२७१ ॥

कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु ।
आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥ ॥२७२॥
यत् किं चिन् मधुना मिश्रं प्रदद्यात् तु त्रयोदशीम् ।
तदप्यक्षयमेव स्याद् वर्षासु च मघासु च ॥ ॥२७३॥
अपि नः स कुले भूयाद् यो नो दद्यात् त्रयोदशीम् ।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक् छाये कुञ्जरस्य च ॥ ॥२७४॥
यद् यद् ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः । त
त् तत् पितृणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ ॥२७५॥

कालाशाक, महाशल्क का मेद, गैंडा, लाल बकरा, शहद और सब प्रकार के मुनि अन्नों से, अनन्त वर्षों तक पितर तृप्त रहते हैं। वर्षाऋतु, मघा नक्षत्र और त्रयोदशी तिथि को कोई भी पदार्थ मधु मिलाकर पितरों के निमित्त देने से, उनको अक्षय तृप्ति होती है। पितर आशा करते हैं कि हमारे कुल में कोई ऐसा हो जो त्रयोदशी को या हाथी की छाया पूर्व दिशा में पड़े ऐसे समय, घी, मधु से मिले हुए पायस (खीर) से, हमको तृप्त करें । भक्ति और श्रद्धा से विधिपूर्वक जो कुछ पितरों को दिया जाता है, उसका अनन्त फल उनको परलोक में पहुँचता है ॥ २७२-२७५ ॥

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथैतराः ॥ ॥२७६॥
युक्षु कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान् कामान् समश्नुते ।
अयुक्षु तु पितृन् सर्वान् प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ ॥२७७॥
यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद् विशिष्यते ।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ॥ ॥२७८॥

चतुर्दशी को छोड़कर, कृष्णपक्ष की दशमी से अमावास्या तक की तिथि पितृकार्य के लिए जैसी पवित्र है वैसी दूसरी नहीं है। समतिथि और समनक्षत्रों में (जैसा द्वितीया, चतुर्थी, भरणी, रोहिणी) श्राद्ध करने से, सभी कामनाएं पूरी होती हैं।और विषमः तिथि, नक्षत्रों में ('प्रतिपदा, तृतीया,अश्विनी, कृत्तिका आदि) श्राद्ध करने से, सन्तति प्राप्त होती है। जैसे, शुक्लपक्ष से कृष्णपक्ष श्राद्ध में श्रेष्ठ माना जाता

है, वैसे ही पूर्वाह्न से अपराह्न -दोपहर बाद, काल उत्तम माना जाता है ॥ २७६-२७८ ॥

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा ।
पित्र्यमानिधनात् कार्यं विधिवद् दर्भपाणिना ॥ ॥२७९॥
रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा ।
संध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरौदिते ॥ ॥२८० ॥
अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्यैह निर्वपेत् ।
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥ ॥२८१॥

हाथ में कुश लेकर, अपसव्य होकर, शास्त्र विधि से मृत्यु पर्यंत श्राद्ध करना चाहिए करे। रात्रि में श्राद्ध नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह राक्षसी समय है। और सूर्योदय, सूर्यास्त समय और सूर्योदय के कुछ काल बाद भी श्राद्ध नहीं करना चाहिए। इस विधि के अनुसार, गृहस्थ यदि प्रतिमास श्राद्ध न कर सके तो वर्ष में, हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षाऋतु में श्राद्ध और नित्य पञ्चमहायज्ञ करे ॥ २७६-२८१॥

न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते ।
न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥ ॥२८२॥
यदेव तर्पयत्यद्भिः पितृन् स्नात्वा द्विजोत्तमः ।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ ॥२८३॥
वसून् वदन्ति तु पितृन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथाऽदित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥ ॥२८४॥
विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः ।

विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ॥ ॥२८५॥
एतद् वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् ।
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ ॥२८६॥

पितृकर्म लौकिक अग्नि में नहीं करना चाहिए। अग्निहोत्री अमावास्या के सिवाय दूसरी तिथियों में श्राद्ध न करे तो भी कोई हानि नहीं है। द्विज यदि श्राद्ध कर्म मे समर्थ न हो तब स्नान करके जल से पितृतर्पण कर लेना चाहिए, जल से पितृतर्पण करने पर भी पितृयज्ञ का फल मिलता है। वेद में पिता को वसु, पितामह को रुद्र और प्रपितामह को आदित्य कहते हैं। समर्थ पुरुष, नित्य विघस या अमृत का भोजन किया करे। श्राद्ध में ब्राह्मणभोजन से बचा अन्न विघस और वैश्वदेव आदि यज्ञशेष अमृत कहलाता है । यह पञ्चमहायज्ञ की सब विधि तुमसे कही है अब द्विजों में मुख्य ब्राह्मण की वृत्ति का विषय सुनो ॥२८२-२८३॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां स्मृतौ तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥३॥

॥महर्षि भृगु द्वारा प्रवचित मानव धर्म शास्त्र स्मृति का तीसरा अध्याय समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥ मनुस्मृति ॥

॥अथ चतुर्थोऽध्यायः चौथा अध्याय ॥

गृहस्थाश्रम-धर्म

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽद्यं गुरौ द्विजाः।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ ॥१॥
अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ ॥२॥
यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥ ॥३॥

द्विज को अपने जीवन का चतुर्थांश गुरुकुल में विद्याभ्यास करते हुए बिताना चाहिए और दूसरे चतुर्थांश में विवाह करके गृहस्थाश्रम में रहना चाहिए। किसी वृत्ति में जीवों को पीड़ा न हो अथवा बहुत थोडी पीड़ा हो, आपत्ति काल में भी द्विज को ऐसी वृत्ति से निर्वाह के करना चाहिए । प्राणरक्षक शास्त्रानुसार अपने और परिवार के पालन के लिए कर्म करना चाहिए तथा शरीर को अत्यधिक दुःख न देकर धन का संचय नहीं करना चाहिए ॥१-३॥

ऋतामृताभ्यां जीवेत् तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदा चन ॥ ॥४॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ॥५॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात् तां परिवर्जयेत् ॥ ॥६॥

ब्राह्मण को ऋत-अनृत से, मृत-प्रमृत से अथवा सत्यानृत से जीविका करनी चाहिए परन्तु कभी भी श्ववृत्ति अर्थात कुत्ते की वृत्ति या नौकरी-गुलामी से निर्वाह नहीं करना चाहिए । उञ्छ और शिल को ऋत, बिना मांगें मिला हुआ अनृत, मांगी हुई भिक्षा मृत और खेती को प्रमृत कहते हैं। सत्यानृत, सच-झूठ पर आधारित वाणिज्य-व्यापार को कहते हैं, उससे भी जीविका चलाना श्रेष्ठ है। श्ववृत्ति-अर्थात् कुत्ते की वृत्ति-सेवा को कहते हैं, इसलिए उसको छोड़ देना चाहिए ॥४-६॥

कुसूलधान्यको वा स्यात् कुम्भीधान्यक एव वा ।
त्र्यहेहिको वाऽपि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ ॥७॥
चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम् ।
ज्यायान् परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥ ॥८॥
षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्त्रेण जीवति ॥ ॥९॥

ब्राह्मण इतना अन्न संग्रह करे जिसमें कोठी भर जाय, या छोटी कोठरी भर जाने तक का अन्न संग्रह करे, या तीन दिन के गुजरे लायक़ अथवा एक ही दिन के प्रयोजन भर को इकट्ठा रक्खे । इन चारों प्रकार के संग्रह को करनेवालों में क्रम से अगला ब्राह्मण श्रेष्ठ माना जाता है और वह धर्म से स्वर्गफल को जीतनेवाला होता है। इन चार प्रकार के गृहस्थों में ऋत आदिः छ प्रकार की वृत्ति से निर्वाह करना बड़े गृहस्थ के लिए है। जो साधारण कुटुम्ब रखते हैं, वे यज्ञ कराना, वेदपढाना और दान लेना इन तीन प्रकार की जीविकाओं से निर्वाह करें। प्रतिग्रह-दान लेना जो नहीं चाहते, उनको याजन और अध्यापन इन दो वृत्तियों से और चौथा केवल वेद पढ़ाकर एक ही वृत्ति से निर्वाह करना चाहिए ॥७-९॥

वर्तयंश्च शिलौञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः ।
इष्टीः पार्वायणान्तीयाः केवला निर्वपेत् सदा ॥ ॥१०॥
न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथं चन ।
अजिह्मामशथां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥ ॥११॥
संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ ॥१२॥
अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः ।
स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रताणीमानि धारयेत् ॥ ॥१३॥

जो ब्राह्मण उञ्छवृत्ति से जीविका चलाता हो उसको सदा अग्निहोत्र में तत्पर रहना चाहिए। और अमा, पूर्णा की इष्टि आदि सहज यज्ञ करना चाहिए। जीविका के लिए लोकवृत – अर्थात नाटक आदि,

झूठी बड़ाई खुशामद इत्यादि नहीं करनी चाहिए, किन्तु शुद्ध, निष्कपट बर्ताव रखकर ब्राह्मणों के लिए कही गई जीविका ने निर्वाह करना चाहिए। सुख चाहने वालों को चाहिए कि सन्तोषवृत्ति को रखकर जो मिले उसमें निर्वाह करे अधिक माया में न फंसे -सन्तोष सुही सुख का कारण है और असन्तोष दुःख का कारण है। इसलिए ऊपर कही गई किसी एक जीविका के सहारे सुख से काल बितावे और आगे कहे हुए व्रतों का पालन किया करे ॥ १०-१३॥

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद् हि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ॥१४॥
नैहेतार्थान् प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥ ॥१५॥
इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत् ॥ ॥१६॥

ब्राह्मण को अपने वेदोक्त कर्म का आचरण नित्य बिना आलस्य के करना चाहिए। उसको यथाशक्ति करने से पुरुष परमगति को प्राप्त होता है। ब्राह्मण को गाना, बजाना और शास्त्र के विपरीत कर्म करके, आपद काल में भी धंन संचित करने का उद्यम नही करना चाहिए। इन्द्रियों के विषय शब्द स्पर्श आदि में कामना से नहीं लगना चाहिए अपितु इन सब बातों से मन को रोकना चाहिए ॥ १४-१६॥

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथा तथाऽध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ ॥१७॥

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन् विचरेदिह ॥ ॥१८॥
बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च । नि
त्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ ॥१९॥

जिन कामों को करने से अपने स्वाध्याय में बाधा पड़े उन सब को छोड़ देना उचित है। स्वाध्याय में लगा रहने से ही ब्राह्मण की कृतार्थता है। गृहस्थ ब्राह्मण को अपनी आयु, कर्म, धन-विद्या और कुल के अनुसार वेष, वाणी और बुद्धि से काम लेता हुआ इस संसार में बर्ताव करना चाहिए। बुद्धि को शीघ्र ही बढ़ानेवाले आनंददायक, और विविध भांति के शास्त्रों का अध्ययन नित्य करना चाहिए। उनका नित्य अधयन्न करने से हित अनहित बातों का पूरा ज्ञान होता है और उसको विज्ञान को समझता है। ॥१७-१९॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ ॥२०॥
ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ ॥२१॥
एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः ।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ ॥२२॥
वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा ।
वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥ ॥२३॥
ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मखैः सदा ।
ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥ ॥२४॥

जैसे जैसे मनुष्य शास्त्र को देखता जाता है वैसे वैसे उसको ज्ञान होता है और उसकी प्रीति उन शास्त्रों में बढ़ती है। स्वाध्यायी ब्राह्मण को वेदाध्ययन, होम, भूतबलि, अतिथिसत्कार और श्राद्ध जहां तक हो सके छोड़ना नही चाहिए। बहुत से यज्ञविषय के ज्ञाता पुरुष इन पाँच महायंज्ञों को न करके, इन्द्रियों को ही अग्निरूप मानकर उसमें विषयों का होम करते हैं अर्थात् इन्द्रियों के बाहरी विषयों को अपने वेश में करने का उपाय किया करते हैं। कितने ही ज्ञानी पुरुष वाणी का प्राण में और प्राण में वाणी का लय करते हैं। दूसरे अन्य ज्ञानयज्ञ से ही सब यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं क्योंकि, ज्ञान ही सब यज्ञों का मूल है ॥ २०-२४॥

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ ॥२५॥
सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथार्तुअन्ते द्विजोऽध्वरैः ।
पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥ ॥२६॥

प्रातःकाल और सायंकाल में अग्निहोत्र, अमावास्या को दर्श नामक यज्ञ और पूर्णिमा को पौर्णमास यज्ञ अवश्य करना चाहिए। पहला अन्न हो चुके और नया अन्न पैदा हों तब शरद् ऋतु में नवीन अन्न से नवसस्येष्टि करे और प्रत्येक ऋतु के अन्त में चातुर्मास यज्ञ करे, उत्तरायण-दक्षिणायन के आरम्भं मैं पशुयाग और वर्ष पूरा होने पर वसन्तऋतु में सोमयाग को करना चाहिए ॥२५-२६ ॥

नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान् द्विजः।
नवान्नमद्यात्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ ॥२७॥
नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः।
प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्धिनः ॥ ॥२८॥
आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा ।
नास्य कश्चिद् वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥ ॥२९॥
पाषण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतिकान् शठान् ।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ ॥३०॥
वेदविद्याव्रतस्नातांश्रोत्रियान् गृहमेधिनः ।
पूजयेद् हव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ॥३१॥

दीर्घायु चाहने वाले द्विज को नवीन अन्न से इष्टि करके नया अन्न और पशुयाग किया बिना मांस का भक्षण नहीं करना चाहिए। यदि नवीन अन्न से इष्टि यज्ञ और पशुयाग किये बिना कोई नया अन्न और मांस खाता है तो उसकी प्रजा को ही अग्निदेव खाने की इच्छा करते हैं क्योंकि अग्निदेव नवीन अन्न और मांस की कामना करते हैं। गृहस्थ को आसन, भोजन, शय्या, जल, फल और फूल से यथाशक्ति अतिथि का सत्कार अवश्य करना चाहिए। वेद के विपरीत आचरण करनेवाले पाखण्डी, आश्रम के विरुद्ध वृत्ति से जीविका करनेवाले, दम्भ से वैडालव्रत-बिल्ली के समान मौन साधनेवाले शठ, कुतर्की और बगलाभक्त इन सब कपटियों का वाणी मात्र से भी सत्कार गृहस्थ को नहीं करना चाहिए ॥ २७-३१ ॥

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना ।

संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ॥३२॥
राजतो धनमन्विच्छेत् संसीदन् स्नातकः क्षुधा ।
याज्यान्तेवासिनोर्वाऽपि न त्वन्यत इति स्थितिः ॥ ॥३३॥

विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और, विद्यावतस्नातक इन तीन प्रकार के श्रोत्रिय गृहस्थों का दैव-पितृकर्म में सत्कार करना चाहिए जो ऐसे न हों उनको पूछना नहीं चाहिए । गृहस्थ को, अपने हाथ से भोजन न बनानेवाले ब्रह्मचारी-संन्यासी को पक्वान्न आदि देना चाहिए और जहां तक हो सके जड़-चेतन, सब प्राणियों को अन्न, जल से आदर करना चाहिए। स्नातक गृहस्थ यदि भोजन के लिए दुखी हो तो वह क्षत्रिय राजा, यजमान और शिष्य से धन लेने की इच्छा करे, परन्तु पतित-अधर्मियों से कभी भी धन नहीं लेना चाहिए , यह धर्मशास्त्र की मर्यादा है ॥ ३२-३३॥

न सीदेत् स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथं चन ।
न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥ ॥३४॥
कॢप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः ।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ ॥३५॥
वैणवीं धारयेद् यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभं रौक्मे च कुण्डले ॥ ॥३६॥

स्नातक ब्राह्मण को किसी प्रकार भी क्षुधा से पीड़ित नहीं रहना चाहिए। यदि धन न हो तब भी पुराने और मैले कपड़ों को नहीं पहनना चाहिए। केश, नख़ और दाढ़ी को कटवाना चाहिए, सफ़ेद

वस्त्र पहनने चाहिए और सदा पवित्र होकर रहना चाहिए। गृहस्थ को सदैव अपने स्वाध्याय में लगे रहना चाहिए और अपनी शरीर रक्षा के लिए उचित उपाय करने चाहिए। बांस की लकड़ी, जलपूर्ण कमण्डलु, यज्ञोपवीत, वेदपुस्तक और सोने के सुन्दर कुण्डल को धारण करनी चाहिए ॥ ३४-३६ ॥

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदा चन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥ ॥३७॥
न लङ्घयेद् वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति ।
न चोदके निरीक्षेत स्वरूपमिति धारणा ॥ ॥३८॥
मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् । प्र
दक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ॥३९॥
नोपगच्छेत् प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ॥४०॥

उदय और अस्त होते हुए सूर्य को जानकर कभी नहीं देखना चाहिए। और ग्रहण के समय में, जल में और दोपहर में भी सूर्य को नहीं देखना चाहिए। बछड़ा बांधने की रस्सी को लांघना नहीं चाहिए, चर्चा होते समय रास्ते में दौड़ना और जल में अपना स्वरुप देखना नहीं चाहिए, यह धर्मशास्त्र की आज्ञा है। मिट्टी का टीला, गौ, देवमूर्ति, ब्राह्मण, घी, शहद, चौराह और घट, पीपल वगैरह वृक्ष, मार्ग में जाते हुए देख पड़े तो उनको दाहिनी तरफ़ करके जाना चाहिए। कामातुर पुरुष को भी रजस्वला स्त्री के साथ भोग नहीं करना चाहिए और न ही एक शय्या पर सोना चाहिए ॥ ३७-४०॥

रजसाऽभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ॥४१॥
तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ॥४२॥
नाश्नीयाद् भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम् ।
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ॥ ॥४३॥
नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम् ।
न पश्येत् प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥ ॥४४॥

जो पुरुष रजस्वला स्त्री के साथ भोग करता है उसकी बुद्धि, तेज, बल, नेत्र और आयु नष्ट होती है। जो उससे बचा रहता है, उसकी बुद्धि, तेज, बल, नेत्र और आयु बढ़ते हैं। स्त्री और पुरुष को साथ बैठकर भोजन नहीं करना चाहिए। स्त्री को भोजन करती, छींकती, जभाई लेती और मनमानी बैठी हुई कभी नहीं देखना चाहिए। अंजन लगाती, तेल मलती, विवस्त्र और बालक पैदा होता हो तो उस समय भी नहीं देखना चाहिए ॥४१-४४॥

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत् ।
न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥ ॥४५॥
न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ।
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदा चन ॥ ॥४६॥
न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नपि न स्थितः ।
न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥ ॥४७॥

ग्रंहस्थ को एक वस्त्र से भोजन, नग्न होकर स्नान, मार्ग में, राख के ढेर पर और गोशाला में मूत्र में नहीं करना चाहिए। हल से जोती जमीन में, जल में, चिता में, पर्वत में, पुराने देव मंन्दिर में और बाम्बी पर भी मूत्र कभी नहीं करना चाहिए। जीव जन्तु वाले गड्ढों में, चलते हुए, खड़ा होकर, नदी के किनारे पर और पहाड़ की चोटी पर भी मूत्र नहीं करना चाहिए। ॥ ४५-४७ ॥

वायुअग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ।
न कदा चन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ ॥४८॥
तिरस्कृत्योच्चरेत् काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना ।
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥ ॥४९॥
मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।
दक्षिणाऽभिमुखो रात्रौ संध्यायोश्च यथा दिवा ॥ ॥५०॥
छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।
यथासुखमुखः कुर्यात् प्राणबाधभयेषु च ॥ ॥५१॥

वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल और गौ को सामने देखकर कभी मल-मूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए।
शरीर और सर को वस्त्र से ढककर, मौन होकर, लकड़ी, ढेला, वृक्ष का गिरा पत्ता या तिनके से भूमि को ढककर मल-मूत्र त्याग करने को बैठना चाहिए। दिन में उत्तर दिशा और रात में दक्षिण दिशा को मुख करके मल-मूत्र करना चाहिए। दिन हो या रात हो दिशा का ज्ञान न होने पर, छाया में, अंधेरे में या जहां प्राण का भय हो, तब जिस

दिशा में इच्छा हो उसी तरफ़ मुख किया जा सकता है। ॥ ४८-५१ ॥

प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजम् ।
प्रतिगु प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥ ॥५२॥
नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नैक्षेत च स्त्रियम् ।
नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ॥५३॥
अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत् ।
न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥ ॥५४॥

जो गृहस्थ अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, ब्राह्मण, गौ और वायु के सम्मुख होकर मल-मूत्र करता है, उसकी बुद्धि बिगड़ जाती है। अग्नि को मुख से फूंकना और नग्न स्त्री को देखना अनुचित है। अग्नि में कोई अपवित्र चीज़ डालना और पैर के तलवा को उसमें सेंकना नहीं चाहिए। खाट के नीचे आग रखना, उसको उलांघ कर जाना और पैर के नीचे भी नहीं दबाना चाहिए। जिसमें प्राणबाधा का भय हो ऐसा परिश्रम नहीं करना चाहिए। ॥५२-५४॥

नाश्नीयात् संधिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत् ।
न चैव प्रलिखेद् भूमिं नात्मनोऽपहरेत् स्रजम् ॥ ॥५५॥
नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत् ।
अमेध्यलिप्तमन्यद् वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ॥५६॥
नैकः सुप्यात्शून्यगेहे न श्रेयांसं प्रबोधयेत् ।
नोदक्ययाऽभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः ॥ ॥५७॥

सायंकाल में भोजन, एक गाँव से दूसरे गाँव को जाना और सोना नहीं चाहिए । धरती पर नाखून से लिखना और गले में से अपनी माला स्वयं नहीं निकालनी चाहिए। मूत्र, मल, थूक, जिस वस्तु में अपवित्र कुछ लगा हो और ज़हर इन सबको जल में नहीं डालना चाहिए। सूने घर में अकेला सोना, अपने से बड़े को उपदेश देना, रजस्वला स्त्री से बातचीत करना और बिना निमन्त्रण यज्ञ में जाना यह सभी अनुचित हैं। ॥५५-५७॥

अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च संनिधौ ।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ ॥५८॥
न वारयेद् गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्य चित् ।
न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्य चिद् दर्शयेद् बुधः ॥ ॥५९॥
नाधर्मिके वसेद् ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् ।
नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥ ॥६०॥
न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ।
न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपस्सृटेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥ ॥६१॥

अग्निस्थान, गौशाला, ब्राह्मण के पास, स्वाध्याय के समय और भोजन के समय दाहिना हाथ बाहर कर लेना चाहिए। बच्चे को दूध पिलाती गौ को देखकर उसको हटाना नहीं चाहिए और न ही किसी से कहना चाहिए। आकाश में इन्द्रधनुप देखकर किसी और को दिखाना नहीं चाहिए। जहां अधर्मी रहते हों ऐसे ग्राम में और जहां रोग फैला हो, वहाँ नहीं रहना चाहिए। अकेले दूरदेश की यात्रा नहीं करना चाहिए

और पर्वत के ऊपर बहुत दिन तक निवास नहीं करना चाहिए तथा शूद्र के राज्य में वास नहीं करना चाहिए। अधर्मी, पाखण्डी तथा चण्डाल सेवित ग्राम आदि में नहीं रहना चाहिए। ॥५८-६१॥

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् ॥
नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः ॥ ॥६२॥
न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत् ।
नोत्सङ्गे भक्षयेद् भक्ष्यान्न जातु स्यात् कुतूहली ॥ ॥६३॥
न नृत्येदथ वा गायेन्न वादित्राणि वादयेत् ।
नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥ ॥६४॥

जिस वस्तु से चिकनापन निकाल लिया हो उसको नहीं खाना चाहिए और बहुत शीघ्रता में भी भोजन नहीं करना चाहिए। बहुत सुबह और शाम को भी भोजन नहीं करना चाहिए और जिसने सुबह अधिक भोजन कर लिया हो, उसको सांयकाल में भोजन नहीं करना चाहिए। मुख, हाथ, पाँव से व्यर्थ चेष्टा नहीं करनी चाहिए। अँजुली से पानी पीना, गोद में अन्न रखकर खाना और बिना कारण दूसरे की बातें को जानने की आदत रखना, नाचना गाना, बजाना, किसी चीज़ को ठोकना, ज्यादा हँसना, खुशी से ज्यादा चिल्लाना-यह सभी काम नहीं करने चाहिए। ॥६२-६४॥

न पादौ धावयेत् कांस्ये कदा चिदपि भाजने ।
न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥ ॥६५॥
उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।

उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥ ॥६६॥
नाविनीतैर्भजेद् धुर्यैर्न च क्षुध्व्याधिपीडितैः।
न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ॥ ॥६७॥
विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः ।
वर्णरूपोपसम्पन्नैः प्रतोदेनातुदन् भृशम् ॥ ॥६८॥

कांसे के बर्तन में पैर नहीं धोने चाहिए। फूटे पात्र अथवा जिसमें संदेह हो उस पात्र में भोजन नहीं करना चाहिए। दूसरे का पहने हुए जूता, कपड़ा, जनेऊ, गहना, फूलों की माला और कमण्डल आदि को धारण नहीं करना चाहिए। जो बैल सीधा हो, भूखा न हो, सींग, आँख, खुर ठीक हो, पूंछ इत्यादि कट जाने से कुरूप न दिखता हो, ऐसे बैल की सवारी में बैठना चाहिए । जो सध गये हों, तेज हों, सुन्दर हों, उनकी सवारी में बैठना और ज्यादा हाँकना व मारना नहीं चाहिए । ॥६५-६८॥

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथाऽसनम् ।
न छिन्द्यान्नखरोमाणि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥ ॥६९॥
न मृत्लोष्ठं च मृद्नीयान्न छिन्द्यात् करजैस्तृणम् ।
न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥ ॥७०॥
लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकाऽशुचिरेव च ॥ ॥७१॥
न विगर्ह्य कथां कुर्याद् बहिर्माल्यं न धारयेत् ।
गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ॥७२॥

प्रातःकाल का धूप, चिता का धूम, और फटा आसन इनको बचाना चाहिए । नाखूनों और बालों को उखाड़ना और दातों से नाखूनों से चबाना नहीं चाहिए। मिटटी के टुकड़ों को हाथ से न तोड़े, नख से तिनुका न तोड़े और जिसका नतीजा खराब हो ऐसा काम न करें। जो मनुष्य ढेला तोड़ता है, तृण तोड़ता है, नख चबाता हैं, चुगली करता है और भीतर-बाहर से मलिन रहता है वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। निन्दा की कोई कथा नहीं करनी चाहिए, माला को वस्त्र के बाहर नहीं पहनना चाहिए और गौ की पीठ पर बैठकर कहीं नहीं जाना चाहिए। ॥६६-७२॥

अद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वाऽवृतम् ।
रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ॥७३॥
नाक्षैर्दीव्येत् कदा चित् तु स्वयं नोपानहौ हरेत् ।
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ॥७४॥
सर्वं च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ ।
न च नग्नः शयीतैह न चोच्छिष्टः क्व चिद् व्रजेत् ॥ ॥७५॥

जो गाँव का रास्ता हो उसको छोड़कर किसी खराब गली में नहीं घुसना चाहिए और जो घर बन्द हो उसमें सीढ़ी आदि लगाकर अंदर नहीं जाना चाहिए। रात में वृक्षों की जड़ से दूर रहना चाहिए। जुआ कभी नहीं खेलना चाहिए। अपना जूता स्वयं ही हाथ में लेकर नहीं चलना चाहिए। सोते हुए खाना नहीं खाना चाहिए, हाथ में खाना रखकर दूसरे हाथ से भी नहीं खाना चाहिए और बैठने के आसन पर रखकर भी नहीं खाना चाहिए। सूर्य अस्त हो जाने के बाद जिसमें

तिल मिला हो वह चीज़ नहीं खानी चाहिए। नग्न नहीं सोना चाहिए और जूठे मुँह कहीं इधर उधर भी नहीं जाना चाहिए। ॥७३-७५॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ॥७६॥
अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हि चित् ।
न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥ ॥७७॥
अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः ।
न कार्पासास्थि न तुषान् दीर्घमायुर्जिजीविषुः॥ ॥७८॥
न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ॥७९॥

गीले पाँव से अर्थात् पैर धोकर भोजन करना परन्तु गीले पैरों से सोना नहीं चाहिए। जो हाथ पैर धोकर पवित्रता से भोजन करता है वह दीर्घ आयु होता है। अनजाने किले इत्यादि में कभी नहीं जाना चाहिए। मल-मूत्र को नहीं देखना चाहिए और दोनों भुजाओं से नदी तैर कर पार नहीं जाना चाहिए। बाल, राख, हड्डी, टूटा ठीकरा, बिनौले[27] और भूसी के ऊपर नहीं बैठना चाहिए । इन पर जो नहीं बैठता उसकी उम्र बढ़ती है । पातित, चाण्डाल आदि हीन जाति तथा मूर्ख, अभिमानी के साथ उठना-बैठना नहीं चाहिए ॥७६-७९॥

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।

---

[27] कपास के बीज

न चास्योपदिशेद् धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥ ॥८०॥
यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् ।
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥ ॥८१॥
न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः।
न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद् विना ततः ॥ ॥८२॥

शूद्र को वेद आदि शास्त्र नहीं पढ़ाना चाहिए और झूठा अन्न, हविष्य इत्यादि भी नहीं देना चाहिए । शूद्र को धर्म का उपदेश नहीं देना चाहिए और उसको चान्द्रायण आदि व्रतों का उपदेश वेदमन्त्रों से न बताना चाहिए। जो पुरुष, शूद्र को धर्म, व्रत आदि का उपदेश देता है, वह उस शूद्र के साथ, असंवृत नामक नरक में पड़ता है। दोनों हाथों से अपना सर नहीं खुजलाना चाहिए, झूठे मुख सर को नहीं छूना चाहिए और सिर भिगोए बिना स्नान नहीं करना चाहिए अर्थात् नित्य सिर से स्नान करना चाहिए ॥ ८०-८२ ॥

केशग्रहान् प्रहारांश्च शिरस्येतान् विवर्जयेत् ।
शिरःस्नातश्च तैलेन नाङ्गं किं चिदपि स्पृशेत् ॥ ॥८३॥
न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः ।
सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम् ॥ ॥८४॥
दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ ॥८५॥
दश सूणासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः।
तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥ ॥८६॥

किसी के सिर के बाल खींचना या उस पर मारना अनुचित है। जिस हाथ से सिर पर तेल छोड़े उस हाथ से दूसरे अङ्ग का स्पर्श न करे। जो राजा, क्षत्रिय के वीर से पैदा नहीं हुआ हो उसका दान नहीं लेना चाहिए। कसाई, तेली, कंलवार, और वेश्याओं के जरिये जो जीविका चलाते हैं इन सबसे दान नहीं लेना चाहिए !

दस कसाई के बराबर एक तेली, दस तेली के समान एक कलवार, दस कलवारों के बराबर एक वेश्याज्ञीवी, और दश वेश्या जीवियों के बराबर एक राजा होता है । दस हज़ार कसाई खाना चलानेवाले एक कसाई के समान राजा कहा गया हैं। इसलिए उसका दान अत्यंत भयानक है ॥ ८३-८६ ।

योराज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्यौच्छास्त्रवर्तिनः।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ॥८७॥
तामिस्त्रमन्धतामिस्त्रं महारौरवरौरवौ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ ॥८८॥
सञ्जीवनं महावीचिं तपनं सम्प्रतापनम्।
संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम् ॥ ॥८९॥
लोहशङ्कुं ऋजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् ।
सिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ॥९०॥

जो ब्राह्मण लोभी और शास्त्र के विरुद्ध कर्म करनेवाले राज से दान लेता है वह क्रम से, नीचे लिखे इक्कीस नरक में जाता है । तामिस्त्र,

अन्धतामिस्र, महारौरव, रौरव, कालसूत्र, महानरक, संजीवन, महावीची, तपन, संप्रतापन, संहात, सकाकोल, कुडमल, प्रतिमूर्तिक, लोहशङ्क, ऋजीष, पंथा, शाल्मली, वैतरणी नदी, असिपत्रवन और लोहदारक ॥ ८७-९० ।।

एतद् विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥ ॥९१॥
ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ॥९२॥
उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम् ॥ ॥९३॥
ऋषयो दीर्घसंध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः। प्र
ज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ॥९४॥

इस प्रकार जो सब विषय जानते हैं के वेदज्ञ-विद्वान् ब्राह्मण परलोक में सुख पाने की इच्छा से राजा का दान नहीं लेते हैं । ब्राह्ममुहूर्त-दो घड़ी सवेरे उठकर अपना धर्म और अर्थ को और उसके लिए आवश्यक शरीर श्रम का विचार करना चाहिए। वेदचिन्तन और परमात्मा का स्मरण करना चाहिए। प्रातःकाल उठकर शौच आदि से निवृत्त होकर स्नान और सन्ध्या करके गायत्रीजप करना चाहिए और सायंकाल को भी नक्षत्र दर्शन तक सन्ध्या गायित्री का अनुष्ठान करना चाहिए। ऋषियों ने चिरकाल तक सन्ध्या, गायत्री की उपासना से दीर्घायु, बुद्धि, यश, कीर्ति और ब्रह्मतेज को प्राप्त किया था ॥९१ - ९४॥

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि । यु
क्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान्॥ ॥९५॥
पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद् बहिरुत्सर्जनं द्विजः ।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥ ॥९६॥
यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ।
विरमेत् पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ॥९७॥
अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत् ॥ ॥९८॥

श्रावण की पूर्ण या भाद्र की पूर्णा को विधि से उपाकर्म करके ब्राह्मण साढ़े चार महीने तक नियम से वेदाध्ययन करना चाहिए। फिर पौष की पूर्णा को या माघ की प्रतिपदा को नगर के बाहर जाकर, पूर्वाह्न में वेद का उत्सर्ग करना चाहिए। उसके बाद दो दिन और बीच की रात या एक दिन रात ही अनाध्याय रखना चाहिए। फिर, नियम से शुक्लपक्ष में वेदों का अध्ययन और कृष्णपक्ष में वेद के अङ्गों का अध्ययन करना चाहिए ॥ ९५-९८ ॥

अनध्याय तथा वेद पाठ-नियम

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ ।
न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ॥ ॥९९॥
यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् ।
ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥ ॥१००॥

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् ।
अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥ ॥१०१॥
कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने ।
एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥ ॥१०२॥
विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च सम्प्लवे ।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥ ॥१०३॥

वेद को अस्पष्ट रूप से नहीं पढना चाहिए और किसी शुद्र के समीप भी नहीं पढना चाहिए। प्रात: काल में वेदाध्ययन से थककर, पुन: नही सोना चाहिए। इस प्रकार नित्य मन्त्र भाग का अध्ययन करना, या हो सके तो मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भाग का अध्ययन करना चाहिए। वेदाध्ययन और शिष्यों को अध्यापन, करानेवालों को अनध्यायों में वेदपाठ नहीं करना चाहिए। रात में वायु की सनसनाहट कान में सुन पड़े और दिन में धूल की वर्षा हो तब वर्षाकाल में अनध्याय करना चाहिए। बिजली की चमक, मेघ की गरज और जल वर्षा, बड़ा उल्कापात यह जब तक हो तब तक अनध्याय रखना चाहिए। यह मनुजी की आज्ञा है ॥९९-१०३ ॥

एतांस्त्वभ्युदितान् विद्याद् यदा प्रादुष्कृताग्निषु ।
तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ ॥१०४॥
निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ।
एतानाकालिकान् विद्यादनध्यायान् ऋतावपि ॥ ॥१०५॥

वर्षाकाल में प्रातःकाल और सायंकाल होमार्थ अग्नि प्रज्वलित करते समय, बिजली, वर्षा और मेघगर्जना होने पर, या वर्षा के सिवा असमय बादल हो जाने पर, अनध्याय करना चाहिए। अकाश में कड़ाका, भूकम्प और सूर्य, चन्द्र का ग्रहण होने पर, उतने काल के लिए अनध्याय करना चाहिए और वर्षाऋतु में इन बातों के होनेपर भी 'आकालिक अनध्याय' समझना चाहिए ॥१०४-१०५॥

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने।
सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा ॥ ॥१०६॥
नित्यानध्याय एव स्याद् ग्रामेषु नगरेषु च ।
धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥ ॥१०७॥
अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ ।
अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ ॥१०८॥
उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने ।
उच्छिष्टः श्राद्धभुक् चैव मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥ ॥१०९॥
प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् ।
त्र्यहं न कीर्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥ ॥११०॥

होम के लिए अग्नि जल जाने पर प्रातःकाल बिजली चमके और मेघ गर्जे तब सायंकाल तक और सांयकाल को हो तब आकाश में नक्षत्र देखने तक अनध्याय करना चाहिए और यह सब उपद्रव एक बार ही हो तो, दिन-रात का, अनध्याय होता है। जो विशेष धर्म का अनुष्ठान करना चाहते हैं उनको गांव, नगर और अपवित्र स्थान में रोज़ ही अनध्याय करना चाहिए अर्थात ऐसे स्थान में जहाँ धर्मकृत्य ठीक नहीं

बन पड़ता। गांव में मुरदा पुड़ा हो, कुकर्मी और पापी के समीप, कोई रोता हो उसके पास, और जहां बहुत मनुष्यों की भीड़ हो, ऐसे स्थानों में अनध्याय करना चाहिए। जल के बीच, आधी रात को, मल-मूत्र करते, जूठे मुख से और श्राद्ध में भोजन करके, मन से भी वेद मन्त्रों का स्मरण नहीं करना चाहिए। एकोद्दिष्ट श्राद्ध का न्योता मानकर, राजमृत्यु होने पर और सूर्य-चन्द्र के ग्रहण होने पर तीन दिन वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए ॥१०६-११०॥

यावदेकानुदिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति ।
विप्रस्य विदुषो देहे तावद् ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥ ॥१११॥
शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम् ।
नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥ ॥११२॥
नीहारे बाणशब्दे च संध्ययोरेव चोभयोः ।
अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्य्ऽष्टकासु च ॥ ॥११३॥

जब तक एकोद्विष्ट श्राद्ध का चन्दन और लेप की गन्ध शरीर में रहे तब तक विद्वान् ब्राह्मण को अनध्याय करना चाहिए। सोता हुए, पांव पसारकर, दोनों घुटनों को बांधकर, मांस भक्षण और जन्म मरण के सूतक का अन्न खाकर भी अनध्याय करना। कोहरा पड़े, बाण शब्द हो, प्रातःकाल और सांयकाल की सन्धि में, अमावास्या, चतुर्दशी,पूर्णिमा और अष्टमी को अनध्याय करना चाहिए॥१११-११३॥

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।
ब्रह्माष्टकपौर्णमास्यौ तस्मात् ताः परिवर्जयेत् ॥ ॥११४॥

पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा ।
श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तो च न पठेद् द्विजः ॥ ॥११५॥
नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।
वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ ॥११६॥
प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत् किं चित्श्राद्धिकं भवेत् ।
तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः॥ ॥११७॥

अमावास्या को वेदाध्ययन करने से गुरु का और चतुर्दशी को शिष्य का नाश होता है। अष्टमी को पढ़ने से वेद भूल जाता है। इस लिए इन सभी अनध्यायों में वेदपाठ मना है। धूल की वर्षा, दिशाओं का दाह, शृगाल, कुत्ता, गधा और ऊँटों के रोने पर और ये सब एक पंक्ति में बैठे हों, उस समय अनध्याय का आचरण करना चाहिए । श्मशान के पास, गांव की सीमा पर, गौओं के चरने के स्थान में, मैथुन समय के वस्त्र पहनकर और श्राद्ध में भोजन करके वेदपाठ नहीं करना चाहिए। कोई पदार्थ जीवधारी हो या जड़, हो, कुछ भी श्राद्ध में वस्तु देकर अनध्याय करना चाहिए। क्योंकि शास्त्र में ब्राह्मण का हाथ ही मुखरूप है, इसलिए भेंट लेना भी भोजन माना जाता है ॥११४-११७॥

चोरैरुपद्रुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते ।
आकालिकमनध्यायं विद्यात् सर्वाद्भुतेषु च ॥ ॥११८॥
उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् ।
अष्टकासु त्वहोरात्रं ऋत्वन्तासु च रात्रिषु ॥ ॥११९॥
नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम् ।
न नावं न खरं नोष्ट्रं नैरिणस्थो न यानगः ॥ ॥१२०॥

चोरों के उपद्रव वाले गांव में ,आग लगाने पर और आकाश अथवा पृथिवी पर आश्चर्य जनक घटना होने पर, उस काल तक अनध्याय का आचरण करना चाहिए । उपाकर्म और वेद के उत्सर्ग में तीन, रात अनध्याय मानना चाहिए। अष्टका और ऋतु के अन्त में एक दिन रात अनध्याय करना चाहिए। घोड़े पर, वृक्ष पर, हाथी पर, नाव पर,गधे पर, ऊंट पर, बंजर भूमि में और सवारी में बैठकर वेद नहीं पढ़ना चाहिए ॥ ११८-१२० ॥

न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे ।
न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न शुक्तके ॥ ॥१२१॥
अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम् ।
रुधिरे च स्नुते गात्राात्शस्त्रेण च परिक्षते ॥ ॥१२२॥
सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदा चन ।
वेदस्याधीत्य वाऽप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥ ॥१२३॥
ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ।
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात् तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥ ॥१२४॥
एतद् विद्वन्तो ??विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् ।
क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद् वेदमधीयते ॥ ॥१२५॥

जहां किसी बात पर बहस होती हो, झगड़ा हो, सेना लड़ाई में, भोजन करते समय, अजीर्ण होने पर, वमन करके और सूतक में वेद नहीं पढ़ना चाहिए। अतिथि की आज्ञा लिए बिना, ज़ोर से हवा चलती हो, सिर से खून गिरता हो और शस्त्र से घायल हो जाने पर वेदाध्ययन

नहीं करना चाहिए। सामवेद का पाठ होता हो, तब ऋग्वेद और यजुर्वेद का पाठ नहीं करना चाहिए। वेद को समाप्त करके और आरण्यक का पाठ करके, एक दिन रात वेदन्तर को नहीं पढ़ना चाहिए । ऋग्वेद का देव देवता है अर्थात् उसमें देव स्तुतियां हैं। यजुर्वेद मानुष हैं, अर्थात् उसमें मनुष्य को कर्मकाण्ड कहा है। सामवेद पितृदैवत है अर्थात् पितरों का माहात्म्य उसका मुख्य विषय है। इस लिए सामवेद की ध्वनि ऋक् और यजु की अपेक्षा अशुचि, अपवित्रसी है। इन सब बातों को जाननेवाले विद्वानों को नित्य तीनों वेद के सारभूत ओमकार, तीन व्याहृति 'भू' भुवः स्वः' और गायत्री का क्रम से उच्चारण करके वेदाध्ययन करना चाहिए ॥ १२१-१२५ ॥

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः ।
अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ ॥१२६॥
द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धमात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥ ॥१२७॥

पशु, गौ आदि, मेंढ़क, कुत्ता, सांप, नेवला और चूहा ये पढ़ते समय गुरु-शिष्य के बीच में होकर निकल जायँ तो एक दिन-रात का अनध्याय करना चाहिए। पढ़ने का स्थान या आप अपवित्र हो, इन दो अनध्यायों को अवश्य मानना चाहिए ॥ १२६-१२७ ॥

विधि और निषेध

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।

ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यर्तौ स्नातको द्विजः ॥ ॥१२८॥
न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा नातुरो न महानिशि ।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥ ॥१२९॥
देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ।
नाक्रामेत् कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥ ॥१३०॥
मध्यंदिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम् ।
संध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ ॥१३१॥

स्नातक द्विज अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी के दिन ऋतु हो तो भी स्त्री-सहवास न करे। भोजन करने के बाद, रोगी शरीर में, और आधी रात को स्नान नहीं करना चाहिए । बहुत कपड़े पहन कर और बिना जाने तालाब आदि में स्नान नहीं करना चाहिए। देव मूर्ती, गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य, कपिला गौ, और यज्ञ में दीक्षित पुरुष की छाया को कभी नहीं उलंघना चाहिए। दोपहर, आधीरात, श्राद्ध में मांस आदि भोजन करके, प्रातःसंध्यां और सांयसंध्या के समय और चौराहे में अधिक समय तन नहीं रहना चाहिए ॥१२८-१३१॥

उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च ।
श्लेश्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत् तु कामतः ॥ ॥१३२॥
वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः ।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥ ॥१३३॥
न हीदृशमनायुष्यं लोके किं चन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ ॥१३४॥

उबटन, स्नान से बचा जल, विष्ठा, मूत्र, रुधिर, खखार, थूक और वमन इनको जानकर छूना नहीं चाहिए । शत्रु, शत्रु का मददगार, अधर्मी, चोर और परस्त्री इनके साथ नहीं रहना चाहिए। इस संसार में मनुष्य के आयु का नाश करनेवाला जैसा परस्त्री सहवास है वैसा दूसरा कोई पदार्थ नहीं है ॥ १३२-१३४ ॥

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् ।
नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदा चन ॥ ॥१३५॥
एतत् त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम् ।
तस्मादेतत् त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ ॥१३६॥
नात्मानमवमन्येत पुर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आ मृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ ॥१३७॥
सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ ॥१३८॥

जो पुरुष अपना भला चाहे उसको क्षत्रिय, सांप और वेदज्ञ ब्राह्मण यदि दुर्बल हो तो भी इनका अपमान नहीं करना चाहिए ये तीनों अपमानित होकर पुरुष का नाश कर देते हैं, इसलिये बुद्धिमान् को इनका अपमान कभी भी नहीं करना चाहिए। पूर्वजों की संपत्ति नहीं है, या कोई उपार्जन की रीति सफल नहीं हुई इन सब बातों के होते भी पुरुष को अपना अपमान-अर्थात् मैं अभागा हूँ, किसी लायक नहीं हूँ इत्यादि कहकर अपना अपमान हीं करना चाहिए। अपितु सर्वदा उद्योग करते रहना चाहिए और लक्ष्मी को दुर्लभ नहीं मानना चाहिए । सत्य वचन बोलना चाहिए और प्रिय लगने वाला सत्य मीठे वाणी से

बोलना चाहिए। जो प्रिय न लगे ऐसा, सत्य, भी नहीं कहना चाहिए और प्रिय लगनेवाली झूठी बात भी नहीं कहनी चाहिए यह सनातन काल से चला आ रहा धर्म है ॥ १३५-१३८॥

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद् भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात् केन चित् सह ॥ ॥१३९॥
नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यंदिने स्थिते ।
नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह ॥ ॥१४०॥
हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् वयोऽधिकान् ।
रूपद्रविणहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥ ॥१४१॥

जहां अभद्र हो वहां भी भद्रशब्द से हीं बोलना चाहिए। सब से मिल कर 'अच्छे हो' 'कुशल है', इत्यादि बोलना चाहिए। व्यर्थे झड़गा किसी से नहीं करना चाहिए। बहुत सवेरे, बहुत शाम को और दोपहर में अकेले कहीं नहीं जाना चाहिए। अनजाने मनुष्य के साथ, अकेले और कुकर्मी और पापी के साथ कहीं नही जाना चाहिए। काना, लूला, अधिक अंग वाला इत्यादि, विद्याहीन, अपने से अधिक उम्रवाला, कुरूप, निर्धनः और हीन जाति वाले को कभी कुवाच्य:- काना, मूर्ख, कमीना अदि नहीं कहना चाहिए। ॥ १३९-१४१॥

न स्पृशेत् पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलाण् ।
न चापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान् दिवा॥ ॥१४२॥
स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् ।
गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥ ॥१४३॥

अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः ।
रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥ ॥१४४॥
मङ्गलाचारयुक्तः स्यात् प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ ॥१४५॥
मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ ॥१४६॥

ब्राह्मण को झूठे मुख से या, अपवित्र दशा में गौ, ब्राह्मण और अग्नि को नहीं छूना चाहिए और शरीर निरोग होने पर, अपवित्र दशा में, आकाश में सूर्य, चन्द्र आदि नहीं देखना चाहिए। अपवित्र दशा में गौ, ब्राह्मण और अग्नि का स्पर्श हो जाने पर जल से नेत्र श्रादि इन्द्रियों का स्पर्श करे और गीली हथेली से नाभि को छुए। स्वस्थ व्यक्ति को अकारण अपनी इन्द्रियों को नहीं छूना चाहिए और गुप्तांगों के रोम भी न छुवे। सदा मङ्गल वस्तुओं का सेवन, मन को अपने वश में रखना, गायत्री आदि का जप और हवन सदा करना चाहिए। मङ्गलाचार करनेवाला, जप हवन करनेवाला, जितेन्द्रिय मनुष्य इस लोक और परलोक में सुख पाता है ॥ १४२-१४६॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ ॥१४७॥
वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ ॥१४८॥

द्विज को सावधान होकर रोज वेदपाठ करना चाहिए, यह मुख्य धर्म है । अन्य सभी गौण धर्म हैं। वेदाभ्यास, पवित्रता, जप और प्राणियों से प्रीति करने से मनुष्य को अपने पूर्वजन्म का स्मरण होता है। ॥१४७-१४८ ॥

पौर्विकीं संस्मरन् जातिं ब्रह्मैवाभ्यस्यते पुनः।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ ॥१४९॥
सावित्रान् शान्तिहोमांश्च कुर्यात् पर्वसु नित्यशः।
पितृंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥ ॥१५०॥
दूरादावसथान् मूत्रं दूरात् पादावसेचनम् ।
उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥ ॥१५१॥
मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ ॥१५२॥
दैवतान्यभिगच्छेत् तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् ।
ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु । ॥१५३॥

द्विज पूर्व जन्म की जाति को स्मरण करता हुआ वेद का स्वाध्याय किया करता है और वेदाभ्यास से अक्षय सुख पाता है। द्विज को पर्व दिनों में और नित्य भी शान्ति होम आदि करना चाहिए । अष्टका और अन्वष्टका में श्राद्ध द्वारा पितरों का पूजन करना चाहिए। हवन स्थान से दूर पर मल मूत्र का त्याग, पैर धोना, जूठे अन्न का त्याग इत्यादि करना चाहिए। शौच, दातुन, स्नान, अंजन, लेपन और देवता का पूजन यह सब प्रातः काल में ही करना चाहिए। पर्व दिनों में

देवमूर्ति, श्रेष्ठ ब्राह्मण, राजा, पिता और गुरुजनों का दर्शन अवश्य करना चाहिए ॥१४६-१५३॥

अभिवादयेद् वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ ॥१५४॥
श्रुतिस्मृत्योदितं सम्यग् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ ॥१५५॥

गुरु आदि वृद्ध-मान्य पुरुष घर पधारें तो उनको प्रणाम करना चाहिए, बैठने को आसन देना चाहिए, हाथ जोड़कर पास बैठना चाहिए और जाने लगें तो कुछ दूर पहुंचाने को जाना चाहिए । गृहस्थ को आलस्य छोड़ कर, श्रुति और स्मृति में कहे हुए कर्म वेद पाठ, व्रत आदि और नित्य कर्म और धर्म का मूलभूत सदाचार को सदा करना चाहिए। ॥१५४-१५५ ॥

आचारात्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ॥१५६॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ ॥१५७॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ ॥१५८॥

सदाचार के पालन से दीर्घ आयु, मनचाही सन्तान और अक्षय धन मिलता है और आचार से ही कुलक्षणों का विनाश होता है । दुराचारी

पुरुष की निन्दा संसार में होती हैं। वह सदा दुःख पाता है, रोगी रहता हैं और कम उमर पाता है। जो पुरुष दूसरे शुभ लक्षणों से रहित भी हो, पर सदाचार में लगा रहता हो, शास्त्र में भक्ति रखता हो, ईर्षा रहित हो तो उसकी उम्र सौ वर्ष की होती है ॥१५६-१५८॥

यद् यत् परवशं कर्म तत् तद् यत्नेन वर्जयेत् ॥
यद् यदात्मवशं तु स्यात् तत् तत् सेवेत यत्नतः । ॥१५९॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ ॥१६०॥
यत् कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः ।
तत् प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ ॥१६१॥
आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ।
न हिंस्याद् ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥ ॥१६२॥
नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥ ॥१६३॥

संसार में जो जो काम दूसरे के अधीन हों उनको यत्न से छोड़ देना चाहिए। और जो जो काम अपने से करने वाले हों उनको यत्न से करना चाहिए। जो पराधीन विषय हैं उन सभी में दुःख और जो स्वाधीन हैं, उनमें सुख होता है। यही सुख दुःख को संक्षेप में लक्षण है । जिस कर्म के करने से पुरुष की आत्मा सुख- संतोष पाए उसी कर्म को यत्न से करना चाहिए और जिसको करने से मन को दुःख पहुँचे वह काम छोड़ देना चाहिए । यज्ञोपवीत देने वाला अचार्य, वेद व्याख्या करनेवाला, पिता, माता गुरु, गौ और सभी प्रकार के

तपस्वियों के चित्त दुखानेवाला कोई काम नही करना चाहिए। स्वर्ग, ईश्वर आदि को न मानने वाली नास्तिक बुद्धि, वेद निंदा, देवताओं की निंदा, द्वेष, दंभ, अभिमान, क्रोध और क्रूरता को छोड़ देना चाहिए। ॥ १५९-१६३ ॥

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत् क्रुद्धो नैनं निपातयेत् ।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद् वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत् तु तौ ॥ ॥१६४॥
ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया।
शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्तते ॥ ॥१६५॥
ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भात्मतिपूर्वकम् ।
एकविंशतीमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥ ॥१६६॥
अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः ।
दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतया नरः ॥ ॥१६७॥
शोणितं यावतः पांसून् सङ्गृह्णाति महीतलात् ।
तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते ॥ ॥१६८॥

क्रोध में फिर किसीको मारने के लिए लकड़ी नहीं उठानी चाहिए। शुत्र और शिष्य के सिवा दूसरे को भी लकड़ी से नहीं मारना चाहिए परन्तु शिक्षा के लिए पुत्र और शिष्य दोनों को मारना उचित है। गृहस्थ यदि ब्राह्मण को मारने की इच्छा से लकड़ी उठाये तो सौ वर्ष तामिस्र नरक को भोगता है। यदि ब्राह्मण को क्रोधवश तिनके से भी जानकर मारे तो इक्कीस जन्म तक पाप योनि में जन्म लेना पड़ता है। जो पुरुष, ब्राह्मण को भूल से भी मारता है और ब्राह्मण के शरीर से रुधिर निकालता है तो वह अपनी भूल से भी मारने के बाद अत्यधिक दुःख

पाता है। ब्राह्मण के शरीर का रुधिर, भूमि में जितने रजकणो पर फैलता है उतने वर्ष तक उस मनुष्य को परलोक में रुधिर निकालने चाले जीव काट काट कर दुःख देते हैं ॥१६४-१६८॥

न कदा चिद् द्विजे तस्माद् विद्वानवगुरेदपि ।
न ताडयेत् तृणेनापि न गात्रात् स्रावयेदसृक् ॥ ॥१६९॥
अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नैहासौ सुखमेधते ॥ ॥१७०॥

इसलिए बुद्धिमान पुरुष को कभी भी द्विज के सामने लकड़ी नहीं उठानी चाहिए। उसको तिनके से भी नहीं मारना चाहिए। उसके शरीर में रुधिर नहीं निकलना चाहिए। अधर्मी पापी पुरुष, झूठी गवाही देकर धन लेनेवाला, और नित्य हिंसा में लगा हुआ। इस लोक में सुख नहीं पाते वह सदा दुःखी रहते हैं ॥१६९-१७०॥

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकानां पापानामाशु पश्यन् विपर्ययम् ॥ ॥१७१॥
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्यमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ ॥१७२॥
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ ॥१७३॥
अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ ॥१७४॥

अधर्मी-पापी पुरुष की दशा बदलती अर्थात् उन्नति आदि होते देखकर पुरुष को धर्माचरण करने में दुःख भी होता हो तब भी धर्माचरण को नहीं छोड़ना चाहिए। धर्म में ही संलग्न रहना चाहिए। जैसे भूमि में बीज बोने पर वह तत्काल फल नहीं दे सकता वैसे ही अधर्म का फल भी तुरंत नहीं मिलता। किन्तु धीरे धीरे फैलता हुआ अधर्म करनेवाले की जड़ काट देता है। अधर्म का फल यदि अधर्म करने वाले को नहीं मिला तो उसके पुत्र को मिलता है, पुत्र को नहीं मिला तो पौत्र को अवश्य मिलता है, परन्तु कभी निष्फल नहीं जाता अर्थात बिना फल भोग दिए अधर्म पीछा नहीं छोड़ता। अधर्मी पहले धन आदि से बढ़ता है। सुख भोगता है, अपने शत्रुओं को जीत लेता है, लेकिन अन्त में जड़ मूल से नष्ट होजाता है ॥१७१-१७४

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद् धर्मेण वाच्।बाहूदरसंयतः ॥ ॥१७५॥
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकसङ्क्रुष्टमेव च ॥ ॥१७६॥
न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः।
न स्याद् वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥ ॥१७७॥

सदैव सत्य, धर्म और सदाचार में सदा लगा रहना चाहिए। जीभ, हाथ और पेट को नियम में रखकर, पुत्र, स्त्री आदि को शिक्षा देनी चाहिए । जो धर्म से रहित हो ऐसे अर्थ-काम को छोड़ देना चाहिए। परिणाम में दुःख देनेवाला धर्म भी नहीं करना चाहिए और जिस धर्म के आचरण से लोक में निन्दा हो वह धर्म भी नहीं करना

चाहिए। पुरुष को हाथ, पैर और आंखों की चञ्चलता नहीं करनी चाहिए। झूठी, सच्ची लोक निंदा आदि से वाणी की चंचलता भी नहीं रखनी चाहिए, और दूसरे को हानि पहुँचाने का विचार भी कभी नहीं करना चाहिए ॥१७५-१७७॥

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति ॥ ॥१७८॥
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः ॥ ॥१७९॥
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ ॥१८०॥
एतैर्विवादान् संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
एतैर्जितैश्च जयति सर्वान्लोकानिमान् गृही ॥ ॥१८१॥

जिस उत्तम मार्ग का आचरण अपने बाप, दादा ने किया हो उसी मार्ग का आचरण करना चाहिए। इस प्रकार के आचरण से पुरुष अधर्म से नष्ट नहीं होता। ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, आश्रित, बालक, बूढ़ा, रोगी, वैद्य, जाति के पुरुष, नातेदार, कुटुम्बी, माता, पिता, देवरानी, जेठानी, ननद, भाभी आदि भाई, पुत्र, स्त्री, बेटी और नौकरों के साथ झगड़ा नहीं करना चाहिए। गृहस्थ इनके साथ झगड़ा न करे तो सभी पापों से छूट जाता है और इनको वश में करके सब लोक में जय पाता है ॥ १७८-१८१।।

आचार्यो ब्रह्मलोकैशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ।

अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥ ॥१८२॥
जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः । सं
बन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥ ॥१८३॥
आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः ।
भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥ ॥१८४॥

आचार्य ब्रह्मलोक का स्वामी है। पिता प्रजापति, अतिथि इन्द्रलोक के, ऋत्विक देवलोक का प्रभु है। पुत्रवधू आदि अप्सरालोक की अधीश्वरी हैं। कुटुंबी वैश्वदेव लोक, नातेदार वरुणलोक और पिता माता भूलोक के ईश्वर हैं। बालक, वृद्ध, दुर्बल और रोगी आकाश के ईश्वर हैं। बड़ा भाई पिता के समान है। स्त्री और पुत्र को अपना शरीर जानना चाहिए ॥ १८२-१८४ ॥

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासञ्ज्वरः सदा ॥ ॥१८५॥

अपनी छाया दासजन हैं और पुत्री कृपापात्र है। इस कारण इन सब लोगों से अपना अपमान होने पर भी उसको सहन कर लेना चाहिए किन्तु झगड़ा नहीं करना चाहिए ॥ १८५॥

दान-निर्णय

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत्।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ ॥१८६॥

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ ॥१८७॥
हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान् घृतम्।
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥ ॥१८८॥
हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गोश्चाप्योषतस्तनुम्।
अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥ ॥१८९॥
अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनैव सह तेनैव मज्जति ॥ ॥१९०॥
तस्मादविद्वान् बिभियाद् यस्मात् तस्मात् प्रतिग्रहात्।
स्वल्पकेनाप्यविद्वान् हि पङ्के गौरिव सीदति ॥ ॥१९१॥

ब्राह्मण अपनी तपस्या से दान लेने की शक्ति रखता हो तब भी उसमें प्रीति न रक्खे । प्रतिग्रह-दान लेने से ब्रह्मतेज शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। बिना धर्मानुसार विधि जाने, द्रव्यदान, दुःखी होने पर भी नहीं लेना चाहिए। जिस वस्तु का दान लेना हो, उसके देवता, मन्त्र, जप आदि न जानकर जो ब्राह्मण्ड सोना, भूमि, घोड़ा, गौ, अन्न, वस्त्र, तेल और घी आदि का दान लेता है वह काठ की भांति जलकर खाक होजाता हैं। मूर्ख ब्राह्मण दान में सोना और अन्न लेता है तो आयु का नाश होता है। भूमि और गौ शरीर को सुखाती हैं। घोड़ा नेत्र, वस्त्र त्वचा, घृत तेज और तिल प्रजा को नष्ट करता है। जो मूर्ख ब्राह्मण दान लेने की इच्छा रखता है, वह पत्थर की नाव बैठनेवालों के साथ जैसे जल में डूब जाती है, वैसे ही दाता के साथ नरक में डूब जाता है। इसलिये दानविधि न जानकर, मूर्ख ब्राह्मणों को हर किसी से दान लेने में डरना

चाहिये। जैसे कीचड़ में गौ फंसकर दुःखी होती है वैसे ही थोड़ा भी दान लेकर मुर्ख ब्राह्मण महादुःख को प्राप्त करता है। ॥१८६-१९१ ॥

न वार्यपि प्रयच्छेत् तु बैडालव्रतिके द्विजे ।
न बकव्रतिके पापे नावेदविदि धर्मवित् ॥ ॥१९२॥
त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाऽप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ ॥१९३॥
यथा प्लवेनोपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ ॥१९४॥

जो ब्राह्मण बिलाव का सा मौन साधता है, बगला भगत है, वेद नहीं जानता उसको जलपान को भी नहीं पूछना चाहिए । इन तीन भांति के ब्राह्मणों को दिया धन चाहे वह धर्म से ही पैदा किया हो, लोक परलोक दोनों में ही अशुभकारक होता है। जैसे पत्थर की नाव से तैरता हुआ पुरुष जल में डूब जाता है, वैसे ही मूर्ख दान देने वाला दाता और दान लेने वाला दोनों नरक में डूबते हैं ॥१९२-१६४॥

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः ।
बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः ॥ ॥१९५॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥ ॥१९६॥
ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥ ॥१९७॥

जो संसार को छलने के लिये धर्मध्वज लेकर चलते हैं , धर्माचरण करते हैं, लोगों को धोखा देते हैं, दूसरे की बुराई में लगे रहते हैं, लोभी हैं और दूसरे के गुणों से द्वेष रखकर लड़ा करते हैं, ऐसे पुरुषों को 'बैडाल व्रतिक' कहते हैं । जो सदा नीची दृष्टि रखते हैं, शान्तभाव से रहते हैं, मन में मतलब गांठा करते हैं, मूर्ख हैं और झूठा विनय दिखाते हैं, ऐसे पुरुषों को बकभक्त अर्थात बगलाभगत कहते हैं, जो बैडलव्रतिक, बकभक्त आदि हैं वे सब अपने पापवश 'अन्धतामिस्र नरक में पड़ते हैं ॥ १९५-१९७ ॥

न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् ।
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥ ॥१९८॥

किसी को भी पाप करके, उसका प्रायश्चित्त करते हुए नहीं कहना चाहिए की यह हम प्रायश्चित्त नहीं, किन्तु धर्मार्थ ऐसा करते हैं। जैसे की व्रत से पाप को छिपा कर स्त्री, शूद्र और दम्भी करते हैं । ॥१९८॥

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः।
छद्मना चरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥ ॥१९९॥
अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति ।
स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥ ॥२००॥
परकीयनिपानेषु न स्नायाद् हि कदा चन ।
निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ ॥२०१॥
यानशय्याऽऽसनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च । अदत्तान्युपयुञ्जान
एनसः स्यात् तुरीयभाक् ॥ ॥२०२॥

ऐसे कपटी ब्राह्मणों की लोक परलोक दोनों में विद्वान् ब्राह्मण निन्दा करते हैं और उनके कपटव्रतों का फल राक्षसों को पहुँचता है। जो पुरुष जिस वर्ण अथवा आश्रम से सम्बन्ध नहीं रखता, पर उसके चिह्नों को जीविका के लिये धारण करता है, वह उन वर्णाश्रमवालों के पाप को ग्रहण करता है और अन्त में पक्षियोनि को प्राप्त होता है। किसी के तालाब, गौशाला आदि में कभी स्नान नहीं करना चाहिए। स्नान करने से, तालाब के मालिक के चतुर्थांश पाप का वह भागी होता है । सवारी, शय्या, आसन, कुआं, बगीचा और घर बिना दिये जो दूसरे का भोगता वह उसके स्वामी का चौथाई पाप का भागी होता है ॥ १९९-२०२॥

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च ।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥ ॥२०३॥
यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ ॥२०४॥
नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा ।
स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्व चित् ॥ ॥२०५॥

नदी, देवताओं के लिये बने जलाशय, सरोवर, सोता झरना आदि में नित्य स्नान करना चाहिए। विद्वान् गृहस्थ को नित्य नियम का की ही

पालन नहीं करना चाहिए, अपितु यमों[28] का भी पालन करना चाहिए। क्योंकि यमों को न करके केवल नियमों के ही पालन से वह पतित हो जाता है जो वेदवेत्ता न हो, या बहुतों के साथ ही यज्ञ कराता हो और जिसमें नपुंसक वा स्त्री होम करनेवाले हों, ऐसे यज्ञों में ब्राह्मण को कभी भोजन नहीं कराना चाहिए। ॥२०३-२०५ ॥

कुधान्य-निर्णय

अश्लीकमेतत् साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः ।
प्रतीपमेतद् देवानां तस्मात् तत् परिवर्जयेत् ॥ ॥२०६॥
मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदा चन ।
केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥ ॥२०८॥
भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया ।
पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ ॥२०९॥

जिस यज्ञ में ऐसे लोग हवन करते हैं वह साधुओं को श्रीहीन करनेवाला है, देवताओं के विरुद्ध है, इसलिए उसको छोड़ देना चाहिए। उन्मत्त, क्रोधी और रोगी का अन्न अभी नहीं खाना चाहिए, कीड़ा पड़ा हुआ, पैर से छुए हुए अन्न को भी नहीं खाना चाहिए। भ्रूणहत्या करने वाले का देखा हुआ, रजस्वला का छुआ हुआ, पक्षी

[28] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, सहनशीलता, अक्रूरता, मधुर वचन को यम कहते हैं । स्नान, मौन, उपवास, चैदाध्ययन, शौच, अक्रोध, अप्रमाद आदि नियम हैं। इन दोनों का पालन करने से फल होता हैं केवल एकही से नहीं । इस लिये सबको दोनों, नियमों का पालन आवश्यक है

का खाया हुआ, कुत्ते का छुआ अन्न भी कभी नहीं खाना चाहिए। गौ का सुंघा हुआ, 'जो चाहे खा जाय' ऐसा पुकार कर कहा हुआ, बहुतों की मदद से भंडारे का अन्न, वेश्या का अन्न, यह सभी निन्दित अन्न हैं ॥२०६-२०६॥

स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च ।
दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ॥ ॥२१०॥
अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च ।
शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥ ॥२११॥
चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ।
उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम् ॥ ॥२१२॥

चौर, गवैया, बढ़ई, व्याजखोर, वृद्धि -ब्याज से जीविका चलाने वाला, कृपण और कैदी का अन्न नहीं खाना चाहिए। महापातकी, नपुंसक, व्यभिचारिणी स्त्री, कपटब्रह्मचारी का अन्न, खट्टा, बासी और शूद्र का झूठा अन्न नहीं खाना चाहिए। वैद्य का, शिकारी का, क्रूर का, जूठन खाने वाले का, क्रूर कर्म करनेवाले का, दस दिन तक सूतक का और पर्याचान्त[29] इन सभी का अन्न भी नहीं खाना चाहिए ॥ २१०-२१२ ॥

[29] एक पंक्ति में भोजन करते हों तभी दूसरी पंक्ति में यदि कोई भोजन विश्राम करके आचमन करले तो उसको 'पर्याचान्त' कहते हैं। ऐसा हो जाने पर भोजन बंद कर देना चाहिए।

अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः ।
द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ॥ ॥२१३॥
पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा ।
शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ॥ ॥२१४॥
कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च ।
सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ ॥२१५॥
श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च ।
रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ ॥२१६॥

अपमान से दिया अन्न, वृथामांस, पति-पुत्र हीन स्त्री का, शत्रु, के नगर का, पतित मनुष्य का और जिसके ऊपर छींक दिया गया हो, वह अन्न भी नहीं खाना चाहिए। चुगलखोर, झूठा, यज्ञ फल बेचने वाले का अन्न, नट, दर्जी और कृतघ्न के अन्न का त्याग कर देना चाहिए। लोहार, भील, बहुरूपिया सोनार, धरकाट और अस्त्र बेचनेवाले का अन्न नहीं खाना चाहिए। कुत्ते पालने वाला, मद्य बनाने वाला, धोबी, रंगरेज़, निर्दयी और जिस के यहां उपपति हो, इन सबका अन्न भी नहीं खाना चाहिए ॥ २१३-२१६ ॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ।
अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ ॥२१७॥
राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥ ॥२१८॥
कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च ।
गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥ ॥२१९॥

पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम् ।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् ॥ ॥२२०॥

जो स्त्री के जार को स्वीकृत किये हों, जो स्त्री के अधीन हो, दस दिन तक मरण शौच का और जो सन्तोष नहीं दे, इन अन्नों को नही खाना चाहिए। राजा का अन्न तेज, शुद्र का ब्रह्मतेज, सोनार का आयु, मोची का यश, रसोईदार का प्रजा, धोबी का अन्न बल का हरण कर लेता है और समूह का अन्न, वेश्या का अन्न परलोक को बिगाड़ता है। वैद्य का अन्न पीब के समान, व्यभिचारिणी का इन्द्रिय के समान, ब्याजखोर का विष्ठा के समान और हथियार बेचनेवाले का मैल के समान होता है। इन सव कुधान्यों से जहां तक हो सके बचना चाहिए ॥ ॥२१७-२२०॥

य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः ।
तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ ॥२२१॥
भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम् ।
मत्या भुक्त्वाऽचरेत् कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च ॥ ॥२२२॥
नाद्यात्शूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् । ॥२२३॥
श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥ ॥२२४॥
तान् प्रजापतिराहैत्य मा कृध्वं विषमं समम् ।
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ ॥२२५॥

इस प्रकार जो अन्न कहे गये हैं और ऐसेही दूसरे प्रकार के अन्न को त्वचा, हड्डी और रोम की भांति विद्वानों ने कहा हैं । यदि इन सभी अन्नों को अज्ञानता से खा लिया जाये तो तीन दिन व्रत करना चाहिए। इसी प्रकार वीर्य, मूत्र अथवा मल भी बिना जाने मुंह मे चला गया हो तो कच्छ्र व्रत करे। विद्वान् ब्राह्मण श्रद्धाहीन शूद्र के घर पका अन्न न खाय, यदि अन्न न हो तो एक दिन के लिए कच्चा अन्न उससे ले लेना चाहिए । वेद पढ़कर भी कृपण हो, दाता भी व्याजखोर हो, इन दोनों के अन्न को देवताओं ने 'एक भांति' कहा हैं। परन्तु ब्रह्माजी ने देवताओं के पास जाकर कहा कि-विषम को सम मत कहो, ब्याजखोर होने पर भी दाता का अन्न श्रद्धा से पवित्र होता है और वेद पढ़कर भी कृपण का श्रद्धारहित अन्न अपवित्र होता है ॥२२१-२२५॥

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ ॥२२६॥
दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम् ।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ ॥२२७॥
यत् किं चिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया ।
उत्पत्स्यते हि तत् पात्रं यत् तारयति सर्वतः ॥ ॥२२८॥

द्विज को श्रद्धा से यज्ञ, कूप, धर्मशाला इत्यादि बनवाना चाहिए। सुमार्ग से मिले धन से यह काम करने से बड़ा फल होता है । गृहस्थ को यज्ञ आदि कर्मों में सुपात्र को दान देना चाहिए। गृहस्थ के यहां यदि कोई मांगने आये तो उसको शान्तभाव से जो हो सके देना चाहिए। क्योकि

कभी कभी कोई ऐसा पात्र मिल जाता है, जो दाता के सभी पापों को हर लेता है ॥२२६-२२८॥

विविध विषय

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः ।
तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ ॥२२९॥
भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ।
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ॥ ॥२३०॥
वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः ।
अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥ ॥२३१॥

जल-पिलानेवाला तृप्ति, अन्नदाता अक्षय सुख, तिलदाता अभीष्ट संतान और दीपक का दान करनेवाला उत्तम नेत्र पाता है। भूमिदाता भूमि, सुवर्णदाता लम्बी आयु, गृहदाता उत्तम गृह, चांदी दाता उत्तम रूप को पाता है। वस्त्रदाता, चन्द्रलोक पाता है, घोड़ा देनेवाला अश्विनीकुमार का लोक, वृषभदाता पूर्णलक्ष्मी और गौ दान करनेवाला सूर्यलोक पाता है ॥ २२६-२३१॥

यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः ।
धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥ ॥२३२॥
सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्।तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ ॥२३३॥
येन येन तु भावेन यद् यद् दानं प्रयच्छति ।

तत् तत् तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ ॥२३४॥
योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव वा ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ ॥२३५॥
न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम् ।
चार्तोऽप्यपवदेद् विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥ ॥२३६॥

सवारी और शय्या देनेवाला अभयदाता ऐश्वर्य, धान्यदाता अक्षय सुख और वेदाध्यापक ब्रह्मलोक को पाता है। इन सब दानों में वेद का दान सब से उत्तम माना जाता है। जिस सात्विक, राजस आदि भाव से दान दिया जाता है उस भाव का फल दाता को मिलता है। जो आदर से दान देता है और जो आदर से लेता है। उन दोनों को स्वर्गफल मिलता है, अन्यथा विपरीत फल मिलता हैं। तप करके अभिमान न करना, यज्ञ करके झूठ न बोलना, ब्राह्मण से दुःख पाकर भी उनको दुर्वचन न कहना और दान देकर न कहना, यह सत्पुरुषों का कार्य है ॥ २३२-२३६ ॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥ ॥२३७॥
धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ॥२३८॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ ॥२३९॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ ॥२४०॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ ॥२४१॥

असत्य से यज्ञ निष्फल हो जाता हैं, गर्व से तप क्षीण हो जाता हैं। ब्राह्मणों की निन्दा से आयु घटती है। दान करके खुद बड़ाई करने से वह निष्फल हो जाता है। जिस प्रकार चींटी धीरे धीरे मिट्टी का ढेर लगा देती है उसी प्रकार गृहस्थ को धीरे धीरे पर लोक की सहायता के लिए धर्म का संग्रह करना चाहिए। परलोक में मदद के लिए पिता, माता, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धी नहीं रहते किन्तु वहां केवल धर्म ही साथ में रहता है। प्राणी अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है और अंकेला हीं पुण्य-पाप को भौगता हैं। सम्बन्धी लोग मृतक को काष्ठ-लोष्ठ इत्यादि में छोड़कर, मुँह फेरकर घर चले जाते हैं । एक धर्म ही उसके साथ जाता है । २३७-२४१ ॥

तस्माद् धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयात्शनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ ॥२४२॥
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् ।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥ ॥२४३॥
उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं संबन्धानाचरेत् सह । निनीषुः
कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ ॥२४४॥

इस लिए परलोक में सहायता के लिए नित्य धीरे धीरे धर्म का संग्रह करना उचित है। क्योंकि धर्म की सहायता से ही प्राणी कठिन दुःख रुपी नरक से पार जाता है। धर्म प्राण, निष्पाप पुरुष को धर्म तत्काल

परलोक को ले जाता है। पुरुष को सदा उत्तम पुरुषों से सम्बन्ध करना चाहिए तथा अधर्मों को त्यागना चाहिए। इससे कुल की उन्नति होती है ॥ २४२-२४४ ॥

उत्तमानुत्तमानेव गच्छन् हीनांस्तु वर्जयन् ।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥ ॥२४५॥
दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत् स्वर्गं तथाव्रतः ॥ ॥२४६॥
एधौदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥ ॥२४७॥
आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् ।
मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥ ॥२४८॥
नाश्नन्ति पितरस्तस्य दशवर्षाणि पञ्च च ।
न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ ॥२४९॥

अच्छे पुरुषों के साथ सम्बन्ध करना और नीचों से सम्बन्ध छोड़ता हुआ पुरुष श्रेष्ठता को प्राप्त होता है, अन्यथा शूद्रों के समान हो जाता हैं। कर्तव्य में अचल, कोमल स्वभाव, इन्द्रियों को वश में रखकर, दुराचार से बचकर, हिंसा न करके पुरुष स्वर्ग को जीत लेता है। समिधा, जल, कन्द, फल, पक्वान्न, कच्चा अन्न, मधु और अभयदान इन पदार्थों में कोई भी वस्तु बिना मांगे आ जाये तो उसको स्वीकार कर लेना चाहिए । बिना प्रेरणा के यदि दुराचारी भी भिक्षा ले आवे तो उसे ग्रहण कर लेना चाहिए यह प्रजापति की आज्ञा है। जो उस भिक्षा का अपमान करता है, उसके पितर पन्द्रह वर्ष तक उसका अर्पित

किया गया श्राद्ध स्वीकार नहीं करते और अग्नि हव्य नहीं ग्रहण करता ।। २४५-२४९ ॥

शय्यां गृहान् कुशान् गन्धानपः पुष्पं मणीन् दधि ।
धाना मत्स्यान् पयो मांसं शाकं चैव न निर्णुदेत् ॥ ॥२५०॥
गुरून् भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन् देवतातिथीन् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत् स्वयं ततः ॥ ॥२५१॥
गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन् ।
आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन् गृह्णीयात् साधुतः सदा ॥ ॥२५२॥

पलँग, घर, कुश, सुगंध की चीज़, जल, फूल, मणि, घी, भुना अन्न, मछली, दूध, मांस और शाक यह कोई देने आये तो लौटाना नहीं चाहिए। अतिथि देवता गुरु आदि के सत्कार की सामग्री न हो तो उसे मांग लेना उचित है, पर स्वयं उसका उपभोग नहीं करना चाहिए। माता, पिता, गुरु साथ न रहते हों तो ब्राह्मण अपनी जीविका के लिए सत्पुरुषों से दान ले सकता है ॥ २५०-२५२ ॥

आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना याश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ ॥२५३॥
यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ।
यथा चौपचरेदेनं तथाऽत्मानं निवेदयेत् ॥ ॥२५४॥
योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥ ॥२५५॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।

तांस्तु यः स्तेनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ ॥२५६॥

अपना साथी, कुंलपरम्परा का मित्र, अहीर, दास, नापित और अपने को अर्पण करनेवाले शूद्र का अन्न ग्रहण कर लेना चाहिए। आत्मसमर्पण करनेवाला अपना कुल देश, जो काम करके पास रहना चाहें और जैसे सेवा करना चाहे- सब निवेदन स्वीकार कर लेना चाहिए। जो अपनी असलियत छिपाकर सज्जनों के सामने दूसरे ढंग से बनता है वह महापापी, चोर, अपने को छिपानेवाला माना जाता है, सब अर्थ वाणी में रहते हैं, उनका मूल भी वाणी ही है और वाणी में से निकले हैं, ऐसी वाणी को जो चुराता है अर्थात झूठ बोलता है वह सब वस्तुओं की चोरी करता है ॥ २५३-२५९॥

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽनृण्यं यथाविधि ।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन् माध्यस्थ्यमाश्रितः ॥ ॥२५७॥
एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः ।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति ॥ ॥२५८॥
एषौदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती ।
स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥ ॥२५९॥
अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रवित् ।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ ॥२६०॥

महर्षि, पितर और देवताओं के ऋण से उन्मुक्त गृहस्थ को अपने पुत्र के ऊपर घर का भार छोड़कर उदासीन वृत्ति से जीवन बिताना चाहिए । एकान्त में अकेला वैठकर, अपना हित चिन्तन करना

चाहिए। एकान्त में विचार करने से पुरुष मोक्ष पाता है। इस प्रकार गृहस्थ ब्राह्मण की जीवननिर्वाह की रीति कही है और स्नातक के आचरण का हाल भी कहा गया है । इस प्रकार के आचरण को करता हुआ ब्राह्मण, निष्पाप होकर ब्रह्मलोक में पूजित होता है ॥ २५७-२६० ॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां स्मृतौ चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥४॥

॥महर्षि भृगु द्वारा प्रवचित मानव धर्म शास्त्र स्मृति का चौथा अध्याय समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥ मनुस्मृति ॥

॥अथ पञ्चमोऽध्यायः पांचवां अध्याय ॥

भक्ष्याभक्ष्य-व्यवस्था

श्रुत्वैतान् ऋषयो धर्मान् स्नातकस्य यथौदितान् ।
इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥ ॥१॥
एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ ॥२॥
स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन् मानवो भृगुः ।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥ ॥३॥
अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ॥४॥

इस प्रकार स्नातक ब्राह्मण के धर्मों को सुनकर, अग्निवंशी महात्मा भृगु से ऋषियों ने कहा- हे प्रभो! इन विधियों से धर्माचरण करनेवाले ब्राह्मणों को मृत्यु कैसे मार सकता है। यह सुनकर, मनुवंशी भृगु उन ऋषियों से बोले: सुनिए जिन कारणों से मृत्यु धर्माचरण करनेवाले ब्राह्मणों को मार सकता है। वेदाभ्यास न करना, सदाचार को छोड़ना, सदा आलसी रहना और अपवित्र भोजन से मृत्यु मार लेता है ।॥१-३॥

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवानि च ॥ ॥५॥
लोहितान् वृक्षनिर्यासान् वृश्चनप्रभवांस्तथा ।
शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ॥६॥
वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च ।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥ ॥७॥

लहसुन, शलगम, प्याज़, कुकुरमुत्ता और दूसरे अपवित्र खाद से पैदा होने वाले पदार्थ द्विजों को नहीं खाने चाहियें। वृक्षों से आप ही निकला, या काटने से निकली लाल गोंद, गूलर, लहसोडा और दस दिन के भीतर में गौ के दूध का पाक इन पदार्थों को अवश्य छोड़ना चाहिए। तिल, चावल की खिचड़ी, दूध, गुड़, आटे की लपसी, दूध का पाक, मालपुआ, बिना संस्कार का मांस, देवनिमित्त बना अन्न, यज्ञ का हविष्य इन पदार्थों को देवार्पण बिना किये खाना नही चाहिए ॥ ५-७ ॥

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ।
आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ ॥८॥
आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना ।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ ॥९॥
दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम् ।
यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥ ॥१०॥
क्रव्यादान् शकुनान् सर्वान्तथा ग्रामनिवासिनः।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफान् टिट्टिभं च विवर्जयेत् ॥ ॥११॥
कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम् ।
सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ ॥१२॥
प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ।

निमज्जतश्च मत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेव च ॥ ॥१३॥
बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम् ।
मत्स्यादान् विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ ॥१४॥
यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते ।
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान् मत्स्यान् विवर्जयेत् ॥ ॥१५॥

दस दिन के अंदर ब्याई गौ का दूध, ऊंटनी का दूध, एक खुर वाली गधी, घोड़ी आदि का दूध, भेड़ का दूध, गर्भवती गौ का दूध और जिसका बच्चा मर गया हो उस गौ का दूध नहीं पीना चाहिए। भैंस को छोड़कर, सब जंगली पशुओं का दूध और स्त्री का दूध और बिगड़कर खट्टा हुआ पदार्थ नहीं खाना चाहिए। खट्टे पदार्थों में दही, मट्ठा, अच्छे फूल फल के अर्क गुलाब, केवड़ा आदि खाना पीना चाहिए। कच्चा मांस खानेवाले पक्षी, शकुनवाले पक्षी, गांव वासी पक्षी, अभक्ष्य पक्षी, एक खुर वाले ऊंट, घोड़ा और टिड्डी यह सभी अभक्ष्य हैं । बतख, हंस, चकवा, गांव की मुर्गा, सारस, जल काक, पपीहा, तोता और मैना यह सब अभक्ष्य हैं। चोंच से मार कर खानेवाले, पैरों में जालवाले (बाज वगैरह) कोयल, नख से फाड़ कर खानेवाले, जल में गोता लगाकर मछली खानेवाले, कसाईखाने का मांस और सूखा मांस यह सब अभक्ष्य हैं। बगला, बतख, काला कौआ, खंजन[30], मछली खानेवाले पक्षी, सुअर और सब प्रकार की मछली यह सब अभक्ष्य हैं । जो जिसका मांस खाता है वह उस मांस को खानेवाला कहलाता है। पर मछली खाने वाला सब का मांस खानेवाला कहा जाता है । इस लिए मछली नहीं खानी चाहिए। क्योकि मछली सब का मांस खाती है । ॥ ८-१५॥

---

[30] वैगटेल

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ।
राजीवान् सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्चैव सर्वशः ॥ ॥१६॥
न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् ।
भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् सर्वान् पञ्चनखांस्तथा ॥ ॥१७॥
श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।
भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥ ॥१८॥
छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ।
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद् द्विजः ॥ ॥१९॥
अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ।
यतिचान्द्रायाणं वाऽपि शेषेषूपवसेदहः ॥ ॥२०॥

पढ़न, रोहू श्रादि सब मछलियां हव्य- काव्य में ग्रहण के लायक़ होती हैं । राजीव, सिंहतुण्ड और मोटी खाल की मछली भी ग्राह्य हैं। अकेले घूमने वाले और अनजान पक्षी, मृग अभक्ष्य हैं और जो भक्ष्य पांच नखवाले पशु हैं उनमें भी सब भक्ष्य नहीं हैं । साही, शल्यक, गधा, गैंडा, कछुवा, खरगोश यह पांच नखवालों में भक्ष्य हैं, और ऊंट को छोड़ कर, एक दाँतवाले दूसरे पांच नखवाले भी भक्ष्य हैं। धरती का फूल, गांव का सुअर,लहुसन, शलगम, प्याज़ इनको जानकर खानेवाला द्विज पतित हो जाता है। और यह छ पदार्थ अनजान में खा ले तो सान्तपन नामक वा यतिचान्द्रायण नामक प्रायश्चित्त करे और लाल गोंद आदि खा ले तो एक दिन उपवास करे। ॥१६-२०॥

संवत्सरस्यैकमपि चरेत् कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ ॥२१॥
यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः ।
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत् पुरा ॥ ॥२२॥

बिना जाने कोई अभक्ष्य पदार्थ खा ले तो उसकी शुद्धि के लिए ब्राह्मण को एक वर्ष में एक कृच्छ व्रत अवश्य करना चाहिए। और जानकर खा लिया हो तो विशेष प्रायश्चित्त करना उचित है। आपति, दुर्भिक्ष के समय में अपने कर्म की पूर्णता के लिए ब्राह्मणों को उत्तम ऋग-पक्षियों का वध करना चाहिए। अथवा जिनका पालन भार अपने ऊपर हो उनकी तृप्ति के लिए मृग पक्षियों को मारना चाहिए क्योंकि पूर्व समय में अगस्त्य मुनि ने ऐसा काम किया था ॥ २१-२२ ।

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ।
पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ ॥२३॥
यत् किं चित् स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।
तत् पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद् भवेत् ॥ ॥२४॥
चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः ।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥ ॥२५॥
एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ ॥२६॥

प्राचीन काल में ऋषि, ब्राह्मण और क्षत्रियों के यज्ञ में भक्ष्य मृग पक्षियों के पुरोडाश हुआ करते थे। जो भक्ष्य, भोज्य पदार्थ निन्दित नहीं हैं, वह बासी होने पर भी घी आदि मिला हो तो खाने लायक है और जो हवन' शेष है वह भी खाने योग्य होता है । जौं, गेहूं के पदार्थ, दूध के पदार्थ अधिक दिन के बने हों पर घी से तर न हों तो उनको भी नहीं खाना चाहिए । इस प्रकार द्विजों के भक्ष्य और अभक्ष्य सभी पदार्थ कहे गये हैं अब मांस भक्षण और उसके त्याग की विधि कहते हैं ॥ २३-२६॥

मांसभक्षण-व्यवस्था

प्रोक्षितं भक्षयेन् मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥ ॥२७॥
प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ ॥२८॥
चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ ॥२९॥

यज्ञ में वेदमन्त्रों से प्रोक्षण किया मांस खाना और ब्राह्मणों की इच्छा से हुआ हो तो खाना चाहिए। देवकार्य और पितृकार्य में, निमन्त्रण होने पर या प्राण जाने का भय हो तो खाना उचित है। ब्रह्मा ने इस जगत् के प्राण को अन्नरूप से बनाया है। इसलिए चराचर जगत्, स्थावर अथवा जंगम, सब कुछ प्राण का भोजन है। स्थावर, घास आदि जङ्गमों का भोजन है, बिना दाढ़वाले दाढ़वाले का भोजन है। बिना हाथवाले, हाथवाले का जैसे मनुष्यों को मछली भोजन है और मृग आदि सिंहादि के भोजन हैं ॥ २७-२६ ॥

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान् प्राणिनोऽहन्य्ऽहन्यपि ।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥ ॥३०॥
यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ॥३१॥
क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा।
देवान् पितृंश्चार्चयित्वा खादन् मांसं न दुष्यति ॥ ॥३२॥
नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः।
जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेतस्तैरद्यतेऽवशः ॥ ॥३३॥
न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः।

यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः ॥ ॥३४॥
नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः ।
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ॥ ॥३५॥
असंस्कृतान् पशून् मन्त्रैर्नाद्याद् विप्रः कदा चन।
मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्यात्शाश्वतं विधिमास्थितः ॥ ॥३६॥
कुर्याद् घृतपशुं सङ्गे कुर्यात् पिष्टपशुं तथा ।
न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत् कदा चन ॥ ॥३७॥

जो भक्षण के योग्य प्राणी हैं उनको प्रतिदिन खाने से, खाने वाला दोषभागी नहीं होता है। क्योंकि, भक्षण करने योग्य प्राणी और उनके भक्षकों को, परमात्मा ने ही रचा है। यज्ञ के निमित्त से मांसभक्षण दैवी विधि कहलाती है। लेकिन देवार्पण के बिना मांस खाना राक्षसावधि कही जाती है। स्वयं खरीद कर, या आप ही मारकर अथवा दूसरे से लाकर दिया हो, ऐसे मांस को देवता और पितरों को अर्पण करके खाने से दोष नहीं होता । अपत्ति काल न हो तो विधि को जाननेवाले द्विज कभी भी मांसभक्षण अविधि से न करे-क्योंकि बिना विधि से जो मांसभक्षण करता हैं, उसके मरने पर उसका मांस वह प्राणी खाते हैं । रोजगार के लिए जो पशु मारते हैं उनको वैसा पाप नहीं होता जैसा बिना देवता और पितरों को चढ़ाये मांस खानेवाले को होता है। श्राद्ध आदि में विधि से जो मांसभक्षण नहीं करता, वह मर कर इक्कीस बार पशुयोनि में जन्म लेता है । मन्त्रों से जिनका संस्कार नहीं हुआ उन पशुओं को ब्राह्मण कभी न खाये । पर सनातन वेद विधि के अनुसार संस्कार किया गया हो तो खा सकता है । मांस खाने हो को इच्छा हो तो घृत का पशु या मैदा का पशु बनाकर विधि से मांस खाये। पर देव निमित्त के बिना पशु मारने की इच्छा कभी नहीं करनी चाहिए ॥ ३०-३७ ॥

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम् ।
वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ॥३८॥
यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।
यज्ञोऽस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः ॥ ॥३९॥
ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥ ॥४०॥
मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रैत्यब्रवीन् मनुः ॥ ॥४१॥

बिना देवनिमित्त के जो वृथा पशुहिंसा करता है, वह मरने पर जितने पशुरोम हैं, उतने जन्मों तक उस पशु के हाथ से मारा जाता है। ब्रह्मा ने स्वयं ही यज्ञ के लिए पशुओं को बनाया है और सब यज्ञ जगत् के कल्याण के लिए हैं, इसलिए यज्ञ में जो पशुवध होता है वह वध नहीं है। औषधि, पशु, वृक्ष, पक्षी आदि यज्ञ के लिए मारे जाने से उत्तम गति को पाते हैं। मधुपर्क, यज्ञ, श्राद्ध और दैवकर्म में पशुवध करना, दूसरे कामों में न करना यह मनु जी की आज्ञा है ॥ ३८-४१ ॥

एष्वर्थेषु पशून् हिंसन् वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः ।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमं गतिम् ॥ ॥४२॥
गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान् द्विजः।
नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ॥४३॥
या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ ॥ ॥४४॥
योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवांश्च मृतश्चैव न क्व चित् सुखमेधते ॥ ॥४५॥

वेदविशारद द्विज, मधुपर्क आदि में पशुवध करके अपनी आत्मा और पशु को उत्तम गति को पहुंचाता है। गृहस्थ, ब्रह्मचर्य या वानप्रस्थ आश्रम में रहकर, द्विज को वेदविरुद्ध हिंसा कभी आपत्तिकाल में भी नहीं करनी चाहिए। इस जगत् में जो वेदानुसार हिंसा नियत है उसको हिंसा नहीं मानना चाहिए। क्योंकि धर्म वेद से ही प्रकट हुआ है। जो पुरुष हिंसक प्राणियों को अपने सुख की इच्छा से मारता है, वह जीता या मरा हुआ कहीं सुख नहीं पाता। ॥४२-४५॥

यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ॥४६॥
यद् ध्यायति यत् कुरुते रतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किं चन ॥ ॥४७॥
नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्व चित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान् मांसं विवर्जयेत् ॥ ॥४८॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ॥४९॥

जो पुरुष प्राणियों को बांधने या मारने का दुःख नहीं देना चाहता, वह सबका हित चाहनेवाला पुरुष अनन्त सुख पाता है। ऐसा पुरुष जो कुछ सोचता है, जो कुछ करता है और जिसमें अभिलाषा रखता है वह सब सहज ही उसको प्राप्त हो जाता है। प्राणियों की हिंसा बिना मांस उत्पन्न नहीं होता और प्राणियों के वध से स्वर्ग भी नहीं मिलता, इसलिए मांस खाना छोड़ देना चाहिए। मांस की उत्पत्ति और प्राणियों के वध आदि क्रम को देखकर सभी प्रकार के मांस भक्षण से चित्त को हटा लेना चाहिए ॥ ४६-४६ ।।

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।

न लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ॥५०॥
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ॥५१॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अनभ्यर्च्य पितॄन् देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥ ॥५२॥

जो विधि छोड़कर, पिशाच के भांति मांस भक्षण नहीं करता वह सबका प्रिय हो जाता है। और रोगों से दुःखी नहीं होता है। जिसकी इच्छा से मारा जाता है, अङ्गों को काटकर अलग अलग करनेवाला, मारनेवाला, खरीदनेवाला, बेचनेवाला, पकानेवाला, परोसनेवाला खानेवाला यह सभी घातक-मारनेवाले होते हैं। जो पुरुष, देवता और पितरों का पूजन बिना किये, दूसरे के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर कोई पाप करने वाला नहीं है ॥ ४६-५२।।

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद् यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ॥५३॥
फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।
न तत् फलमवाप्नोति यत्मांसपरिवर्जनात् ॥ ॥५४॥
मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद् म्यहम् ।
एतत्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ॥५५॥
न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने । प्र
वृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ॥५६॥

जो सौ वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ करता है और जो जन्म भर मांस भक्षण नहीं करता, इन दोनों को समान पुण्य फल मिलता है। पवित्र फल, मूल और मुनि अन्नों के खाने से वह फल नहीं मिलता जो मांस

छोड़ने से प्राप्त होता है । इस लोक में जिस का मांस भक्षण मैं करता हूं "सः" अर्थात् वह परलोक मैं 'मां' अर्थात् मेरा भक्षण करेगा । यही 'मांस' शब्द का अर्थ विद्वानों ने कहा है। मांस खाना, मद्य पीना और मैथुन इन कामों में मनुष्यों की प्रवृत्ति स्वाभाविक हुआ करती है, इस कारण इनमें दोष नहीं है । परन्तु इनको छोड़ देने से बड़ा पुण्य होता है ॥ ५३-५६॥

आशौच-व्यवस्था

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च ।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ॥५७॥
दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते ।
अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथौच्यते ॥ ॥५८॥
दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।
अर्वाक् सञ्चयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव वा ॥ ॥५९॥
सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ॥६०॥

अब चारों वर्णों की सूतक व्यवस्था और धातु पात्रों की शुद्धि को क्रम से कहते हैं। बालक के दांत निकल आये हों तो दांत निकलने के बाद और चूड़ा कर्म हो जाने के पश्च्यात यदि बालक की मृत्यु हो जाए तो सभी ब बान्धवों को अशुद्धि और सूतक लगता है। सपिण्ड अर्थात् सात पुश्त तक मरणा शौच दस दिन तक रहता है। किसी को अस्थि संचयन तक, किसी को तीन दिन तक सूतक रहता है । ॥५७-६०॥

यथैदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।

जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ॥६१॥
सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ॥६२॥
निरस्य तु पुमांशुक्रमुपस्पृस्यैव शुध्यति।
बैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ॥ ॥६३॥
अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः।
शवस्पृशो विशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ॥ ॥६४॥

जैसा मरने पर सपिण्डों को यह आशौच कहा है, वैसा ही पुत्र आदि उत्पन्न होने में भी अच्छी शुद्धता की इच्छा करनेवालों को आशौच होता है। मरण आशौच सब सपिण्डों को और जन्मा शौच माता पिता को ही होता है। उसमें भी पिता स्नान करने से शुद्ध होता और केवल माता को ही सूतक रहता है । पुरुष जानकर वीर्य पात करे तो स्नान से शुद्ध होता है । और दूसरी स्त्री में संतान पैदा करने पर उसको तीन दिन तक आशौच रहता है। शव (मुर्दा) को छूने वाले दस दिन में शुद्ध होते हैं और समानोदुक अर्थात् सात पीढ़ी से ऊपर के पुरुष तीन दिन में शुद्ध होते हैं ॥६१-६४॥

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति ॥ ॥६५॥
रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुध्यति ।
रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥ ॥६६॥
नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।
निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्रात्शुद्धिरिष्यते ॥ ॥६७॥
ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः।
अलङ्कृत्य शुचौ भूमावस्थिसञ्चयनाद् ऋते ॥ ॥६८॥

शिष्य, अपने गुरु की अन्त्येष्टि करता हुआ, शव उठाने वालों के साथ दसवें दिन शुद्ध होता है। जितने मास का गर्भपात हो उतनी ही रात्रि में स्त्री शुद्ध होती है। और रजस्वला स्त्री रज बंद होने पर स्नान करके शुद्ध होती है। जिन बालकों का चूडाकर्म नहीं हुआ उनके मरने से एक दिन में और चूड़ा कर्म हो जाने पर तीन दिन में, सपिण्ड पुरुष की शुद्धि होती है। दो वर्ष से कम उम्र का बालक यदि मर जाय तो उसको पुष्पमाला, चंदन आदि से भूषित करके, नगर के बाहर पवित्र भूमि में गाड़ कर उसका अस्थि संचयन नहीं करना चाहिए। ॥ ६५-६८ ॥

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्यौदकक्रिया।
अरण्ये काष्ठवत् त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव तु ॥ ॥६९॥
नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया।
जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वाऽपि कृते सति ॥ ॥७०॥
सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् ।
जन्मन्येकौदकानां तु त्रिरात्रात्शुद्धिरिष्यते ॥ ॥७१॥

और इस बालक का अग्नि संस्कार, जल दान आदि कुछ नहीं करना चाहिए। सिर्फ जंगल में, काष्ठ की भांति गड्ढे में, छोड़ कर तीन दिन सूतक मानना चाहिए। तीन वर्ष से कम अवस्था का बालक की मृत्यु होने पर, सपिण्ड को जलदान नहीं करना चाहिए। परन्तु यदि बालक के दांत निकल गए हों, नामकरण हो गया हो तो जलदान कर सकते हैं। सहाध्यायी के मरने पर एक दिन आशौच होता है और समानोदक के यहां सन्तति होने पर तीन दिन में शुद्धि होती है ॥६६-७१ ॥

स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहात्शुध्यन्ति बान्धवाः।
यथौक्तेनैव कल्पेन शुध्यन्ति तु सनाभयः ॥ ॥७२॥

अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम्।
मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥ ॥७३॥
संनिधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः ।
असंनिधावयं ज्ञेयो विधिः संबन्धिबान्धवैः ॥ ॥७४॥
विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद् यो ह्यनिर्दशम् ।
यत्शेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ॥७५॥

जिस कन्या का विवाह न हुआ हो परन्तु सगाई ही गयी हो, उसके निधन में ससुराल वाले और पितृकुल के तीन रात में शुद्ध होते हैं। मृत्यु सूतक वाले को उबला हुआ, बिना नमक का भोजन करना चाहिए। तीन दिन तक नदी में स्नान करें और मांस भक्षण न करे, भूमि में अलग सोवे। जो सपिण्ड और समानोदक पुरुष, मरणकार्य में समीप हों उनके लिए यह अशौचविधि कही गई है । और जो पास ने हों, विदेश में हों उनके लिए आगे कही विधि जाननी चाहिए। विदेश में मरने का हाल दस दिन के भीतर जाने तो जितने दिन बचे हों उतने ही दिन का सूतक होता है। ॥७२-७५॥

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुध्यति ॥ ॥७६॥
निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ।
सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥ ॥७७॥
बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते ।
सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुध्यति ॥ ॥७८॥
अन्तर्दशाहे स्यातां चेत् पुनर्मरणजन्मनी ।
तावत् स्यादशुचिर्विप्रो यावत् तत् स्यादनिर्दशम् ॥ ॥७९॥
त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति ।
तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥ ॥८०॥

दस दिन बीतने पर मृत्यु सुने तो तीन दिन का आशौच होता हैं और एक वर्ष बीतने पर स्नान मात्र से ही शुद्धि होता है। अपने समानोदक का मरण और पुत्र का जन्म सुनकर सचैल (वस्त्र सहित) स्नान से शुद्धि होती है। सगोत्र बालक का और असपिण्ड मामा, साला आदि की विदेश में हुई मृत्यु को सुनकर, सचैल (वस्त्र सहित) स्नान से शुद्ध होती है। यदि दशाह के भीतर फिर कोई पैदा हो या मरे, तो ब्राह्मण दस दिन पूरे होने तक शुद्ध नहीं होता। आचार्य के मरने में, शिष्य को तीन दिन आशौच रहता है और आचार्य के पुत्र या स्त्री के मरण में एक दिन का अशौच होता है ॥७६-८०॥

श्रोत्रिये तूपसम्पन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ॥ ॥८१॥
प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद् विषये स्थितः।
अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥   ॥८२॥
शुद्ध्येद् विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥ ॥८३॥

श्रोत्रिय की मृत्यु में तीन दिन, मामा, शिष्य, ऋत्विक और बान्धवों की मृत्यु में दिन-रात आशौच रहता है। जिस राजा के देश में निवास हो उसकी मृत्यु, दिन में होने पर सूर्यास्त तक और रात में रातभर सूतक रहता है। अश्रोत्रिय ब्राह्मण, वेदपाठी और गुरु के मरण में, एक दिन का, अशौच होता है। ब्राह्मण दस दिन में, क्षत्रिय बारह दिन में, वैश्य पंद्रह दिन में और शुद्र एक मास में शुद्ध होता है। ॥८१-८३॥

न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः।
न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥ ॥८४॥

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा ।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति ॥ ॥८५॥
आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ।
सौरान् मन्त्रान् यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ॥ ॥८६॥
नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति ।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥ ॥८७॥
आदिष्टी नोदकं कुर्यादा व्रतस्य समापनात् ।
समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति ॥ ॥८८॥

अग्निहोत्री को सूतक के दिन बढ़ाकर, अग्निहोत्र में विघ्न नहीं करना चाहिए। अग्निहोत्री को सपिण्ड होने पर भी सूतक नहीं लगता। चाण्डाल, रजस्वला, पतित, प्रसूता और मुर्दे को छूने पर स्नान से शुद्धि होती है। अपवित्र वस्तु का दर्शन होने पर, पवित्र होकर आचमनपूर्वक सौर मन्त्र 'उदुत्य जात वेदसम्' और पवमान मन्त्रों का जप करना चाहिए । मनुष्य की गीली हड्डी छूने पर स्नान करके और सूखी हो तो आचमन से विप्र शुद्ध होता है। अर्थांवा गौ का स्पर्श या सूर्यदर्शन से पवित्रता होती है। ब्रह्मचारी व्रत की समाप्ति तक जलदान न करे। उसके बाद जलदान करें और तीन रात में ही शुद्ध भी हो जाता है। ॥८४-८८॥

वृथासङ्करजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम् ।
आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ॥ ॥८९॥
पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः ।
गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥ ॥९०॥
आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् ।
निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥ ॥९१॥

वर्णसंकर, संन्यासी और आत्मघाती को जलदान की ज़रूरत नहीं है। पाखण्डी, दुराचारी स्त्री, गर्भ और पति का घात करने वाली और मद्य पीनेवाली स्त्री को जलदान नहीं करना चाहिए। अपने आचार्य, उपाध्याय, पिता, माता और गुरु के शव को उठाने और दग्ध करने से, ब्रह्मचारी अपने व्रत से पतित नहीं होता है ॥८९-९१॥

दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत् ।
पश्चिमौत्तरपूर्वैस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ॥९२॥
न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्त्रिणाम् ।
ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥ ॥९३॥
राज्ञो महात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते ।
प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥ ॥९४॥
डिम्भाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ।
गोब्राह्मणस्य चेवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ ॥९५॥

शूद्र के मृत शरीर को, नगर के दक्षिण द्वार से और ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के शव को क्रम से पश्चिम, उत्तर और पूर्व द्वार से श्मशान में ले जाना चाहिए। राजा, ब्रह्मचर्य व्रत करनेवाला और यज्ञ करने वाले को सूतक नहीं लगता क्योंकि-राजा इन्द्र के पद पर है तथा ब्रह्मचारी और याज्ञिक सदा ब्रह्मरूप ही है। जो पुरुष राजा के यहां श्रेष्ठ स्थान पर नियुक्त होता है। वह कार्य करने के निमित्त तुरंत ही अशौच से मुक्त होता है। क्योंकि प्रजारक्षा के लिए न्यायासन, पर बैठना ही इसमें कारण है। बिना शस्त्र की लड़ाई में, बिजली गिरने से, राजाज्ञा द्वारा फांसी से और गौ-ब्राह्मण की रक्षा के लिए मरे हुए का और जिसको राजा अपने कार्य के लिए चाहे उसकी तत्काल शुद्धि होती है। ॥९२-९५॥

सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ ॥९६॥
लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते ।
शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेभ्यः प्रभवाप्ययौ ॥ ॥९७॥
उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ।
सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाऽशौचमिति स्थितिः ॥ ॥९८॥
विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् ।
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन् वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥ ॥९९॥

अग्नि, सूर्य, वायु, इंद्र, कुबेर, वरुण और यम इन आठ लोकपालों के शरीर को राजा धारण करता है। लोकपालों को राजा के शरीर में निवास होने से उसको सूतक नहीं लगता । अशौच तो मनुष्यों के लिए है राजा तो लोकपालों के अंश से पैदा हुआ है। जो राजा शस्त्रों से धर्मयुद्ध करके मरता है उसको यज्ञ का फल मिलता है तथा अशौच तुरंत ही दूर हो जाता है। प्रेतक्रिया के अंत में ब्राह्मण जल का, क्षत्रिय शस्त्र का, वैश्य हांकने के डंडे अथवा बागडोर का तथा शुद्र लकड़ी का स्पर्श करके शुद्ध होता है। अर्थात इन पदार्थों को अशोचन्त में अवश्य छूना चाहिए ॥ ९६-९९ ॥

एतद् वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः।
असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥ ॥१००॥
असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥ ॥१०१॥
यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुध्यति ।
अनदन्नन्नमह्नैव न चेत् तस्मिन् गृहे वसेत् ॥ ॥१०२॥
अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च ।
स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ ॥१०३॥

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत् ।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्यात्शूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥ ॥१०४॥

हे द्विजो ! यह सपिण्डों की मरणाशौच विधि कही गई है। अब असापिण्डों की विधि सुनो । असपिण्ड द्विज की मृत्यु होने पर उसको बन्धु की तरह उठाना, दाह देना और माता के समीप के भाई बहन आदि का भी उसी तरह कर्म किया हो तो इसमें तीन दिन का आशौच होता है। जो दाहादि करनेवाला मृतक के सपिण्डों का अन्न खाता हो तो दस दिन में, और न खाता हो, न उसके मकान ही में रहता हो तो एक दिन में, शुद्ध हो जाता है। अपनी जाति, या दूसरी जाति के शव का अनुगमन करने से, सचैल स्नान, अग्निस्पर्श और धृत खाने से शुद्धि होती है। सजातियों के रहते शूद्रों से, ब्राह्मण शव को अथवा शव वाहन को कभी नहीं उठवाना चाहिए । क्योकि शूद्र स्पर्श से दूषित शव की आहुति, स्वर्गदायक नहीं होती ॥ १००-१०४ ॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृत्मनो वार्युपाञ्जनम् ।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ॥ ॥१०५॥
सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ ॥१०६॥
क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ ॥१०७॥

ज्ञान, तप, अग्नि, भोजन, मिट्टी, मन, जल, लीपना; वायु, कर्म, सूर्य और काल यह सभी प्राणियों की शुद्धि करनेवाले हैं। सब शुद्धियों में न्याय से मिले धन की शुद्धि श्रेष्ठ कही गयी है। जो पुरुष, न्यायपूर्वक मिले धन से शुद्ध हैं वह ही सबसे शुद्ध माने जाते हैं। केवल मिट्टी जल से शुद्ध होनेवाले पवित्र नहीं माने जाते । विद्वान् क्षमा से, यम आदि न

करनेवाले दान से, पापी जप से और वेदविशारद तप से पवित्र होते हैं ॥ १०५-१०७ ॥

मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति ।
रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमाः ॥ ॥१०८॥
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ ॥१०९॥
एष शौचस्य वः प्रोक्तः शरीरस्य विनिर्णयः ।
नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ॥ ॥११०॥

अपवित्र पदार्थ मिट्टी और जल से शुद्ध होते हैं । नदी वेग से शुद्ध होती है। मन से दूषित स्त्री, रजस्वला होने, से शुद्ध होती है और ब्राह्मण त्याग से शुद्ध होता है। जल से शरीर शुद्ध होते हैं। मन सत्यभाषण से शुद्ध होता है। इस प्रकार शरीरशुद्धि का निर्णय कहा है अब द्रव्य शुद्धि का निर्णय कहेंगे ॥ १०६-११० ॥

पदार्थ-शुद्धि

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ।
भस्मनाऽद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥ ॥१११॥
निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुध्यति । अ
ब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ॥११२॥
अपामग्नेश्च संयोगाद् हैमं रौप्यं च निर्बभौ ।
तस्मात् तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥ ॥११३॥
ताम्रायस्कांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च ।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥ ॥११४॥

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम् । प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥ ॥११५॥

सुवर्ण आदि तैजस पदार्थ, मणि और सब पत्थर के पदार्थों की शुद्धि राख, जल और मिट्टी से होती हैं। जिस में किसी भांति का लेप न हो ऐसे सोने का पात्र, शंख, पत्थर और चांदी का पात्र जल से ही शुद्ध होता है। सोना और चांदी अग्नि और जल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं इसलिये उनकी पवित्रता अपनी योनि से ही उत्तम होती है। तांबा, लोहा, कांस्य, पीतल, जस्ता और सीसे का पात्र, खार-खटाई और जल इनमें जिससे हो सके उसी से शुद्ध कर लेना चाहिए। घी, मधु आदि को पिघलाकर छान लेने से, जमे हुए का प्रोक्षण से और लकड़ी के पात्र को छीलने से शुद्धि होती है। ॥१११ -११५॥

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ।
चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥ ॥११६॥
चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ।
स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलौलूखलस्य च ॥ ॥११७॥
अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥ ॥११८॥
चैलवत्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च ।
शाकमूलफलानां च धान्यवत्शुद्धिरिष्यते ॥ ॥११९॥
कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः।
श्री फलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ ॥१२०॥
क्षौमवत्शङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च ।
शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणौदकेन वा ॥ ॥१२१॥
प्रोक्षणात् तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुध्यति ।

मार्जनौपाञ्जनैर्वेश्म पुनःपाकेन मृण्मयम् ॥ ॥१२२॥

यज्ञ कर्म में यज्ञ के पात्र हाथ से धो डालने से पवित्र हो जाते हैं । चमस और ग्रहपात्र वगैरह गरम जल से धोने से पवित्र होते हैं। चरु, स्रुव्, स्रुवा, सफ़य, सूप, शकट, मूसल और ऊखल गरम जल से शुद्ध होते हैं । अन्न और वस्त्र का बहुत ढेर हो तो जल छिड़कने से पवित्र होता है और थोड़ा हो तो जल से धोने पर पृवित्र होता है। चमड़ा, चटाई आदि बांस के प्रदार्थ, वस्त्रों के समान और शाक-मूल-फलों को अन्न के समान पवित्र करना चाहिये । रेशम, ऊनी वस्त्र रेत से , कम्बल रीठ से, सन के वस्त्र बेल के गुद्दे से, अलसी आदि के वस्त्र-सफ़ेद सरसों से, पवित्र होते हैं । शंख, सींग, हड्डी और हाथीदांत के पदार्थ, सफ़ेद सरसों, गोमूत्र और जल से, पवित्र होते हैं। लकड़ी, घास वगैरह जल छिड़कने से, घर लीपने पोतने से और मिट्टी के बर्तन आग में रखने से शुद्ध होते हैं।। ११६-१२२॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः ।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनःपाकेन मृत्मयम् ॥ ॥१२३॥
संमार्जनौपाञ्जनेन सेकेनौल्लेखनेन च ।
गवां च परिवासेन भूमिः शुध्यति पञ्चभिः ॥ ॥१२४॥
पक्षिजग्धं गवा घ्रातमवधूतमवक्षुतम् ।
दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ॥ ॥१२५॥
यावन्नापेत्यमेध्याक्ताद् गन्धो लेपश्च तत्कृतः।
तावन् मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ ॥१२६॥
त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् ।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ ॥१२७॥
आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत् ।
अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ ॥१२८॥

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् । ब्र
ह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ ॥१२९॥
नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने ।
प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ ॥१३०॥
श्वभिर्हतस्य यन् मांसं शुचि तन् मनुरब्रवीत् ।
क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥ ॥१३१॥

जिस मृत्पात्र में मद्य-मल-चरबी आदि का संपर्क हो जाता है उसका पुनः अग्निसंस्कार करने पर भी वह शुद्ध नहीं होता। झाड़ू देना, लीपना, जल छिड़कना, खोदना और गौ का निवास इन पांच प्रकारों से भूमि पवित्र होती है। पक्षी का खाया हुआ ,गौ को सूंघा हुआ, पैर से दबाया हुआ और जिसके ऊपर छींक दिया हों, जहां बाल या कीड़ा पड़ा हो ऐसा स्थान मिट्टी डालने से पवित्र होता है। जब तक पदार्थों से अपवित्र वस्तु का गंध या लेप दूर न हो, तब तक उन पदार्थों को मिट्टी और जल से शुद्ध करना चाहिए। देवताओं ने ब्राह्मणो के तीन पदार्थ पवित्र कहे हैं-एक अदृष्ट, दूसरा जो पानी से धो लिया गया हो और तीसरा जिसको ब्राह्मणों ने चरण से पवित्र किया हो। जिस जल में गौ की प्यास दूर हो जाये, पवित्र हो, गंध, रस और वर्ण से ठीक हो, ऐसा पानी भूमि में शुद्ध होता है। कारीगर का हाथ, जो पदार्थ बाजार में बेचने के लिए रखें हों और ब्रह्मचारी की भिक्षा यह सदा पवित्र होते हैं। स्त्रियों का मुख, फल गिराने में पक्षी की चोंच, दूध निकालते समय बछेड़ा का मुख और शिकार में कुत्ते का मुख पवित्र माना गया है। कुत्ते के द्वारा शिकार किए गए का मांस पवित्र होता है। मांसाहारी पशु, चाण्डाल आदि के मारे जीवों का मांस भी पवित्र होता है यह मनुजी की आज्ञा है। ॥ १२३-१३१॥

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ।

यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥ ॥१३२॥
मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः ।
रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत् ॥ ॥१३३॥
विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत् ।
दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥ ॥१३४॥
वसा शुक्रमसृग्मज्जा मूत्रविड्घ्राणकर्णविट् ।
श्लेश्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥ ॥१३५॥

जो इन्द्रियां नाभि के ऊपर हैं वह सब पवित्र हैं और जो नाभि के नीचे हैं वह सब अशुद्ध हैं। देह से निकला मल सब अपवित्र हैं। मक्खी, मुख से निकली जल की छींट, छाया, गौ, घोड़ा, सूर्य की किरण, धूलि, भूमि, वायु और अग्नि इन सब का, स्पर्श पवित्र होता है। देह मल की शुद्धि के लिए उतनी मिट्टी और जल लेना चाहिए जिससे दुर्गन्ध आदि शुद्ध हो जाये। चरबी, वीर्य, रुधिर, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, नाक-कान का मैल, खखार, आँसू, आँखों का मैल और पसीना यह बारह मनुष्य देह के मल हैं ॥१३२-१३५॥

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश ।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥ ॥१३६॥
एतत्शौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।
त्रिगुणं स्याद् वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥ ॥१३७॥
कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत् । वे
दमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्वदा ॥ ॥१३८॥
त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात् ततो मुखम् ।
शरीरं शौचमिच्छन् हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत् सकृत् ॥ ॥१३९॥

मल और मूत्र का त्याग करने पर लिङ्ग और योनि को एक बार, गुदा को तीन बार, वाम हाथ को दस बार, फिर दोनों हाथों को सात बार मिट्टी से धोना चाहिए। यह आचार-शौच, गृहस्थ के लिए हैं। ब्रह्मचारियों को इससे दुगना शौच करना चाहिए, वानप्रस्थ आश्रमवालों को तीन गुना और संन्यासियों को चार गुना करना चाहिए। मल-मूत्र करने के पीछे शुद्ध होकर आचमन करे और नेत्र वगैरह का जल से स्पर्श करे। वेदपाठ के आरम्भ में और भोजन के समय में आचमन करे। प्रहले तीच बार, आचमन फिर दो बार मुख धोए। स्त्री और शूद्र एक बार ही जल से आचमन करें। इस प्रकार शरीरशुद्धि होती है ॥ १३६-१३९॥

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम् ।
वैश्यवत्शौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् ॥ ॥१४०॥
नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गं न यान्ति याः ।
न श्मश्रूणि गतान्यास्यं न दन्तान्तरधिष्ठितम् ॥ ॥१४१॥
स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान् ।
भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैराप्रयतो भवेत् ॥ ॥१४२॥
उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथं चन ।
अनिधायैव तद् द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ ॥१४३॥
वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् ।
आचामेदेव भुक्त्वाऽन्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ ॥१४४॥
सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्यौक्त्वाऽनृतानि च ।
पीत्वाऽपोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत् प्रयतोऽपि सन् ॥ ॥१४५॥
एषां शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च ।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥ ॥१४६॥

न्यायानुसार चलनेवाला शूद्र महीने में बालों को बनवावे, मृत्युसूतक और जन्मसूतक में वैश्य के समान व्यवहार करे और ब्राह्मण का जूठा अन्न खावे । मुख से शरीर पर जो छीटें पड़ती हैं मैं शरीर को झूठा नहीं करती। मुख में गया मूंछ का बाल और दांतों की झिरियों में रहा अन्न भी झूठा नहीं करता। दूसरे को कुल्ला करानेवाले के पैर पर जो छीटें पड़ती हैं उनको भूमि के जल बिन्दु समान मानना चाहिए। उनसे कोई अशुद्ध नहीं होता। हाथ में अन्न वगैरह हो और जूठे अपवित्र वस्तु का स्पर्श हो जाये तो वह बिना भूमि में रखते ही केवल आचमन से पवित्र हो जाता है। वमन और दस्त होने पर, स्नान करके घी का आचमन करे, भोजन करके कुल्ला करे और मैथुन के बाद स्नान करे तब शुद्धि होती हैं। सोकर, छींककर, खाकर, थूककर, झूठ बोलकर, जल पीकर और पढ़ने के समय पवित्र होने पर भी आचमन करना चाहिए। यह सब संपूर्ण वर्णों की शौचविधि कही गई है, अब स्त्रियों के धर्म सुनो ॥ १४०-१४६ ॥

स्त्री धर्म

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता ।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किं चिद् कार्यं गृहेष्वपि ॥ ॥१४७॥
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ ॥१४८॥
पित्रा भर्त्रा सुतैर्वाऽपि नेच्छेद् विरहमात्मनः ।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥ ॥१४९॥
सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्ये च दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ ॥१५०॥
यस्मै दद्यात् पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥ ॥१५१॥

स्त्री चाहे बालक, युवती अथवा वृद्ध हों, उनको घर में कोई काम स्वतन्त्रता से नहीं करना चाहिए । स्त्री बालकपन में पिता की आज्ञा में, जवानी में पति की आज्ञा में और पति के बाद पुत्र की आज्ञा में रहे परन्तु स्वतन्त्रता का भोग कभी न करे । स्त्री, पिता, पति वा पुत्रों से अलग रहने की इच्छा न करें। अलग रहने से पिता और पति दोनों कुलदोषी होते हैं । सदा प्रसन्नचित्त और घर के काम में चतुर रहें, घर के सामान को पवित्र रखे और खर्च संभाल कर करे। पिता या पिता की सम्मति से भाई जिसके साथ विवाह कर दे, उस पति की सेवा जीवन भर स्त्री को करनी चाहिए और उसके मृत्यु होनेपर ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए ॥ १४७-१५१ ॥

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ।
प्रयुज्यते विवाहे तु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ ॥१५२॥
अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत् पतिः।
सुखस्य नित्यं दातैह परलोके च योषितः ॥ ॥१५३॥
विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचार्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः ॥ ॥१५४॥

विवाह में जो प्रजापति यज्ञ किया जाता है वह स्त्रियों के मङ्ग लार्थ हैं और पति होने में वाग्दान ही कारण हैं। मन्त्रों में विवाह-संस्कार करनेवाला पति, ऋतुकाल में या उससे भिन्न काल में सदा स्त्री को सुख देनेवाला है। पति लोक-परलोक दोनों में सुखदाता है । पति चाहे कुशील हो, मन माना हो, अच्छे गुणों से रहित हो तब भी उसकी सेवा देवता के समान करनी चाहिए ॥ १५२-१५४ ।।

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ ॥१५५॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत् किं चिदप्रियम् ॥ ॥१५६॥
कामं तु क्षपयेद् देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ ॥१५७॥
आसीतामरणात् क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ ॥१५८॥

स्त्रियों के लिए अलग यज्ञ, प्रत या उपवास कुछ भी नहीं हैं, उनके लिए पति की सेवा ही स्वर्ग देनेवाली है। जो पतिव्रता स्त्री अपने पतिलोक की इच्छा करे, वह पति के जीवन में, या मरण में उसके विरुद्ध कोई आचरण न करे । विधवा स्त्री को फूल, फल खाकर शरीर क्षीण, करना चाहिए। पति के मरने पर, व्यभिचार के खयाल से पर पुरुष का नाम भी नहीं लेना चाहिए। एक पति की सेवा करनेवाली स्त्री को विधवा होने पर भी अपनी मनकामनाओं को छोड़ देना चाहिए, मरणकाल तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और पतिसेवा के फल की इच्छा रखनी चाहिए ॥१५५-१५८॥

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥ ॥१५९॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्राऽपि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ ॥१६०॥
अपत्यलोभाद् या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते ।
सेह निन्दामवाप्नोति परलोकाच्च हीयते ॥ ॥१६१॥
नान्योत्पन्ना प्रजाऽस्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे ।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्व चिद् भर्तोपदिश्यते ॥ ॥१६२॥

हज़ारों लाख बालब्रह्मचारी, ब्राह्मण कुल की वृद्धि के लिए, बिना संतान के ही स्वर्ग को प्राप्त हो गए हैं। पति की मृत्यु के बाद, जो स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य से रहती हैं, वह पुत्रहीन भी स्वर्ग को प्राप्त करती हैं। जैसे ब्रह्मचारियों को मिला है। परन्तु जो स्त्रियाँ पुत्र की लालसा से व्यभिचार करती हैं, वह लोक में निन्दा पाकर, अन्त में पतिलोक से भ्रष्ट हो जाती हैं। पति के सिवा दूसरे से उत्पन्न सन्तान, उस स्त्री की सन्तान नहीं गिनी जाती । पतिव्रता स्त्रियों के लिए दूसरे पति की व्यवस्था कही नहीं है। अर्थात् विवाहित पति ही उसको सच्चा सुख और स्वर्गलोंक देने में समर्थ होता है ॥१५६-१६२॥

पतिं हित्वाऽपकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते ।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चौच्यते ॥ ॥१६३॥
व्यभिचारात् तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ ॥१६४॥
पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयुता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ ॥१६५॥
अनेन नारी वृत्तेन मनोवाग्देहसंयता ।
इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥ ॥१६६॥

जो स्त्री रूप, धन आदि लै रहित अपने पति को छोड़कर दूसरे पुरुष की सेवा करती है वह संसार में निन्दा पाती है और इसका अमुक पति पहला है अमुक दूसरा है इस प्रकार लोग कहते हैं। जो स्त्री पति को छोड़कर व्यभिचार करती है वह जगत् में, निंदा पाती है और मृत्यु उपरांत शृगाल की योनि में जन्म लेती है । पाप रोग कोढ़ इत्यादि से पीड़ित होती है। और जो स्त्री शरीर, वाणी और मन को वश में रखकर पतिसेवा करती है । वह पतिलोक पाती है और संसार में

पतिव्रता कहलाती है। मन, वाणी और शरीर से नियम और सदाचार से रहनेवाली स्त्री साध्वी कहलाती है और उत्तम कीर्ति और स्वर्ग को प्राप्त होती है ॥ १६३-१६६ ॥

एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ ॥१६७॥
भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाऽग्नीनन्त्यकर्मणि ।
पुनर्दारक्रियां कुर्यात् पुनराधानमेव च ॥ ॥१६८॥
अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ ॥१६९॥

इस प्रकार साध्वी, सवर्णा स्त्री पति से पूर्वमर जाय तो उसका दाह अग्निहोत्र की अग्नि और यज्ञपात्रों के साथ करना चाहिए। पति से पूर्व स्त्री को मरण होने पर, उसकी अन्त्येष्टि क्रियापूर्वक दाह देकर, फिर विवाह करके, स्मार्त अग्नि या श्रौताग्नि का धारण करना चाहिए। द्विजातियों को उक्त विधि के अनुसार, नित्य पञ्चमहायज्ञ करना और विवाह करके श्रायु का दूसरा भाग गृहस्थाश्रम में बिताना चाहिए ॥ १६७-१६९ ॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां स्मृतौ पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥५॥

॥महर्षि भृगु द्वारा प्रवचित मानव धर्म शास्त्र स्मृति का पाँचवाँ अध्याय समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥ मनुस्मृति ॥

॥अथ षष्ठोऽध्यायः छठा अध्याय ॥

वानप्रस्थाश्रम-धर्मे

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः।
वने वसेत् तु नियतो यथावद् विजितैन्द्रियः ॥ ॥१॥
गृहस्थस्तु यथा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥ ॥२॥
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ॥ ॥३॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ॥४॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद् विधिपूर्वकम् ॥ ॥५॥

इस प्रकार स्नातकद्विज गृहस्थाश्रम में विधिपूर्वक निवास करके, शुद्ध और जितेन्द्रिय होकर वानप्रस्थाश्रम को स्वीकार करे। जब गृहस्थ अपने शरीर की खाल ढीली, बाल पका और पुत्र के भी पुत्र अर्थात् पौत्र का दर्शन कर ले तब वन में निवास करे। ग्राम का आहार और घर का सामान छोड़कर, स्त्री को पुत्र के पास छोड़े अथवा अपने साथ ही लेकर, वन की यात्रा करे। अग्निहोत्र और

उसकी सामग्री साथ रक्खे और जितेन्द्रिय होकर निवास करे। मुनियो की भांति अनेकों प्रकार के अन्न, शाक, कन्द, फलों से पञ्चमहायज्ञ विधिपूर्व किया करे। ॥ १-५॥

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात् प्रगे तथा ।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ ॥६॥
यद्भक्ष्यं स्याद् ततो दद्याद् बलिं भिक्षां च शक्तितः।
अब्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ॥७॥

मृगचर्म या वल्कल धारण करें और प्रातःकाल-सांयकाल दोनों समय स्नान करे। जटा, दाढ़ी मूंछ, लोम और नख को सदा धारण करे। अपने भोजनार्थ जो कुछ हो उसमें से बलि और भिक्षा देनी चाहिए और आश्रम में आए मनुष्यों का जल, कन्द, फल और भिक्षा से सत्कार करना चाहिए। ॥६-७॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ॥८॥
वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।
दर्शमस्कन्दयन् पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ॥९॥
ऋक्षेष्ट्य्।आग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत् ।
तुरायणं च क्रमशो दक्षस्यायनमेव च ॥ ॥१०॥
वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत् पृथक् ॥ ॥११॥
देवताभ्यस्तु तद् हुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः ।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥ ॥१२॥
स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात् स्नेहांश्च फलसंभवान् ॥ ॥१३॥

वर्जयेन् मधु मांसं च भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेश्मातकफलानि च ॥ ॥१४॥

वानप्रस्थी को सदा वेदपाठ में लगे रहना चाहिए, इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए, सब से मित्रतापूर्वक व्यवहार रखना चाहिए, मन को स्थिर रखना चाहिए, सदा दान देना चाहिए, किसी का दान नहीं लेना चाहिए और सब प्राणियों पर दयादृष्टि रखनी चाहिए। वैतानिक[31] अग्निहोत्र सदा करना चाहिए, और अमावस-पूर्णिमा को इष्टि भी करना चाहिए। नक्षत्रयाग, चातुर्मास्य, उत्तरायण और दक्षिणायन याग को क्रम से करना चाहिए। वसंत और शरद् ऋतु के मनु अन्नों को खुद लाकर, विधि से चरु और पुरोड़ाश बनाकर यज्ञ करना चाहिए। इस पवित्र हवि से देव होम करके बाकी बचा अन्न स्वयं खा लेना चाहिए। भूमि और जल में पैदा होनेवाले शाक, पवित्र वृक्षों के फूल, फल, कंद और फलों से निकला तेल आदि खाना चाहिए। मद्य, मांस, कुकुरमुत्ता, सहंजन, लहसोड़ा इत्यादि नहीं खाना चाहिए। ॥ ३-१४ ॥

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसञ्चितम् ।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ ॥१५॥

अश्विन मास में, पहले से इक्कठा किए हुए मुनि अन्न को अलग कर, नया संग्रह कर लेना चाहिए और पुराने कपड़े, शाक, कन्द, फल इत्यादि को भी अलग कर देना चाहिए। ॥१५॥

---

[31] गृहपत्य कुंड मे स्थित अग्नि को आहवनीय दक्षिणअग्नि मे मिलाने का नाम वितान है

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केन चित् ।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलाणि च फलानि च ॥ ॥१६॥
अग्निपक्काशनो वा स्यात् कालपक्कभुजेव वा ।
अश्मकुट्टो भवेद् वाऽपि दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥ ॥१७॥
सद्यः प्रक्षालको वा स्यान् माससञ्चयिकोऽपि वा।
षण्मासनिचयो वा स्यात् समानिचय एव वा ॥ ॥१८॥
नक्तं चान्नं समश्नीयाद् दिवा वाऽहृत्य शक्तितः।
चतुर्थकालिको वा स्यात् स्याद् वाऽप्यष्टमकालिकः ॥ ॥१९॥

खेत इत्यादि में दूसरे का छोड़ा हुआ अन्न और गाँव के फल, फूल, शाक आदि दुःख प्राप्त होने पर भी नहीं खाना चाहिए। मुनि अन्नों को आग में पकाकर खाना चाहिए अथवा ऋतु के पके फलों को ही खाना चाहिए, पत्थर से पीसकर अथवा दांतों से ही चबा कर खाना चाहिए। एक दिन के, एक महीना के, छः महीने के अथवा एक साल के निर्वाह योग्य अन्न का संग्रह करना चाहिए। अन्न लाकर रात या दिन में एकबार भोजन करना चाहिए अथवा एक दिन उपवास करके, दूसरे दिन सायंकाल अथवा तीन दिन उपवास करके चौथे दिन सायंकाल भोजन करना चाहिए। ॥१६-१९॥

चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत् ।
पक्षान्तयोर्वाऽप्यश्नीयाद् यवागूं क्कथितां सकृत् ॥ ॥२०॥
पुष्पमूलफलैर्वाऽपि केवलैर्वर्तयेत् सदा ।
कालपक्कैः स्वयं शीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥ ॥२१॥
भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद् वा प्रपदैर्दिनम् ।
स्थानासनाभ्यां विहरेत् सवनेषूपयन्नपः ॥ ॥२२॥
ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद् वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥ ॥२३॥

शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष में चान्द्रायण व्रत की विधि से रहना चाहिए अथवा पूर्णिमा और अमावस्या को एक बार उबाली हुई यवागू[32] खाना चाहिए। अथवा ऋतु में पके और स्वयं गिरे फल, मूल, फूल इत्यादि से ही निर्वाह करना चाहिए। वानप्रस्थी को भूमि पर बैठा रहना चाहिए या दिनभर पैरों पर खड़े रहें, अपने स्थान और आसन में विहार करना चाहिए। सांय, प्रातः, मध्याह्न, तीनों काल स्नान करना चाहिए। गर्मी में पञ्चाग्नि सेवन करना चाहिए। वर्षा में खुले स्थान में रहना चाहिए , शीतकाल में गीला कपड़ा धारण करना चाहिए और इस प्रकार तपस्या को धीरे धीरे बढ़ाते रहना चाहिए ॥२०-२३॥

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन् देवांश्च तर्पयेत् ।
तपस्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद् देहमात्मनः ॥ ॥२४॥
अग्नीनात्मनि वैतानान् समारोप्य यथाविधि ।
अनग्निरनिकेतः स्यान् मुनिर्मूलफलाशनः ॥ ॥२५॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराऽऽशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ ॥२६॥
तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ ॥२७॥
ग्रामादाहृत्य वाऽश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन् ।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ ॥२८॥
एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ ॥२९॥

---

[32] जौ अथवा किसी अन्य उबाले हुए अन्न की माँड़

त्रिकाल स्नान करके, देवता और पितरों को तृप्त करना चाहिए और उग्रतर तपस्या करके अपना शरीर सुखाना चाहिए। शास्त्रविधि के अनुसार अग्निहोत्र का अपने में समारोप करके, अग्नि और घर को त्याग देना चाहिए और मौन रहकर फल मूल से निर्वाह करना चाहिए। ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए, भूमि पर सोना चाहिए, सुख के पदार्थों का उपयोग नहीं करना चाहिए और निवास स्थान में ममता छोड़कर वृक्ष के नीचे रहना चाहिए। वानप्रस्थी को वनवासी ब्राह्मणों से प्राणरक्षार्थ भिक्षा लानी चाहिए अथवा वनवासी गृहस्थ को द्विजों से ही भिक्षा माँग लेना चाहिए। यह भिक्षा न मिले तो गाँव से भीख पत्ते में अथवा हाथ में ही मांग कर आठ ग्रास खाना चाहिए। इन दीक्षाओं और अन्य जो वानप्रस्थों के लिए कहा गया है का वन में रहता हुआ सेवन करना चाहिए और विविध उपनिषदों में आई श्रुतियों का आत्मज्ञानार्थ अभ्यास करना चाहिए। ॥२४-२९॥

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः ।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ॥३०॥
अपराजितां वाऽस्थाय व्रजेद् दिशमजिह्मगः ।
आ निपातात्शरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥ ॥३१॥

इन नियमों का धारण, ऋषि, ब्राह्मण और गृहस्थों ने भी अपनी विद्या और तपस्या की वृद्धि और शरीर शुद्धि के लिए सदा किया है। इस प्रकार आचार करते हुए यदि कोई रोग आदि हो जाय, जो दूर न हो सके तो केवल वायु का आहार करता हुआ, ईशान कोण तक शरीरान्त तक चला जाए। ॥३०-३१॥

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम् ।
वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ॥३२॥

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥ ॥३३॥

इन महर्षियों के अनुष्ठानों में से कोई अनुष्ठान करके विप्र शरीर को छोड़कर शोक, भय से रहित, ब्रह्मलोक में महिमा पाता है। इस प्रकार आयु के तीसरे भाग को वन में बिताकर, चौथे भाग में विषय आदि वासना छोड़कर, संन्यास आश्रम को धारण करना चाहिए। ॥३२-३३॥

संन्यासाश्रम-धर्म

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥ ॥३४॥
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ॥३५॥
अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ॥३६॥
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ ॥३७॥
प्राजापत्यं निरुप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ ॥३८॥

आश्रम से आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, उससे वानप्रस्थ में जाकर और हवन, भिक्षा, बलि आदि से थका हुआ, संन्यास लेने वाला पुरुष देह त्याग करने पर मोक्ष पाता है। ऋषिऋण, देव ऋण और पितृऋण इन तीनों से छुटकारा पाने पर, मन को मोक्ष धर्म में लगाना चाहिए, अन्यथा करने से नरकगामी होता है। विधि से वेदाध्ययन-ऋषि ऋण,

धर्म विवाह से पुत्रोत्पादन–पितृऋण, यज्ञ आदि देवऋण, इनसे यथाशक्ति विश्राम लेकर मोक्ष में चित्त को लगाना चाहिए। जो पुरुष वेदादि का पाठ न करके, पुत्रों को उत्पन्न किये बिना और यथा विधि यज्ञों को न करने मोक्ष की इच्छा से संन्यास लेता है वह नरक में गिरता है। सर्वस्व दक्षिणा की प्रजापति देवता की दृष्टि को करके और आत्मा में अग्नि का आधान करके ब्राह्मण को संन्यास ग्रहण करना चाहिए। ॥३४-३८॥

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् । त
स्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ॥३९॥
यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ॥४०॥
अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ॥४१॥
एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ।
सिद्धिमेकस्य सम्पश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ॥४२॥
अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसङ्कुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ॥४३॥

जो पुरुष सभी प्राणियों को अभय देकर, घर से चतुर्थ आश्रम (सन्यास) को जाता है उस ब्रह्म ज्ञानी को तेजोमय लोक प्राप्त होते हैं। जिस द्विज से प्राणियों को थोडा सा भी भय उत्पन्न नहीं होता, उसको देह त्यागने पर कहीं किसी का भय नहीं रहता। घर से निकल कर, पवित्र दण्ड और कमण्डल धारण करके, मौन भाव से विचारना चाहिए तथा सभी लौकिक कार्यों से विरक्त हो जाना चाहिए। सन्यासी तो सदैव अकेले ही नित्य विचारना चाहिए, किसी की मदद नहीं लेनी चाहिए, क्योंकि मुक्ति सदा अकेले ही प्राप्त होती है। ऐसे पुरुष

को न किसी के त्याग का दुःख होता है और न उससे दूसरे किसी और को दुःख पहुँचता है। अग्नि और घर को छोड़कर भिक्षा के लिए गाँव का आश्रय लेना चाहिए। दुःख में चिन्ता नहीं करनी चाहिए तथा स्थिरचित्त और मुनि धर्म से समय व्यतीत करना चाहिए ॥३९-४३॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता ।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतत्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ॥४४॥
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्वेशं भृतको यथा ॥ ॥४५॥
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ॥४६॥

भिक्षापात्र, वृक्ष के नीचे निवास, मैले कुचैले वस्त्र, किसी की सहायता न लेना और सभी के ऊपर समान भाव रखना, ये सब मुक्त पुरुष के लक्षण हैं । न तो मरने की और न ही जीने की इच्छा करनी चाहिए किन्तु केवल काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए जैसे नौकर आज्ञा की प्रतीक्षा करता है। आँखों से देखकर भूमि में पैर रखना चाहिए, जल को छानकर पीन चाहिए, वाणी से सदैव सत्य बोलना चाहिए और मन को पचित्र रखकर आचरण करना चाहिए ॥४४-४६॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कं चन ।
न चैमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केन चित् ॥ ॥४७॥
क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ॥४८॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ॥४९॥

कोई व्यर्थ झगड़ा करे तो उसको सहन करना चाहिए, किसी का अपमान नहीं करना चाहिए। और इस देह से किसी से वैर करना भी अच्छा नहीं हैं। क्रोध करनेवाले पर क्रोध, निन्दक की निन्दा न करे अपितु उसका कुशल वृत्तान्त पूछे। पाँचों इन्द्रियां, मन और बुद्धि इन सात द्वारों में बिखरी हुई असत्य वाणी को नहीं कहना चाहिए, परन्तु सदैव ईश्वर चिन्ता में लगा रहना चाहिए। परब्रह्म के ध्यान में मग्न, योगासन से स्थित, ममता को छोड़ कर, केवल अपनी सहायता से ही मोक्षसुख चाहता हुआ इस जगत् में विचरण करना चाहिए ॥ ४७-४६॥

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हि चित् ॥ ॥५०॥
न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वाऽन्यैरगारमुपसंव्रजेत् ॥ ॥५१॥
कॢप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ॥५२॥
अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ ॥५३॥
अलाबुं दारुपात्रं च मृण्मयं वैदलं तथा ।
एताणि यतिपात्राणि मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ ॥५४॥

भूकम्प आदि उत्पात, ग्रह-नक्षत्र का फल, हाथ की रेखा, उपदेश या शास्त्रार्थ के बहाने भिक्षा की इच्छा नहीं करनी चाहिए। वानप्रस्थ को दूसरे किसी ब्राह्मण, पक्षी, कुत्ता या भिखारियों से घिरे स्थान में, भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए। केश, नख और दाढ़ी मूछों को मुंडाकर, भिक्षा पात्र, दण्ड, कमण्डलु और रंगे वस्त्रों के सहित, किसी को दुःख न देकर, नियम से विचारना चाहिए। संन्यासी के पात्र, सोना, चांदी

आदि धातु के न हों, उन पात्रों की पवित्रता यज्ञपात्रों की भांति जल से ही होती है। तुंबी, काठ, मिट्टी या बांस का पात्र संन्यासियों के लिए शास्त्र में लिखा है । इनको 'यतिपात्र' कहते हैं ॥ ५०-५४ ॥

एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ॥५५॥
विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
वृत्ते शरावसम्पाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ॥५६॥
अलाभे न विषदी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यात्मात्रासङ्गाद् विनिर्गतः ॥ ॥५७॥
अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥ ॥५८॥

संन्यासी को केवल एक बार ही भिक्षा मांगने जाना चाहिए, अधिक बार भिक्षा नहीं मांगनी चाहिए। क्योंकि अधिक भिक्षा से कामादि विषयों में मन लग जाता है। रसोई का धुआं निकल गया हो, कूटना बंद हो चुका हो, आग बुझादी गई हो, सब भोजन कर चुके हों, पात्र फेंक दिये हों तब ऐसे गृह में भिक्षा करनी चाहिए अर्थात केवल बचे खुचे भोजन की ही कामना करनी चाहिए। भिक्षा न मिलने पर दुःख और मिलने पर आनन्द नहीं मानना चाहिए, जीवनमात्र का ही उपाय करना चाहिए। शब्द, स्पर्श आदि विषयों से रहित, सत्कार के साथ मिली भिक्षाओं से घृणा करे, क्योंकि ऐसी भिक्षाओं से मुक्त हुआ संन्यासी भी बन्धन में पड़ जाता हैं ॥५५-५८॥

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च ।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ॥५९॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ॥६०॥
अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ॥६१॥
विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः ।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ॥६२॥

थोड़ा भोजन से, निर्जन में निवास से, विषयों में खिंची हुई इन्द्रियों को रोकना चाहिए। इन्द्रियों को रोककर, राग-द्वेष के नाश और प्राणियों की हिंसा न करने से पुरुष मोक्ष के योग्य होता है। मनुष्य के कर्म दोषों से दुर्गति, नरक में वास और मृत्यु पश्च्यात यम-यातना आदि का विचार करना चाहिए। पुत्र, स्त्री आदि प्रियजनों का वियोग, शत्रुओं के संयोग, वृद्धावस्था में तिरस्कार और रोगों से शरीर क्लेश, यह सब निषिद्ध कर्मों का फल समझना चाहिए। ॥५१-६२॥

देहादुत्क्रमणं चास्मात् पुनर्गर्भे च संभवम् ।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ॥६३॥
अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ॥६४॥
सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ॥६५॥
दूषितोऽपि चरेद् धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ॥६६॥
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ॥६७॥

इस देह से निकलना, फिर गर्भ में उत्पत्ति और अनेकों योनियों में इस जीवात्मा का जाना, यह सभी अपने कर्मफल हैं। अधर्म से दुःख में

पड़ना और धर्म से अक्षय सुख-मोक्ष मिलना इसका विचार करना चाहिए। योग से परमात्मा की सूक्ष्मता का ध्यान करना चाहिए और उत्तम-अधम योनियों में शुभाशुभ फलभोगार्थ जीवों की उत्पत्ति का विचार करना चाहिए। आश्रम के विरुद्ध कोई दोष भी लगे, तब भी जीवों पर समभाव रखकर धर्माचरण करना चाहिए । क्योंकि दण्ड कमंडल चिह्न धारण करना ही धर्माचरण नहीं कहलाता। जैसा की निर्मली के फल का नाम लेने से ही जल निर्मल नहीं होता, उसको जल में छोड़ने से होता है। ऐसे ही आश्रम चिह्न धारण से फल नहीं होता किन्तु आचरण से होता है। ॥६३-६७॥

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा ।
शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ॥६८॥
अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः ।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत् ॥ ॥६९॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत् कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ॥७०॥

दिन हो या रात, संन्यासी को भूमि में जीवों से बचाकर पैर रखना चाहिए चाहें शरीर को दुःख भी प्राप्त हो। जो यति चलता फिरता अनजाने में, जीवों की हिंसा करता है, उस पाप के नाशार्थ स्नान करके छह प्राणायाम करने चाहिए। यदि ब्राह्मण प्रणव और व्याहृति से विधिपूर्वक तीन भी प्राणायाम करे तो भी, उसको परम तप मानना चाहिए। ॥६८-७०॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ॥७१॥
प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् ।

प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥ ॥७२॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ॥७३॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ॥७४॥

जैसे सुवर्ण आदि धातुओं का मैल अग्नि में धौंकने से जल जाता है वैसे ही प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं। प्राणायाम से दोषो को, ब्रह्म में मन की धारणा से पाप को, इन्द्रियसंयम से विषयों को और ध्यान से काम, क्रोध, मोह आदि को जला देना चाहिए। इसी प्रकार जीव की ऊंची, नीची योनियों में जन्मप्राप्ति का भेद ध्यान योग से जानना चाहिए, क्योंकि जीवगति सब को ज्ञात नहीं होती। ब्रह्म साक्षात्कार करने वाला पुरुष कर्मबन्धन में नहीं बँधता और जो उससे रहित है वह जन्म-मरण के बन्धन में पड़ता है। ॥७१-७४॥

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ॥७५॥
अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ॥७६॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ॥७७॥
नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ।
तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद् ग्राहाद् विमुच्यते ॥ ॥७८॥

अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, वैदिक कर्मानुष्ठान, व्रत आदि उग्र तपों से इस लोक में ब्रह्मपद का साधन होता है । यह शरीर हड्डी रूप खंभा में स्नायुरूप डोरियों से बँधा, मांस और रुधिर रूप गारा से लिपा चमड़ा

से मढ़ा, मल-मूत्र और दुर्गन्धि से पूर्ण है। बुढ़ापा शोक, रोग, दुःख का घर हैं, रजोगुणी है, अनित्य है, पांच महाभूतों का निवासस्थान है, इससे ममता छोड़ देनी चाहिए। जैले नदी तट को वृक्ष छोड़ देता है, पक्षी वृक्ष को छोड़ देता है, वैसे सन्यासी इस देह की ममता छोड़ दे तो कठिन संसार रुपी ग्राह से छूट जाता है ॥ ७५-७८ ॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥ ॥७९॥
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चैह च शाश्वतम् ॥ ॥८०॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गान् शनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ॥८१॥
ध्यानिकं सर्वमेवैतद् यदेतदभिशब्दितम् ।
न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ ॥८२॥

ब्रह्मज्ञानी पुरुष अपने प्रिय में पूर्वजन्म अर्जित पुण्य और अप्रिय में दुष्कृत जानकार उससे होने वाले रागद्वेष आदि को त्यागकर, ध्यानयोग से सनातन ब्रह्मपद को प्राप्त होता है। जब संन्यासी सब प्रकार से निःस्पृह हो जाता है, तब इस लोक में सुख पाता है और मरण के बाद मोक्ष सुख को प्रपात करता है। इस रीति से धीरे धीरे त्याग कर, दुःख सुख से मुक्त होकर, ब्रह्म में ही स्थित हो जाता है। यह जो धन, पुत्र आदि की ममता का त्याग कहा है, वह सब परमात्मा के ध्यान से ही हो सकता हैं। जिसको आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं है, उसे ध्यानादि कर्मों का फल प्राप्त नहीं होता ॥७६-८२॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च ।
आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥ ॥८३॥

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ॥८४॥
अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ॥८५॥
एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम् ।
वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥ ॥८६॥

यज्ञ, देवता और आत्मा के विषय में जो वेदमन्त्र हैं और वेदांत (ब्रह्मज्ञान) प्रतिपादक जो मन्त्र हैं उनका सदा पाठ और जप करना चाहिए। यह वेद ज्ञानी, अज्ञानी और स्वर्ग, मोक्ष की इच्छावालों को भी शरण देने वाला है अर्थात् वेद ही सर्वस्व है। इस क्रम से जो द्विज संन्यास धारण करता है, वह सब पापों से छूटकर, ब्रह्मभाव में लीन हो जाता है। इस प्रकार, यह धर्म जितेन्द्रिय यतियों का कहा गया है अब वेद संन्यासी, अर्थात् जो चिन्ह धारण गृहत्याग न करके ज्ञान से ही संन्यासी हैं उनका कर्मयोग सुनो ॥ ८३-८६ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ॥८७॥
सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ॥८८॥
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥ ॥८९॥
यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ॥९०॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति यह चार अलग अलग आश्रम गृहस्थ से उत्पन्न हैं। यह चारों आश्रम नियम से सेवित हों तो

उत्तमगति देनेवाले हैं। इन सब आश्रमों में वेद और स्मृतियों के अनुसार गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ कहा गया है। क्योंकि यह तीनों का पालन करता है। जैसे सब नदी और नद समुद्र में जाकर ठहरते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थ का आश्रय रखते हैं । ॥८७-९०॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ॥९१॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ॥९२॥
दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ॥९३॥

ब्रह्मचारी आदि चारों आश्रम वाले द्विजों को दस लक्षण वाले धर्म का सेवन यत्न से करना चाहिए। उनके लक्षण इस प्रकार हैं १ धैर्य, २ क्षमा, ३ दम – मन को रोकना, ४ अस्तेय-चोरी न करना, ५ शौच-बाहर भीतर से शुद्ध, ६ इन्द्रिय-निग्रह, ७ धी- शास्त्रज्ञान, ८ विद्या-ब्रह्मविद्या, ९ सत्य, १० अक्रोध-क्रोध न करना। जो विप्र धर्म के इन दस लक्षणों को पढ़ते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं, वह परमगति को प्राप्त करते हैं। ॥९१-९३॥

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः ।
वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥ ॥९४॥
संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ॥ ॥९५॥
एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।
संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमं गतिम् ॥ ॥९६॥
एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।

पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ॥९७॥

ऋषि, देव और पितरों के ऋण से मुक्त होकर, दस लक्षण युक्त धर्म का सेवन करते हुए द्विज को वेदान्त सुनकर संन्यास को धारण करना चाहिए। सभी अग्निहोत्रादि कर्मों को छोड़कर, पापों का प्राणायाम से नाश करके, जितेन्द्रिय होकर वेद का अध्ययन करना चाहिए और पुत्रों को दिये भोजन, वस्त्रादि का सुख से उपभोग करना चाहिए। इस प्रकार, सब कर्मों को छोड़कर, केवल आत्म साक्षात्कार में तत्पर रहकर, संन्यास धारण करने से ब्रह्मपद को पहुँचता है। यह पवित्र और परलोक में अक्षय फल देनेवाला ब्राह्मण को चारों प्रकार का धर्म कहा गया हैं। अब राजधर्म को सुनो। ॥९४-९७॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां स्मृतौ षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥६॥

॥महर्षि भृगु द्वारा प्रवचित मानव धर्म शास्त्र स्मृति का छठा अध्याय समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥ मनुस्मृति ॥

॥अथ सप्तमोऽध्यायः सातवां अध्याय ॥

राजधर्म

राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ ॥१॥
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ ॥२॥
अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुतो भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥ ॥३॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ॥४॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ॥५॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ॥६॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ॥७॥

जैसा राजा का आचरण होना चाहिए, जैसे उसकी उत्पत्ति हुई हैं, और जिस प्रकार उसको परम सिद्धि प्राप्त होती है वह सब आगे

कहूँगा। उपनयन संस्कार वाले क्षत्रिय राजा को न्यायानुसार इस जगत् की रक्षा करनी चाहिए। इस जगत् में जब राजा नहीं था और प्रजा भय से व्याकुल होने लगी, तब परमात्मा ने जगत् की रक्षा के लिए राजा को उत्पन्न किया। इन्दु, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर इन आठ लोकपालों के सनातन अंशो को लेकर परमात्मा ने राजा का निर्माण किया है । इन लोकपालों की मात्रा से राजा बनाया गया है, इसलिए वह अपने तेज़ से सभी प्राणियों को दबा देता है। राजा को जो देखता है, उसके आँख और मन पर सूर्य का सा प्रभाव पड़ता है, इसलिए सामने होकर कोई राजा को देख नहीं सकता। राजा अपने प्रभाव में अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र के समान है॥१-७॥

बालोऽपि नावमान्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ॥८॥
एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम् ।
कुलं दहति राजाऽग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम् ॥ ॥९॥
कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः ।
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ ॥१०॥
यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे । मृ
त्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ॥११॥
तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात् स विनश्यत्यसंशयम् ।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥ ॥१२॥

राजा बालक भी हो तो भी यह मनुष्य है ऐसा मानकर उसका अपमान नहीं करना चाहिए क्योंकि यह एक बड़ा देवता मनुष्य रूप में स्थित है। यदि मनुष्य अग्नि से दुष्टता करे तो अग्नि केवल उसी मनुष्य को जला देता है परन्तु राजा रूप अग्नि दुष्टता करने पर

मनुष्य को धन और पशु सहित भस्म कर देता है। राजा देश, काल, कार्य और शक्ति का उत्तम विचार कर, अपने राजधर्म की सिद्धि के लिए अनेक रूप कभी क्षमा, कभी क्रोध, कभी मित्रता इत्यादि धारण करता हैं। जिसकी प्रसन्नता में लक्ष्मी, पराक्रम में जय और क्रोध में मृत्यु का वास है, वह राजा सर्वतेजोमय है। उसके साथ अज्ञान से जो द्वेष करता है, वह निःसंदेह नष्ट हो जाता है। क्योंकि उसके नाश का विचार शीघ्र ही राजा मन में करता है ॥८-१२ ॥

तस्माद् धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ॥१३॥
तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत् पूर्वमीश्वरः ॥ ॥१४॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद् भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥ ॥१५॥

इसलिए राजा अपने अनुकूल मित्र और शत्रु के लिए जिस धर्म-व्यवस्था की स्थापन करे उसको कभी नहीं तोड़ना चाहिए। प्रजापति ने राजा के लिए सब प्राणियों की रक्षा करनेवाले, ब्रह्मतेजमय, धर्मरूप और अपने पुत्ररूप दण्ड को पहले से ही पैदा किया है। दण्ड के भय से चराचर समस्त प्राणी अपने भोग को प्राप्त होते हैं और धर्म से विचलित नहीं होते ॥१३-१५॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।
यथार्हतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥ ॥१६॥
स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ ॥१७॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ ॥१८॥
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ ॥१९॥
यदि न प्रणयेद् राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः ।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥ ॥२०॥

देश, काल, शक्ति और विद्या का विचार करके यथायोग्य अपराधियों को दण्ड दे। वह दण्ड ही राजा है, पुरुष है, वही राज्य को नियम में रखनेवाला है, शासक हैं और वहीं चारों आश्रमधर्म का प्रतिभू[33] है। दण्ड ही सम्पूर्ण प्रजा का शासन करता हैं। दण्ड ही रक्षा करता है, सोते हुए दण्ड ही जागता हैं, विद्वान् लोग दण्ड को ही धर्म मानते हैं। उस दण्ड का विचारपूर्वक प्रयोग होने से राजा समस्त प्रजा को प्रसन्न करता है और अविचार से प्रयोग होने पर सब तरह से नाशकारक होता है। यदि राजा आलस्य रहित होकर अपराधियों को दण्ड न दे तो शूल पर मछलियों की भांति बलवान लोग निर्बलों को भून डालें ॥१६-२०॥

अद्यात् काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्ध हविस्तथा ।
स्वाम्यं च न स्यात् कस्मिंश्चित् प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥ ॥२१॥
सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात् सर्वं जगद् भोगाय कल्पते ॥ ॥२२॥
देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ ॥२३॥

[33] जमानत करनेवाला व्यक्ति

राजा दण्ड न करे तो कौआ पुरोडाश खा जायँ, कुत्ते यज्ञ बलि चाट जाएँ, कोई किसी का स्वामी न हो सके और सब उंची नीची बातों का विचार भ्रष्ट हो जाए। पवित्र मन का पुरुष दुर्लभ है। सब लोग दण्ड से ही सन्मार्ग में रहते हैं और जगत् के वैभव को भोग सकते हैं। देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी और सर्प भी दण्ड ही से दबकर अपने भोग को भोग सकते हैं ॥२१-२३॥

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद् दण्डस्य विभ्रमात् ॥ ॥२४॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति ॥ ॥२५॥
तस्याहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ ॥२६॥
तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ ॥२७॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद् विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ ॥२८॥

दण्ड के बिना सभी वर्ण विरुद्धाचरण में प्रवृत्त हो जाएँ और चतुर्वर्गरूप पुल टूट जाएँ और सभी लोगों में उपद्रव हो जायें। जिस देश में श्यामवर्ण, रक्तनेत्र, पापनाशक दण्ड विचरता है और राजा सभी तरफ न्यायदृष्टि से देखता है, वहां प्रजा को दुःख नहीं होता। जो राजा उस दण्ड का उचित प्रयोग करता है वह अर्थ, धर्म और काम से वृद्धि पाता है परन्तु काम, क्षुद्रवृत्ति हो तो उस दण्ड से स्वयं नष्ट हो जाता है। वास्तव में दण्ड में बड़ा तेज है, उसका धारण साधारण राजा नहीं कर सकते हैं। धर्म से च्युत राजा को यह कुटुम्ब सहित नष्ट कर देता है ॥२४-२८॥

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ।
अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन् देवांश्च पीडयेत् ॥ ॥२९॥
सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ॥३०॥
शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा । प्र
णेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ॥३१॥

उसके बाद दण्ड दुर्ग, देश और चराचर जगत् का नाश करता है। अन्तरिक्षवासी देवता और मुनियों को भी हव्य-कव्य न मिलने से वह दण्ड पीड़ा पहुँचाता हैं। मन्त्री या सेना की सहायता से रहित, लोभी, मूर्ख, निर्बुद्धि, विषयासक्त राजा से वह दण्ड अर्थात् राजधर्म नहीं चल सकता। न्यायपूर्वक मिले धन से शुद्ध, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार बर्ताव करनेवाला बुद्धिमान् राजा, मन्त्री आदि की सहायता से दण्ड विधान कर सकता है ॥ २६-३१ ॥

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु । सु
हृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ ॥३२॥
एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ॥३३॥
अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ।
सङ्क्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ॥३४॥
स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ॥३५॥

राजा को अपने राज्य में न्यायकारी और शत्रुओं को, सदा दण्ड देनेवाला, हितैषियों से कुटिलता रहित और ब्राह्मणों पर क्षमावान्

होना चाहिए। ऐसा बर्ताव करनेवाले, शिलोच्छवृत्ति से भी जीते हुए राजा का यश लोक में जल में तेल की बूंद के समान फैलता है। विषयासक्त और उक्त रीति से विपरीत आचरण करनेवाले का यश पानी में घी के बूंद की भांति संकोच को प्राप्त होता है। अपने अपने धर्म पर चलने वाले सभी वर्णों और आश्रमों की रक्षा करनेवाला प्रजापति ने राजा को उत्पन्न किया है ॥३२-३५॥

तेन यद् यत् सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः ।
तत् तद् वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ॥३६॥
ब्राह्मणान् पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ।
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषस्तिष्ठेत् तेषां च शासने ॥ ॥३७॥
वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान् वेदविदः शुचीन् । वृ
द्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ॥३८॥

इसलिए मन्त्रियों सहित राजा की प्रजारक्षा के लिए जो जो कर्म करने चाहिए उनको क्रम से कहता हूँ-राजा को प्रातःकाल उठकर तीनों वेदों में पारंगत श्रेष्ठ, विद्वान्, ब्राह्मणों के साथ बैठना और उनकी आशानुसार आचरण करना चाहिए। वेदज्ञ, पवित्र, वृद्ध ब्राह्मणों की नित्य सेवा राजा को करनी चाहिए, क्योंकि वृद्धसेवा में तत्पर राजा दुष्ट कुजीवों से भी सत्कार से पूजा जाता है। ॥३६-३८॥

तेभ्योऽधिगच्छेद् विनयं विनीतात्माऽपि नित्यशः ।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हि चित् ॥ ॥३९॥
बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात् प्रतिपेदिरे ॥ ॥४०॥
वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ।
सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥ ॥४१॥

पृथुस्तु विनयाद् राज्यं प्राप्तवान् मनुरेव च ।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ ॥४२॥

शिक्षित राजा को भी ऐसे योग्य ब्राह्मण से नित्य विनय सीखना चाहिए क्योंकि विनीत राजा को कभी हानि नहीं पहुँचती। अनेकों राजा अविनय से धन सम्पत्ति सहित नष्ट हो गये हैं और अनेकों ने जंगल में रहकर भी अपने विनय से राज्य प्राप्त किया है। राजा वेन, नहुष, सुदास, यवन, सुमुख और निमि अपने अविनय-दुराचार से नष्ट हो गये थे और पृथु और मनु ने विनय से राज्य को प्राप्त किया। कुबेर ने धनाधिपत्य का पद और विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व विनय से ही प्राप्त किया था ॥ ३६-४२ ॥

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ ॥४३॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद् दिवानिशम् ।
जितैन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥ ॥४४॥
दश कामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुर्ऽन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ॥४५॥
कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ॥४६॥

वेदज्ञों से वेद, दण्डनीति, ब्रह्मविद्या को पढना चाहिए और अर्थशास्त्र इत्यादि व्यवहार विद्या को सीखना चाहिए। इन्द्रियों को वश में रखने का सदा उद्योग करना चाहिए क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में रख सकता है। काम से पैदा हुए दस और क्रोध से पैदा हुए आठ व्यसनों का कोई अन्त नहीं है इनसे राजा को यत्नपूर्वक बचना चाहिए। काम से पैदा व्यसन में आसक्त राजा अर्थ और धर्म से हीन

हो जाता है और क्रोध से पैदा हुए व्यसनों में आसक्त हो जाने से अपना शरीर ही नष्ट हो जाता है ॥४३-४६॥

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ॥४७॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयाऽर्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ॥४८॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ॥४९॥
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत् कष्टतमं विद्यात्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ॥५०॥
दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात् कष्टमेतत् त्रिकं सदा ॥ ॥५१॥

शिकार, जुआ, दिन में सोना, दूसरे के दोषों को कहना, स्त्री संभोग, मद्यपान, नाच, बाजा और व्यर्थ घूमना यह दस काम के व्यसन हैं अर्थात् काम से पैदा हुए हैं। चुगली, साहस, द्रोह, ईर्षा, दूसरे के गुणों में दोष ढूंढना, द्रव्य हर लेना, गाली देना, कठोरपन यह आठ क्रोध से उत्पन्न व्यसन हैं। विद्वान् लोग इन दोनों प्रकार के दोषों का कारण लोभ कहते हैं, इसलिए लोभ को अवश्य छोड़ देना चाहिए। काम से पैदा व्यसनों में मद्यपान, जुआ, स्त्रीसंग और शिकार यह एक से एक बढ़कर दुःखदायी हैं। और क्रोध से पैदा व्यसनों में मारपीट, कठोर वचन, दूसरे की धनहानि करना, यह तीन बड़े दुःखदायी हैं ॥ ४७-५१॥

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद् व्यसनमात्मवान् ॥ ॥५२॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥ ॥५३॥
मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्भवान् ।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ॥५४॥

इस प्रकार यह सात व्यसन और इनके सम्वन्धवाले व्यसनों में एक से दूसरा अधिक कष्टदायक है। मृत्यु से व्यसन अधिक कष्टदायक माना जाता है। व्यसनी पुरुष मरकर नरक में पड़ता है और जो व्यसन से दूर है, वह स्वर्गगामी होता है। परंपरा से राजसेवक, नीतिविद्या में चतुर, शूरवीर, अच्छा निशाना लगाने वाले, कुलीन और असमय में परीक्षित, सात अथवा आठ मुख्य राजमंत्री रखने चाहिए ॥५२-४४॥

अपि यत् सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किं तु राज्यं महोदयम् ॥ ॥५५॥
तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ॥५६॥
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्द हितमात्मनः ॥ ॥५७॥
सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥ ॥५८॥
नित्यं तस्मिन् समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत् ।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥ ॥५९॥
अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान् सुपरीक्षितान् ॥ ॥६०॥

जबकि गृहस्थ का एक छोटा सा भी काम एक पुरुष को करना कठिन पड़ता है तब बड़ा भारी राजकार्य बिना सहायता के अकेला राजा कैसे कर सकता है? उन, मन्त्रियों के साथ साधारण संधि-विग्रह की सलाह और दण्ड, पुर, राष्ट्र, स्थान अदि का विचार करना चाहिए। द्रव्य मिलने के उपाय, धनरक्षा, देशरक्षा आदि का भी परामर्श करना चाहिए। उन मन्त्रियों को अलग अलग सलाह लेकर जो अपना हित कर कार्यं हो उसे करना चाहिए। उन मन्त्रियों में विद्वान्, धार्मिक ब्राह्मण, मन्त्री के साथ संधि, विग्रह, आदि छह गुणवाला विचार करना चाहिए। विश्वास के साथ उस मंत्री पर, सभी कार्यों का भार रखना चाहिए और उसके साथ सम्मति लेकर कार्य करने चाहिए। पवित्र, बुद्धिमान्, स्थिर स्वभाव, संन्मार्ग से धन लानेवाले, परीक्षा किये हुए, अन्य मन्त्रियों को भी रखना चाहिए ॥५५-६०॥

निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ॥६१॥
तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान् ।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ॥६२॥

जितने मनुष्यों से पूरा काम निकले, उतने आलस्य से रहित बुद्धिमान्, राज कर्मचारियों की भरती राजा को करनी चाहिए। उनमें शूर, चतुर, कुलीन को धन के स्थान में, अर्थ शुचियों को कर व्यवस्था में और जो डरपोक हों उनको महलों के भीतर नियुक्त करना चाहिए ॥६१-६२॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ॥६३॥

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् ।
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ॥६४॥
अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया ।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ॥ ॥६५॥
दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।
दूतस्तत् कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवः ॥ ॥६६॥
स विद्यादस्य कृत्येषु निर्गूढेङ्गितचेष्टितैः ।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥ ॥६७॥
बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद् यथाऽत्मानं न पीडयेत् ॥ ॥६८॥

और दूत उसको रखना चाहिए जो बहुश्रुत हो और हृदय के भाव, आकार, चेष्टाओं को जानने वाला, अन्तःकरण का शुद्ध, चतुर और कुलीन हो । शत्रु को भी प्रेमपात्र, आचारपवित्र, कार्यकुशल, पूर्व बातों का स्मरण रखनेवाला, देश-काल ज्ञाता, सुन्दर, निर्भय और वाचाल हो, इन गुणों से युक्त राजा का दूत प्रशंसा योग्य होता हैं। मन्त्री के अधीन दण्ड और दण्ड के अधीन शिक्षा हैं। राजा के अधीन देश और खज़ाना हैं और दूत के अधीन मित्रता अथवा शत्रुता रहती है। दूत ही आपस के शत्रुओं को मिलता है और मिले हुए अलग करता है। दूत वह काम करता है जिससे मनुष्य लड़ कर अलग हो जाते हैं। दूत शत्रु के आकार, मनोभाव, और चेष्टाओं से उसके मन मे छिपे अभिप्राय को जान जाता है। दूत द्वारा शत्रु की सब चालों को ठीक ठीक जानकर, राजा को ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे वह शत्रुराजा भविष्य में कोई पीड़ा न दे सके ॥६३-६८॥

जाङ्गलं सस्यसम्पन्नमार्यप्रायमनाविलम् ।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ॥६९॥

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत् पुरम् ॥ ॥७०॥

जहाँ जंगल हो, खेती अच्छी हो, शिष्ट पुरुषों का वास हो, रोगादि अपद्रव से रहित हो, देखने में सुन्दर हों, आसपास के मनुष्य श्रद्धावान हों, ऐसे स्वाधीन देश में राजा को रहना चाहिए। धनुदुर्ग, मुहीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, सेनादुर्ग वा गिरिदुर्ग इन दुर्गों में किसी के आश्रय में नगर बसाना चाहिए ॥६९-७०॥

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ॥७१॥
त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाप्चराः ।
त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥ ॥७२॥
यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः ।
तथाऽरयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ॥७३॥
एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं दशसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते ॥ ॥७४॥
तत् स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः ।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ॥७५॥
तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः ।
गुप्तं सर्वऋतुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ॥७६॥

इन दुर्गों में गिरिदुर्ग श्रेष्ठ है। इसलिए सब यत्नों से उसका आश्रय ठीक है। उक्त दुर्गों में प्रथम तीन में (धनुदुर्ग, मुहीदुर्ग, जलदुर्ग) क्रम से मृग, चूहा और नाग रहते हैं। बाक़ी तीनों में (वृक्षदुर्ग, सेनादुर्ग वा गिरिदुर्ग) वानर, मनुष्य और देवता निवास करते हैं। जैसे इन दुर्गों में रहने वाले मृगादि को कोई हिंसक जंतु मार नहीं सकते, वैसे ही

गिरिदुर्ग का आश्रय लेने वाले राजा को शत्रु नहीं मार सकते हैं। दुर्ग के भीतर रहने वाला एक धनुर्धर सौ योद्धाओं से लड़ सकता है और सौ धनुर्धर दस हज़ार के साथ लड़ सकते हैं। इसीलिए क़िला बनाया जाता हैं। वह किला हथियार, धन, धान्य, वाहन, ब्राह्मण, शिल्पविशारद, यन्त्र-कल, घास और जल से परिपूर्ण रखना चाहिए। उस क़िले के बीच में, प्रयोजन भर के लिए एक मकान बनाना चाहिए, जो सब ऋतुओं के फल-पुष्प युक्त, लीपा हुआ, जल और वृक्षों के सहित हो। ॥७१-७६॥

तदध्यास्योद्वहेद् भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ॥७७॥
पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥ ॥७८॥

उस मकान-महल में रहकर राजा को अपने वर्ण की, कुलीन मनोहारिणी, रूपवती, गुणवती कन्या से विवाह करना चाहिए। और शान्तिक पौष्टिक कर्म करनेवाले पुरोहित और ऋत्विज का भी वरण करना चाहिए जो अग्निहोत्रादि कर्म कर सकें ॥७७-७८॥

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद् भोगान् धनानि च ॥ ॥७९॥
सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम् । स्या
च्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ॥८०॥
अध्यक्षान् विविधान् कुर्यात् तत्र तत्र विपश्चितः ।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ ॥८१॥
आवृत्तानां गुरुकुलाद् विप्राणां पूजको भवेत् ।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ॥८२॥

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति ।
तस्माद् राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥ ॥८३॥

राजा को बहुत दक्षिणावाले अनेक यज्ञों को करना चाहिए और धर्म के लिए ब्राह्मणों को अनेक प्रकार की दान-दक्षिणा देनी चाहिए। किसी विश्वासपात्र मनुष्य के द्वारा साल में राजकर का संग्रह करवाना चाहिए, प्रजा में नीति से बर्ताव करना चाहिए और पिता के समान स्नेह रखना चाहिए। अनेकों प्रकार के कार्य जानने वाले पुरुषों को अलग अलग कामों पर अध्यक्ष नियुक्त करना चाहिए। जो राजा के सब कार्यकर्ताओं पर निगरानी रखें। गुरुकुल से विद्या पढ़कर लौटे हुए ब्राह्मणों का पूजन करना चाहिए, क्योंकि इससे राजाओं को अक्षय निधि की प्राप्ति होती है ॥७९-८३॥

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हि चित् ।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ ॥८४॥
सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे ।
प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ ॥८५॥
पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च ।
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्नुते ॥ ॥८६॥

इस अक्षय निधि को चोर नहीं चुरा सकते और शत्रु छीन नहीं सकते। इस अक्षय निशि को खोया भी नहीं जा सकता, इसलिए राजा को ब्राह्मणों में उस अक्षयनिधि की स्थापन करनी चाहिए। अग्नि में जो हवन किया जाता है वह कभी गिर जाता है, कभी सूख जाता है, कभी नष्ट हो जाता है; परन्तु गुरु कुल से आये ब्राह्मण के मुख में जो हवन किया जाता है वह अग्नि होत्रादि से भी श्रेष्ठ है। ब्राह्मण के सिवा दूसरी जाति को दिया दान, मध्यम फलदायक होता है। जो अपने

को ब्राह्मण कहता है उसको दिया दान दोगुना फल, पठित ब्राह्मण को दिया लाख गुना, और वेदविशारद ब्राह्मण को दिया दान अनन्त फलदायक होता है। पात्र की योग्यता और श्रद्धा की न्यूनाधिकता के अनुसार दाता को दान का फल मिलता है ॥८४-८६॥

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः ।
न निवर्तेत सङ्ग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ॥८७॥
सङ्ग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ॥८८॥
आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥ ॥८९॥
न कूटैरायुधैर्हन्याद् युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥ ॥९०॥
न च हन्यात् स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ॥९१॥
न सुप्तं न विसंनाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ॥९२॥

अपने समान, उत्तम, या अधम राजा यदि रण-निमन्त्रण दे तो क्षत्रियधर्म के अनुसार राजा को पीछे नहीं हटना चाहिए। संग्राम से न भागना, प्रजापालन, ब्राह्मणों की सेवा यह सब राजाओं का परम कल्याण करनेवाला है। जो राजा संग्राम में एक एक को मारने का संकल्प कर, आपस में सूब युद्ध करते हैं, वे स्वर्ग को जाते हैं। रण में, कूट-छिपे अस्त्र से, कर्णी[34], जहर के बुझे और आग के ज़ले अस्त्रों से शत्रु को नहीं मारना चाहिए। जमीन में खड़े हुए शत्रु को,

[34] बाण जो चुभ जाने पर बाहर नहीं निकलता

नपुंसक को, हाथ जोड़ने वाले को नहीं मारना चाहिए। खुले बालों वाले को, बैंठे को, और जो कहे- मैं तुम्हारा हूँ उसको भी नहीं मारना चाहिए। सोते हुए को, टूटे कवचवाले को, नंगे को, शस्त्रहीन को, युद्ध न करनेवाले को, संग्राम देखते हुए को और दूसरे शत्रु से लड़ते हुए नहीं मारना चाहिए॥ ८७-९२॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ॥९३॥
यस्तु भीतः परावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद् दुष्कृतं किं चित् तत् सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ॥९४॥

टूटे शस्त्रवाले को, पुत्रादि शोक से दुःखी को, बहुत घाववाले को, डरपोक को तथा डरकर भागनेवाले को भी नहीं मारना चाहिए। जो योद्धा, युद्ध से डरकर पीछे भगता है और शत्रु उसको मार डालते हैं, वह अपने राजा के समस्त पापों को ग्रहण करता है। ॥ ९३-९४ ॥

देशकालविधानेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।
पात्रे प्रदीयते यत् तु तद् धर्मस्य प्रसाधनम् ॥
यत्वास्य सुकृतं किं चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्ता तत् सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ॥९५॥
रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज् जयति तस्य तत् ॥ ॥९६॥
राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ॥९७॥
एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः ।
अस्माद् धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥ ॥९८॥

जो लडाई से भागा हुआ मारा जाता है, उसके पुण्य का भाग उसके स्वामी को मिलता है । युद्ध में रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धन, धान्य, पशु, स्त्री और सब भाँति के पदार्थ जो जिसको जीते, वह उसका है। जीते पदार्थों में सोना, चांदी आदि उत्तम पदार्थ राजा को अर्पण करे- ऐसी वेद की श्रुति है। राजा की युद्ध मे जीती वस्तु का उचित हिस्सा, सभी योद्धाओं में बांट देना चाहिए। यह सनातन, अनिन्दित, शुद्ध योद्धाओं का धर्म कहा गया है। संग्राम में क्षत्रिय को इन धर्मों से च्युत नहीं होना चाहिए ॥ ९५-९८ ॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ ॥९९॥
एतच्चतुर्विधं विद्यात् पुरुषार्थप्रयोजनम् ।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक् कुर्यादतन्द्रितः ॥ ॥१००॥
अलब्धमिच्छेद् दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ ॥१०१॥
नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरिः ॥ ॥१०२॥

जो पदार्थ नहीं मिला है उसके लेने की इच्छा करे और मिले हुए की रक्षा करे। जो रक्षित है, उसको बढ़ावे और बढे पदार्थ सुपात्रों को दान करे, यह चार प्रकार का पुरुषार्थ है। आलस्य छोड़ कर, नित्य भली भांति इसका अनुष्ठान करना चाहिए। जो प्राप्त नहीं है, उसको दण्ड सेना से जीतने की इच्छा करे, प्राप्त वस्तु की देख भाल से रक्षा करे, रक्षित का व्यापार-उद्यम से वृद्धि करे और बढ़ी वस्तु शास्त्रानुसार, सुपात्र को देनी चाहिए। राजा को अपराधियों के लिए सदा दण्ड उद्यत रखना चाहिए, पुरुषार्थ को ठीक रखना चाहिए,

अपने अर्थों को गुप्त रखना चाहिए और शत्रु के छिद्रों का सदैव अवलोकन करना चाहिए ॥९९-१०२॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ ॥१०३॥
अमाययैव वर्तेत न कथं चन मायया ।
बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं सुसंवृतः ॥ ॥१०४॥
नास्य छिद्रं परो विद्याद् विद्यात्छिद्रं परस्य च ।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ॥ ॥१०५॥
बकवत्चिन्तयेदर्थान् सिंहवत्च पराक्रमे ।
वृकवत्चावलुम्पेत शशवत्च विनिष्पतेत् ॥ ॥१०६॥

सदा उद्यत दण्डवाले राजा से, सारा जगत् डरता है। इसलिए दण्ड ही से सब प्राणियों को स्वाधीन रखना चाहिए और छल से कोई व्यवहार नहीं करने चाहिए। अपनी रक्षा करता रहे और शत्रु के छल को जानता रहे। ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे अपना छिद्र-दोष शत्रु न जान पाए, परन्तु शत्रु के छिद्रों को जाना जा सके। राजा को कछुवे के समाने राजकीय अङ्गों को छिपा कर रखना चाहिए, जिससे अपना छिद्र प्रत्यक्ष दिखाई न दे सके। बगुले की भांति एकचित्त होकर, समस्त राज कार्यों का विचार करना चाहिए। सिंह के समान शत्रुओं से पराक्रम रखना चाहिए, भेड़िये के समान मौका पाकर शत्रुक्षय करना चाहिए और खरगोश के समान, आपत्तियों से दूर भाग जाना चाहिए ॥ १०३-१०६॥

एवं विजयमानस्य यहऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद् वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः ॥ ॥१०७॥
यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।

दण्डेनैव प्रसह्यैतांशनकैर्वशमानयेत् ॥ ॥१०८॥
सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः ।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ ॥१०९॥
यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ॥११०॥

इस प्रकार विजय करनेवाले राजा के जो शत्रु हों उनको साम दाम-भेद से अपने वश में करे। यदि पहले तीन उपाय से शत्रु वश में न आयें तो उनको दण्ड द्वारा, धीरे धीरे अधीन करे । विचारवान् पुरुष साम, दाम, भेद, दण्ड इन चार उपाय में, राज्यवृद्धि के लिए साम और दण्ड की प्रशंसा करते हैं। जैसे खेत जोतने वाला घाला घास उखाड़ कर अन्न की रक्षा करता है, वैसे ही 'राजा को चोर, लुटेरों का नाश करके राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए ॥१०७-११०॥

मोहाद् राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्यात्जीवितात्च सबान्धवः ॥ ॥१११॥
शरीरकर्षणात् प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ॥११२॥
राष्ट्रस्य सङ्ग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।
सुसङ्गृहीतराष्ट्रे हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ॥११३॥

जो राजा, अज्ञानवश, बिना सोच विचार के अपने राज्य को.दुःख देता। है वह शीघ्र ही राज्य, जीवन और बंधू बांधवों से भ्रष्ट हो जाता हैं। जैसे शरीर के शोषण से प्राणियों के प्राण घटते हैं, वैसे ही राष्ट्र को दुःख देने से राजाओं के भी प्राण भी घटते हैं। राजा को देश की रक्षा के लिए उपरोक्त उपायों को करना चाहिए क्योंकि राज्य रक्षा से राजा की सुखवृद्धि होती है ॥१११-११३॥

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद् राष्ट्रस्य सङ्ग्रहम् ॥ ॥११४॥
ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद् दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ॥११५॥
ग्रामदोषान् समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥ ॥११६॥
विंशतीशस्तु तत् सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ॥११७॥
यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥ ॥११८॥

दो, तीन, पांच या सौ ग्रामों के बीच में, रक्षा करनेवाले पुरुष का एक समूह कायम करना चाहिए। एक गाँव का, दस का, बीस का, सौ का और हज़ार गाँवों का एक एक अधिपति नियुक्त करना चाहिए। गाँव के मालिक को गाँव के झगड़ों को धीरे से जानकर उसका फैसला कर देना चाहिए, अथवा दस गाँव के मालिक को सूचित कर देना चाहिए अथवा उसको बीस गाँव के मालिक को सूचित कर देना चाहिए इत्यादि । जो अन्न, धन वगैरह 'राजा को देने वाले पदार्थ हैं उनको वहां नियुक्त राजपुरुष को ग्रहण करना चाहिए अर्थात् सभी वस्तुओं का संग्रह करके राजा को पहुँचा देना चाहिए ॥११४-११८॥

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च ।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥ ॥११९॥
तेषां ग्राम्याणि कार्यानि पृथक्कार्याणि चैव हि ।

राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥ ॥१२०॥
नगरे नगरे चैकं कुर्यात् सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ ॥१२१॥
स ताननुपरिक्रामेत् सर्वानेव सदा स्वयम् ।
तेषां वृत्तं परिणयेत् सम्यग् राष्ट्रेषु तत्चरैः ॥ ॥१२२॥
राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ ॥१२३॥

दस गाँव के अधिपति को एक कुल-दो हल से जोतने योग्य जमीन, अपने निर्वाह के लिए काम में लानी चाहिए। बीस गाँव का पाँच कुल, सौ गाँव का एक साधारण गॉव और हज़ार गाँव का मालिक एक नगर को अपनी जीविकों में भोग सकता है। राजा के गाँवों के कार्य और दूसरे कार्यों को भी, एक मन्त्री को जो सर्वप्रिय हो बिना आलस्य के देखना चाहिए। प्रत्येक नगर में एक एक अध्यक्ष जो बड़े पद पर हो, तेजस्वी, हो, उसको नियुक्त कर देना चाहिए। नगर अध्यक्ष को वह सदा ग्रामाधिपतियों के कार्यों की जांच करनी चाहिए और दूतों के आचरण का भी ध्यान भी रखना चाहिए क्योंकि रक्षाधिकारी राजपुरुष, प्रायः दूसरों के धन हरने वाले, वञ्चक होते हैं। राजा को सदैव उनसे प्रजा की रक्षा करनी चाहिए ॥११६-१२३॥

यह कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात् प्रवासनम् ॥ ॥१२४॥
राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ।
प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥ ॥१२५॥
पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ।
षाण्मासिकस्तथाऽच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥ ॥१२६॥

और जो भ्रष्ट पापी पुरुष रिश्वत आदि लिया करते हैं उनका सब कुछ छीनकर, राजा को देश से बाहर निकाल देना चाहिए। राजा के कार्य में नियुक्त स्त्री और पुरुषों को उनके कर्म के अनुसार पदवी तथा वृत्ति सदा नियत करनी चाहिए। निकृष्ट नौकर को एक पण देना चाहिए और छ महीने में, दो कपड़े और एक महीने में द्रोण भर कर अन्न देना चाहिए। उत्तम कार्यकाल को छह गुना अन्न देना चाहिए। मध्यम नौकर को मध्यम श्रेणि के सब पदार्थ दे ॥ १२४-१२६॥

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजो दापयेत् करान् ॥ ॥१२७॥
यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम् ।
तथाऽवेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत् सततं करान् ॥ ॥१२८॥
यथाऽल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।
तथाऽल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद् राज्ञाब्दिकः करः ॥ ॥१२९॥
पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥ ॥१३०॥
आददीताथ षड्भागं द्रुमान् समधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ ॥१३१॥
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च ।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ ॥१३२॥

बेचना, ख़रीदना, रास्ते का खर्च, रक्षा का खर्च और उनके निर्वाह को देखकर राजा को व्यापारियों से कर लेना चाहिए। उद्यमियों को और राज्य को जिससे फायदा पहुँचे ऐसा विचारकर कर लगाना उचित है। जैसे जौक, बछड़ा और भौंरा धीरे धीरे अपनी खुराक को खींचते हैं वैसे राजा भी राष्ट्र से थोड़ा थोड़ा सालाना कर लेना चाहिए। पशु और सोने के लाभ का पचासवां भाग, अन्नों के लाभ से छठां,

आठवाँ या बारहवां भाग कर लेना चाहिए। वृक्ष, मांस, शहद, घी, गन्ध, औषध, रस, फूल, मूल, फल, पत्र, शाक, तृण, चमड़ा, कांस, मिट्टी, पत्थर के पात्र, इन सबके लाभ में से छठा भाग कर लेना चाहिए ॥१२७-१३२॥

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात् करम् ।
न च क्षुधाऽस्य संसीदेत्श्रोत्रियो विषये वसन् ॥ ॥१३३॥
यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।
तस्यापि तत् क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ ॥१३४॥

राजा धन की कमी से दुःखी भी हों तो भी श्रोत्रिय ब्राह्मण से कर नहीं लेना चाहिए और उसके राज्य में रहता हुआ श्रोत्रिय ब्राह्मण भूख से भी नहीं मरना चाहिए। जिस राजा के राज्य में श्रोत्रिय ब्राह्मण क्षुधा से पीड़ित होता है, उस राजा का राज्य थोड़े ही दिनों में उसकी भूख से नष्ट हो जाता है। ॥१३३-१३४॥

श्रुतवृत्ते विदित्वाऽस्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ।
संरक्षेत् सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ ॥१३५॥
संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम् ।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ ॥१३६॥
यत् किं चिदपि वर्षस्य दापयेत् करसंज्ञितम् ।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ ॥१३७॥
कारुकान् शिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ।
एकैकं कारयेत् कर्म मासि मासि महीपतिः ॥ ॥१३८॥
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया ।
उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥ ॥१३९॥
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात् कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राज भवति सम्मतः ॥ ॥१४०॥

राजा को इस श्रोत्रिय के वेदाध्ययन और सदाचार को जानकर कोई धर्मविषय की जीविका बाँध देनी चाहिए और पिता जैसे पुत्र की रक्षा करता है वैसे ही रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि राजा से रक्षित श्रोत्रिय के धर्म पालन से राजा का आयुबल, द्रव्य और राज्य बढ़ता हैं। अपने राज्य में व्यापारवालों से भी कुछ सालाना कर दिलाना चाहिए। लोहार, बढ़ई, आदि और दासों से महीने में एक एक दिन बेगार में काम कराना चाहिए। प्रजा के स्नेह से अपना कर नहीं लेना अपना मूलच्छेद करना है और लोभ से ज्यादा कर लेना प्रजा को पीडित करना है, इसलिए राजा ऐसा काम कभी न करे जिसमें राज्य और प्रजा दोनों को कष्ट उठाना पड़े। राजा को कभी तीखा और कभी सीधा स्वभाव रखने से सभी उसकी आज्ञा का पालन करते हैं ॥१३५-१४० ॥

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम् ।
स्थापयेदासने तस्मिन् खिन्नः कार्यैक्षणे नृणाम् ॥ ॥१४१॥

राजा स्वयं, राज्य के कार्यों को और दूसरे के कामों को देखने में किसी कारण से असमर्थ हो, तो, चतुर, धर्मात्मा, कुलीन प्रधान मन्त्री को अपने न्यायासन पर, काम देखने के लिए नियुक्त कर देना चाहिए।

एवं सर्वं विधायैदमितिकर्तव्यमात्मनः ।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ ॥१४२॥
विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद् ह्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥ ॥१४३॥

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ ॥१४४॥

अपने सब कर्तव्यों को इस तरह पूरा कर के, प्रमाद-रहित और कार्यपरायण होकर अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। राजा और उसके कर्मचारियों के देखते हुए यदि चोर, लुटेरे, प्रजा को लूट पाट से दुखी रखें तो वह राजा मेरा सा है, जीवित नहीं है। प्रजा की रक्षा तथा पालन करना ही क्षत्रिय का मुख्य धर्म है। इसलिए अपने धर्म ही से प्रजा की रक्षा कर फल भोग करना उचित है। ॥१४२-१४४॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत् स शुभां सभाम् ॥ ॥१४५॥
तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत् सह मन्त्रिभिः ॥ ॥१४६॥
गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥ ॥१४७॥
यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥ ॥१४८॥
जडमूकान्धबधिरांस्तैर्यग्योनान् वयोऽतिगान् ।
स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान् मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥ ॥१४९॥

राजा को ब्रह्म मुहूर्त मे ठकर, शौच से निपटकर, एकाग्रचित्त होकर अग्निहोत्र और ब्राह्मणसत्कार करके, राजसभा में प्रवेश करना चाहिए। यहां दर्शकों को प्रीतिपूर्वक पहले विदा करके फिर मन्त्रियों के साथ राजकाज का विचार करना चाहिए। पर्वत पर या महल में जाकर, एकान्त मे या वृक्षरहित वन में, जहाँ भेद लेनेवाले दूत न पहुँच सके, वहाँ मंत्रणा करनी चाहिए। जिस राजा के मन्त्र को दूसरे

लोग मिले रहने पर भी नहीं जान सकते। वह धन-सम्पति के न होते भी संपूर्ण पृथिवी को भोगता है। मूर्ख, गूंगा, अँधा, बहरा, तोता-मैना आदि पक्षी, बूढ़े, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी, और अंगहीनों को सलाह के समय हटा देना चाहिए क्योंकि प्रायः यह लोग गुप्त बातों को प्रकट कर दिया करते हैं। ॥१४५-१४९॥

भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तैर्यग्योनास्तथैव च ।
स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात् तत्राद्दतो भवेत् ॥ ॥१५०॥
मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः ।
चिन्तयेद् धर्मकामार्थान् सार्धं तैरेक एव वा ॥ ॥१५१॥
परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् ।
कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ ॥१५२॥
दूतसम्प्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च ।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ ॥१५३॥
कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः ।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ ॥१५४॥
मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् ।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ ॥१५५॥
एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः ।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥ ॥१५६॥
अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः ।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः सङ्क्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ ॥१५७॥

इसी प्रकार तोता, मैना, और स्त्रियाँ ,प्रायः गुप्त सम्मति को प्रकाशित कर देती हैं इसलिए इन लोगों को अपमानित न करके धीरे से हटा देना चाहिए। दोपहर या आधी रात को विश्राम करके, मन्त्रियों के

साथ या अकेला ही धर्म-अर्थ-काम का विचार करे। यदि धर्म, अर्थ, काम का परस्पर विरोध हो तो उनको मिटाकर अर्थोपार्जन, कन्यादान, पुत्रों को रक्षा और शिक्षा की चिन्ता करनी चाहिए। परराज्य में दूत भेजना, अन्य कार्यों का, अन्तःपुर का और प्रतिनिधियों के काम का विचार करना चाहिए। आठ प्रकार[35] के सभी काम और पञ्चवर्ग[36] का खूब विचार करना चाहिए। मन्त्री आदि की प्रीति-अप्रीति, शत्रु, मित्र-उदासीन आदि राजमण्डल पर, विशेष ध्यान रखना चाहिए। अपने से मध्यम बलवाले राजा के बर्ताव, जीतने की इच्छा रखनेवाले की चेष्टा, उदासीन और शत्रु राजा के वृत्तान्त को तत्व से जानते रहना चाहिए। यह मध्यम आदि चार प्रकृतियां मण्डल का मूल मानी जाती हैं और जो आठ[37] हैं, सब मिलकर बारह होती हैं। मैत्री, देश, क़िला, धनभण्डार, और दण्ड यह पांच प्रकृतियां और भी हैं। यह बारहों की अलग अलग होती हैं, यो सब मिलाकर संक्षेप में बहत्तर प्रकृतियां हुई। ॥१५०-१५७॥

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च ।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ ॥१५८॥
तान् सर्वानभिसंदध्यात् सामादिभिरुपक्रमैः ।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ ॥१५९॥
संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत् सदा ॥ ॥१६०॥

---

[35] कर आदि की आय, नौकरी में व्यय, नौकरों की चाल, विरुद्ध कार्यों को रोकना, मिथ्या व्यवहार रोकना, धर्मव्यवहार देखना, दण्ड देना, प्रायश्चित्त कराना, ये आठ कर्म हैं।
[36] कापटिक, उदासीन, वैदेह, गृहपति, तापस, ये पाँच वर्ग हैं।
[37] विजिगीषु, अरि, अरिसेवित, अरिमित्र, पाणिग्राह, पार्षणग्राहासार, मित्र, मित्र का मित्र, आक्रन्द, आक्रन्दसार, मध्यम और उदासीन ।

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च ।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ ॥१६१॥

अपनी सीमा के पास रहनेवाले और शत्रु से मेल रखनेवाले राजा को शत्रु ही समझना चाहिए। शत्रु की सीमावाले राजा को मित्र और मित्र राजा की सीमावाले को उदासीन मानना चाहिए। इन सबको सामादि उपायों से या एक ही से अथवा सभी उपायों से अथवा पुरुषार्थ से, या राजनीति ही से वश में कर लेना चाहिए। मेल, लड़ाई, चढ़ाई, दुर्ग में रहना, अपनी सेना के दो भाग करना और अपने से बली राजा का आश्रय लेना, इन छह गुणों का नित्य विचार करना चाहिए। आसन, यान, संधि, विग्रह, द्वैध और आश्रय इन गुणों को अवसर देख कर जब जैसा योग आए तब वैसा ही कर्म करना चाहिए ॥१५८-१६१ ॥

संधिं तु द्विविधं विद्याद् राजा विग्रहमेव च ।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ ॥१६२॥
समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च ।
तदा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥ ॥१६३॥
स्वयङ्कृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा ।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥ ॥१६४॥
एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ ॥१६५॥

संधि, विग्रह दो दो प्रकार के हैं। आसन, यान संश्रय भी दो दो प्रकार के हैं। वर्तमान या भविष्य में लाभ के लिए, मित्र राजा से मिल कर दूसरे के ऊपर चढ़ाई का नाम 'समानकर्मा सन्धि' है। हम इसके ऊपर चढ़ाई करेंगे, तुम दूसरे पर करो ऐसी राय को 'असमानकर्मा

सन्धि' कहते हैं । शत्रुपराजय के लिए उचित या अनुचित काल में खुद लड़ाई लड़ना एक, अपने मित्र का अपकार होने से, उसकी रक्षा के लिए लड़ाई लड़ना दूसरा, यह दो भांति के विग्रह होते हैं । दैवयोग से, बहुत आवश्यक पड़ जाने पर अकेले या मित्र से मिलकर, शत्रु के ऊपर चढ़ाई करना यह दो प्रकार की चढ़ाइयां कहलाती हैं ॥ १६२–१६५ ॥

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात् पूर्वकृतेन वा ।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ ॥१६६॥
बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥ ॥१६७॥
अर्थसम्पादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशश्च द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ ॥१६८॥

पूर्वजन्म के पाप से या यहीं के कुकर्मी से, धन आदि से हीन राजा को चुप मार कर बैठना, अथवा सामर्थ्य होते भी किसी मित्र के कहने से चुपचाप बैठा रहना, यह दो आसन कहलाते हैं। कार्य सिद्धि के लिए कुछ सेना को एक जगह और कुछ सेना के साथ राजा क़िले में रहे, यह दो प्रकार का द्वैध, गुणज्ञों ने कहा है । शत्रुओं से पीड़ित राजा के संकट दूर करने के लिए अथवा सत्पुरुष को जनाने के लिए बलवान राजा का आश्रय लेना, यह दो प्रकार का संश्रय कहलाता है ॥१६६-१६८॥

यदाऽवगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधिं समाश्रयेत् ॥ ॥१६९॥
यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥ ॥१७०॥

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् । पर
स्य विपरीतं च तदा यायाद् रिपुं प्रति ॥ ॥१७१॥
यदा तु स्यात् परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन् ॥ ॥१७२॥
मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत् कार्यमात्मनः ॥ ॥१७३॥

जब भविष्य में अपनी उन्नति की आशा हो तब शत्रु से कुछ पीड़ित होकर भी सन्धि कर लेना चाहिए । राजा जब अपने राजभण्डल को खूब प्रसन्न जाने और अपनी शक्ति को पूर्ण देखे, तब दुश्मन के साथ युद्ध करना चाहिए। जब अपनी सेना को मन से प्रसन्न, हृष्ट-पुष्ट समझे और शत्रु की सेना को साधारण दशा में जाने, तब युद्ध की तैयारी करनी चाहिए। जव हाथी, घोड़ा आदि वाहन और सेना से क्षीण हो तब यत्नपूर्वक शान्ति से, शत्रु को समझा कर शान्त होकर रहना चाहिए अर्थात् युद्ध नहीं करना चाहिए। और जब, राजा अपने शत्रु को सर्वथा बलवान् जाने, तब आधी सेना लड़ाई पर भेज दे और आधी अपने साथ में रखकर कार्यसाधन में लग जाना चाहिए ॥ १६६-१७३॥

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ।
तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ ॥१७४॥
निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद् योऽरिबलस्य च ।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥ ॥१७५॥
यदि तत्रापि सम्पश्येद् दोषं संश्रयकारितम् ।
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ ॥१७६॥
सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।
यथाऽस्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ ॥१७७॥

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ ॥१७८॥
आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ ॥१७९॥

और जब शत्रु के अधीन अपने को होता देखे तब झट पट धार्मिक और बलवान् राजा की शरण लेनी चाहिए। जो दुष्ट मंत्री मण्डल आदि और शत्रुसेना को दबा सकता हो उस राजा की, गुरु के समान, नित्य सेवा करनी चाहिए और यदि उस आश्रयवाले राजा से धोखा दिए जाने का डर हो तो निडर होकर युद्ध ही करना चाहिए नीतिवेत्ता राजा को सब प्रकार से ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे उसके मित्र, उदासीन और शत्रु राजा बलवान् न हो सकें। सम्पूर्ण कार्यों की वर्तमान, भूत और भविष्य स्थिति और उनके गुण-दोषों का विचार कर लेना चाहिए। जो राजा कार्यों के भविष्य, शुभाशुभ परिणाम को जानता है, वर्तमान कार्य का शीघ्र ही निश्चय कर लेता है और बाक़ी कामों को जानता है, उसका शत्रु कुछ नहीं बिगाड़ सकते ॥१७४-१७९॥

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥ ॥१८०॥
तदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः ।
तदानेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ ॥१८१॥

जिस प्रकार मित्र, उदासीन और वैरी राजा अपने को पीड़ा न दे सके वैसे उपायों को करता रहे, यह नीति है और जब किसी वैरी के देश पर चढ़ाई करनी हो तो नीचे लिखी विधि से धीरे धीरे यात्रा करे ॥१८०-१८१॥

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद् यात्रां महीपतिः।
फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥ ॥१८२॥
अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद् ध्रुवं जयम्।
तदा यायाद् विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥ ॥१८३॥
कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान् सम्यग् विधाय च ॥ ॥१८४॥
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं प्रति ॥ ॥१८५॥
शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ ॥१८६॥

राजा अपनी सेना के बलबल का विचार करके, शुभ अगहन या फागुन के महीने में अथवा चैत्र में, शत्रु के ऊपर चढ़ाई करनी चाहिए। इसके अलावा दूसरे समय में भी अगर अपनी जीत देखे तब, अथवा जब शत्रु किसी विपत्ति में फंसा हों तब चढ़ाई करे। अपने नगर की रक्षा का प्रवन्ध करके, गुप्तदूतों को भेजकर, ऊंचा, नीचा और सम मार्ग को साफ़ कराकर छः प्रकार की सेना[38] को, ठीक करके सम्पूर्ण युद्ध-सामग्री को साथ लेकर, धीरे से शत्रु के नगर को जाना चाहिए। जो मित्र छिपकर शत्रु से मिला हो, जो पहले छुड़ाया हुआ नौकर फिर आया हो, इनसे सावधान रहना चाहिए, क्योंकि यह दोनो दुःखदायक वैरी है ॥१८२-१८६॥

दण्डव्यूहेन तन् मार्गं यायात् तु शकटेन वा ।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥ ॥१८७॥

---

[38] छः प्रकार के बलः-हाथीसवार, घोड़ासवार; रथसवार, पैदल, खजाना और नौकर चाकर ।

यतश्च भयमाशङ्केत् ततो विस्तारयेद् बलम् ।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥ ॥१८८॥
सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
यतश्च भयमाशङ्केत् प्राचीं तां कल्पयेद् दिशम् ॥ ॥१८९॥

राजा को दण्डव्यूह से मार्ग में चलना चाहिए अथवा शकट, वराह, मकर, सूई, गरुड़ के तुल्य आकार वाले व्यूहों में, जहां जैसा उचित समझे वैसी ही यात्रा करनी चाहिए। जिस ओर से हमला होने का भय हो, उधर सेना को बढ़ाना चाहिए और खुद पद्माकार व्यूह में सदा सुरक्षित रहना चाहिए। सेनापति और सेनानायकों को सभी दिशाओं में नियुक्त करना चाहिए और जिस दिशा में भय समझे उसे पूर्व दिशा मान लेना चाहिए ॥१८७-१८९॥

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान् समन्ततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥ ॥१९०॥
संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून् ।
सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥ ॥१९१॥
स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपेनोद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ ॥१९२॥
कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालांशूरसेनजान् ।
दीर्घांल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥ ॥१९३॥
प्रहर्षयेद् बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत्।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् योधयतामपि ॥ ॥१९४॥
उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकैन्धनम् ॥ ॥१९५॥
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत् तथा ॥ ॥१९६॥

उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम् ।
युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ ॥१९७॥

कुछ सेना का हिस्सा, चतुर पुरुष की अध्यक्षता में चारों ओर से नियत करना चाहिए और उनमें बाजे इत्यादि का संकेत कर लेना चाहिए जिसमें समय समय पर, सूचना मिलती रहे। योद्धा कम हों तो इक्कट्ठे करके युद्ध करना चाहिए, अधिक हों तो मनमानी, चारों तरफ़ फैलाकर, सूई के आकार के व्यूह से युद्ध करना चाहिए। समभूमि में रथ घोड़ों से, जल में नावों से, हाथियों से, वृक्ष आदि की झाड़ियों में बाण से और स्थल में, ढाल तलवार वगैरह से युद्ध करना चाहिए। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, शूरसेन आदि देशों के ऊंचे और ठिगने मनुष्यों को सेना के आगे रखना चाहिए। व्यूह की रचना कर सेना को उत्साहित करना चाहिए और क्या क्या करने से सेना खुश अथवा नाखुश होगी इन बातों की परीक्षा करनी चाहिए। सेना शत्रुओं का मुकाबला दिल से करती है अथवा नहीं यह चेष्टाओं से जान लेना चाहिए। शत्रु लडे अथवा न लड़े पर उसके देश को नष्ट कर के वहाँ का, अन्न, जल, चारा, इंधन आदि उजाड़ देना चाहिए। तालाब, किला, खाइयों को तोड़ देना चाहिए, शत्रु पर हमला करके और रात में अनेक प्रकार की ध्वनियों से उसको डरा दे। उसके मन्त्री आदि जो टूट सकें उनको लालच देकर अपने ओर मिला कर, उनसे शत्रु की हालत जाननी चाहिए और अनुकूल समय आने पर निडर होकर युद्ध करना चाहिए ॥ १९०-१९७॥

साम्रा दानेन भेदेन समस्तैरथ वा पृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदा चन ॥   ॥१९८॥
अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः।
पराजयश्च सङ्ग्रामे तस्माद् युद्धं विवर्जयेत् ॥ ॥१९९॥

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभवे ।
तथा युध्येत सम्पन्नो विजयेत रिपून् यथा ॥ ॥२००॥
जित्वा सम्पूजयेद् देवान् ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् ।
प्रदद्यात् परिहारार्थं ख्यापयेदभयानि च ॥ ॥२०१॥
सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम् ।
स्थापयेत् तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥ ॥२०२॥
प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्मान् यथोदितान् ।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ ॥२०३॥
आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् ।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तम् ॥ ॥२०४॥
सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे ।
तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ ॥२०५॥

राजा को साम, दान और भेद इन तीनों से या एक ही किसी से शत्रु को जीतने का उपाय करना चाहिए परन्तु जहां तक हो सके युद्ध का उद्योग नहीं करना चाहिए। युद्ध में लड़नेवालों की हार अथवा जीत कभी निश्चित नहीं होती, इसलिए जब तक संभव हो युद्ध नहीं करना चाहिए। जब उक्त तीन उपायों से शत्रु को जीतने का भरोसा न हो तभी युद्ध का उपाय पूरी तौर से करना उचित है जिससे वह अधीन हो जाए। युद्ध में विजय पाने पर देवता, ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए। विजय प्राप्त प्रजा का भूमि कर कम करना चाहिए और यह भी घोषित करना चाहिए कि जिन्होंने हमारे साथ बुरा बर्ताच किया हैं उन्हें भी अभय दिया गया है। पराजित राजा और मंत्री का अभिप्राय जानकर, उसके वंशवाले को गद्दी देकर अपनी शर्ते पक्की कर लेनी चाहिए और उनके धर्मों को–रिवाजों का आदर करना चाहिए, रत्नों से मंत्री आदि के साथ उसका सत्कार करे अर्थात उपहार देना चाहिए। किसी की प्रिय वास्तु ले लेना अप्रिय

और देना प्रिय होता है तब भी समयानुसार लेना और देना अच्छा माना जाता है। यह सभी कर्म दैव और मनुष्य के पुरुषार्थ के अधीन हैं। इन में दैव का निर्णय अशक्य है परन्तु पुरुषार्थ से कार्य किया जाता है। अर्थात् मनुष्यसाध्य कार्य में पुरुषार्थ प्रधान माना जाता है ॥१९८-२०५॥

सह वाऽपि व्रजेद् युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः।
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा सम्पश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥ ॥२०६॥
पार्ष्णिग्राहं च सम्प्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले ।
मित्रादथाप्यमित्राद् वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ ॥२०७॥
हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ ॥२०८॥

अथवा राजा को मित्रता अथवा कुछ द्रव्य अथवा भूमि शत्रु से पाकर सुलह करके लौट आना चाहिए अर्थात् इन पदार्थों को देना शत्रु मंजूर करे तो लेकर सुलह करके ले लेना चाहिए। जो विजय करते हुए राजा के पीछे दूसरा राजा दबाकर चढ़े आवे उसको 'पार्षिणग्राह' कहते हैं और जो उसको इस काम से रोके उसे 'क्रन्द' कहते हैं। इन दोनों को देखकर, मित्र अथवा अमित्र से यात्रा का फले ग्रहण करना चाहिए। राजा सुवर्ण और भूमि को पाकर वैसा नहीं बढ़ता, जैसा दुर्बल भी स्थिर मित्र को पाकर बढ़ता है ॥२०६-२०८ ॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ ॥२०९॥
प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ ॥२१०॥

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ ॥२११॥
क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ ॥२१२॥
आपदर्थं धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥ ॥२१३॥

धर्मज्ञ, कृतज्ञ, प्रसन्नचित्त, प्रीति करनेवाला, स्थिर कार्य का आरम्भ करनेवाला, छोटा मित्र अच्छा होता है। बुद्धिमान, कुलीन, शूर, चतुर, दाता, कृतज्ञ और धैर्यवान् शत्रु को लोग कठिन कहते हैं। सभ्यता, मनुष्यों की पहचान, शूरता, दयालुता और उदारता, यह सच उदासीन राजा के गुण हैं, कल्याण करनेवाली, संपूर्ण धान्यों को देनेवाली और पशुवृद्धि करनेवाली भूमि को भी राजा अपने प्राणों की रक्षा के लिए बिना सोचे समझे छोड़ देना चाहिए। आपत्ति दूर करने के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए, धन से स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए और धन, स्त्री से भी अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिए। ॥२०६–२१३॥

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान् सृजेद् बुधः ॥ ॥२१४॥
उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ।
एतत् त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ ॥२१५॥
एवं सर्वमिदं राजा सह सम्मन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ ॥२१६॥
तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः । सु
परीक्षितमन्नाद्यमद्यान् मन्त्रैर्विषापहैः ॥ ॥२१७॥
विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् ।

विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत् सदा ॥ ॥२१८॥

बहुत से आपत्तियों को एक साथ आता देख कर बुद्धिमान् राजा को साम दान आदि उपायों को एक साथ अथवा अलग अलग काम में लाना चाहिए। उपाय करनेवाले, उपाय के साधन योग्य और उपाय इन तीनों का ठीक ठीक आश्रय करके अर्थसिद्धि के लिए उपाय करना चाहिए। उक्त प्रकार से संपूर्ण राजकार्यों का मन्त्रियों के लाथ विचार करना चाहिए। स्नान और व्यायाम करके दोपहर में भोजनार्थ अन्तःपुर में प्रवेश करके वहां भक्त, भोजन काल को जाननेवाला, शत्रु के प्रभाव में न आनेवाले, रसोइये के तैयार किये, परीक्षित और विपति मारक मन्त्रों से शुद्ध भोजन, को करना चाहिए। राजा के सभी खाद्य पदार्थों में विष नाशक दवा डालनी चाहिए और विषनाशक रत्न राजा को सदा धारण करना चाहिए ॥२१४-२१८॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः ।
वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥ ॥२१९॥
एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्याऽऽसनाशने ।
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालङ्कारकेषु च ॥ ॥२२०॥

परीक्षा की हुई, वेश आभूषणों से शुद्ध, एकाग्रचित्त स्त्रियां को पंखा, पानी, धुप, गंध से राजा की सेवा करनी चाहिए। इसी प्रकार का प्रयत्न वाहन, शय्या, आसन, भोजन, स्नान, अनुलेपन और अलंकारों से भी करना चाहिए। ॥२२१-२२०॥

भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह ।
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ ॥२२१॥

अलङ्कृतश्च सम्पश्येदायुधीयं पुनर्जनम् ।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥ ॥२२२॥
संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ।
रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ ॥२२३॥
गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत् समनुज्ञाप्य तं जनम् ।
प्रविशेद् भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥ २२४॥

भोजन करने के बाद, उसी अन्तःपुर में स्त्रियों के साथ कुछ देर टहलें, फिर यथासमय अपने राजकाज का विचार करे। फिर शस्त्र, भूपणों से सजकर सवार, सिपाही, घोड़ा वगैरह अस्त्र और राजकीय आभूषणों की देखभाल करनी चाहिए। उसके अनन्तर सायसंध्या करके, एकान्त में दूत और प्रतिनिधियों के समाचार और कार्यों को सुनना चाहिए। उन लोगों को विदा करके दूसरे कमरे में जाकर स्त्रियों के साथ भोजनार्थ अन्तःपुर को गमन करना चाहिए। वहां यथावत् भोजन करके थोड़ा गाना, बाजे इत्यादि से चित्त को प्रसन्न करके और उचित काल में शयन करना चाहिए। ॥२२१-२२४॥

तत्र भुक्त्वा पुनः किं चित् तूर्यघोषैः प्रहर्षितः ।
संविशेत् तं यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥ ॥२२५॥
एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः ।
अस्वस्थः सर्वमेतत् तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ ॥२२६॥

प्रातःकाल कुछ सवेरे उठकर फिर अपना नित्यकर्म यथावत करें। इस प्रकार से नीरोग राजा को संपूर्ण राज्यकार्यों का संपादन स्वयं करना चाहिए। यदि शरीर में कोई कष्ट हो जाय तो अपने अधिकारियों से सभी कामों को करवाना चाहिए ॥२२५-२२६॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां स्मृतौ सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥७॥

॥महर्षि भृगु द्वारा प्रवचित मानव धर्म शास्त्र स्मृति का सातवाँ अध्याय समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥ मनुस्मृति ॥

॥अथ अष्टमोऽध्यायः आठवाँ अध्याय ॥

व्यवहार-निर्णय- विवाद आदि

व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत् सभाम् ॥ ॥१॥
तत्रासीनः स्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
विनीतवेषाभरणः पश्येत् कार्याणि कार्यिणाम् ॥ ॥२॥
प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥ ॥३॥
तेषामाद्यं ऋणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ॥४॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ॥५॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसङ्ग्रहणमेव च ॥ ॥६॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ॥७॥

राजा को विद्वान् ब्राह्मण और राजनीति चतुर मन्त्रियों के साथ वादी और प्रतिवादियों के विचारार्थ नम्रता से राजसभा में प्रवेश करना

चाहिए। वहाँ जाकर, दाहिना हाथ उठाकर, बैठ कर या खडे ही काम वालों के कार्यों को देखे। और वंश, जाति आदि देशव्यवहार और शास्त्रोक्त साक्षी, शपथ आदि के अनुसार अठारह प्रकार के विवाद-झगड़ों का अलग अलग विचार-फैसला करे। उन अठारह विवादों के नाम इस प्रकार है | (१) ऋण लेकर न देना (२) धरोहर (३) दूसरे की वस्तु को बेचना (४) साझे का व्यापार (५) दान दिया हुआ लौटा लेना (६) नौकरी न देना (७) प्रतिज्ञा भंग करना (८) खरीद-बेच का झगड़ा (९) पशु स्वामी और चरवाहे का झगड़ा (१०) सीमा की लड़ाई (११) बड़ी बात कहना (१२) मार पीट (१३) चोरी (१४) अत्याचार (१५) पर स्त्री का हरण (१६) स्त्री और पुरुष के धर्म की व्यवस्था (१७) जुआखोरी (१८) जानवरों की लड़ाई में हार जीत का दाँव करना है इस संसार में ये १८ दावा होने के कारण हैं ॥१-७॥

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात् कार्यविनिर्णयम् ॥ ॥८॥
यदा स्वयं न कुर्यात् तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।
तदा नियुञ्ज्याद् विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ॥९॥
सोऽस्य कार्याणि सम्पश्येत् सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥ ॥१०॥
यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान् ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥ ॥११॥
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ ॥१२॥
सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन् वाऽपि नरो भवति किल्बिषी ॥ ॥१३॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च । हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ ॥१४॥

इन विषयों में झगड़ा करनेवालों का फ़ैसला राजा को सनातन धर्म के अनुसार करना चाहिए। जब स्वयं किसी कारण वश काम न देख सके तो विद्वान् ब्राह्मण को सौंप दे। उस ब्राह्मण को तीन सभासदों के साथ सभा में बैठकर या खड़े होकर ही राजा के खास कामों को देखना चाहिए। जिस देश में वेदविशारद तीन ब्राह्मण राजसभा में निर्णयार्थ बैठते हैं और राजा का अधिकार पाया हुआ एक विद्वान् ब्राह्मण रहता है वह ब्रह्मा की सभा मानी जाती है। जिस सभा में धर्म, अधर्म से बींधा जाता है और उसे चुभे काँटे को सभासद धर्मशरीर से बाहर नहीं निकालते तो वे सभासद् पाप भागी होते हैं। या तो सभा में जाना नहीं चाहए और यदि जाना हो तो केवल सत्यवचन कहना चाहिए। और जो जानकर भी कुछ न कहे या झूठ कहे तो वह पातकी होता है, जिस सभा में अधर्म से धर्म और असत्य से सत्य की हत्या होती उस सभा के सभासद् नष्ट हो जाते हैं ॥ २-१४॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ ॥१५॥
वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् । वृ
षलं तं विदुर्देवास्तस्माद् धर्मं न लोपयेत् ॥ ॥१६॥
एक एव सुहृद् धर्मो निधानेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद् हि गच्छति ॥ ॥१७॥

धर्म का लोप कर देने से वह उस पुरुष को नष्ट कर देता है और धर्म की रक्षा करने से वह भी रक्षा करता है। इसलिए धर्म का नाश नहीं

करना चाहिए जिसमें नष्ट धर्म हमारा नाश न करे। भगवान् धर्म को 'वृष' कहते हैं और जो उसका नाश करता है उस को देवता 'वृषल' कहते हैं। इस कारण मनुष्य को धर्म का लोप नहीं करना चाहिए। मृत्युसमय में भी एकमात्र मित्र धर्म ही पीछे चलता है और सभी शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त हो जाता है ॥१५-१७ ॥

पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणं ऋच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥ ॥१८॥
राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दाऽर्हो यत्र निन्द्यते ॥ ॥१९॥
जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुवः ।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न शूद्रः कथं चन ॥ ॥२०॥
यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् ।
तस्य सीदति तद् राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः ॥ ॥२१॥
यद् राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् ।
विनश्यत्याशु तत् कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥ ॥२२॥

एक धर्म ही मित्र है जो मरने पर भी साथ चलता है अन्य सभी शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त हो जाता है। न्याय करते समय उसका एक चौथाई अधर्म अन्याय करने वाले को, एक चौथाई झूठे गवाह को, एक चौथाई सभासद् और एक चौथाई राजा को अधर्म लगता है। जिस सभा में अन्यायी पुरुष की ठीक ठीक निन्दा की जाती है, वहां राजा और सभा सद् दोष से छूट जाते हैं। और उस अधर्मी को ही पाप लगता है। जिसकी जातिमात्र से जीविका है कुछ विद्या, योग्यता से नहीं चही चाहे न्यायकर्ता नियुक्त किया जाय, पर शुद्र को कभी अधिकार न दे। जिस राजा का न्यायाधीश शूद्र होता है। उसका राज्य कीचड़ में गौ की भांति फँसकर पीड़ा पाता है। जिस

राज्य में शूद्र और नास्तिक, अधिक हो, द्विज न हों वह सम्पूर्ण राज्य दुर्भिक्ष और व्याधि से पीड़ित होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥१८-२२॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥ ॥२३॥
अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ ।
वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत् कार्याणि कार्यिणाम् ॥ ॥२४॥
बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ ॥२५॥
आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च । ने
त्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ॥२६॥

राजा न्यायासन पर राजवस्त्र इत्यादि पहन कर बैठना चाहिए और आठ लोकपालों को प्रणाम करके सावधानी से विचारकार्य का आरम्भ करना चाहिए। प्रजा की लाभ और हानि को, धर्म और अधर्म को सोचकर वादियों के दावों को ब्राह्मणादि वर्ण के क्रम से देखना शुरू करना चाहिए। मनुष्यों के बाहरी लक्षण, स्वर, शरीर का वर्ण, नीचे ऊपर देखना, आकार रोमांच होना आदि, आँख, हाथ, पैर की चेष्टा वगैरह से भीतरी हाल पहचानना। आकार, नीचे ऊपर देखना, गति, चेष्टा, बोली, आँख, मुँह के विकार से मन का भाव जाना जाता है ॥२३-२६॥

बालदायादिकं रिक्थं तावद् राजाऽनुपालयेत् ।
यावत् स स्यात् समावृत्तो यावत्वातीतशैशवः ॥ ॥२७॥
वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद् रक्षणं निष्कुलासु च ।

पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ ॥२८॥
जीवन्तीनां तु तासां ये तद् हरेयुः स्वबान्धवाः ।
तांशिष्यात्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ ॥२९॥
प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ।
अर्वाक् त्र्यब्दाद्ध हरेत् स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ ॥३०॥

बालक के दाय भाग का द्रव्य, तब तक राजा के अधीन में रहे जब तक वह समावर्तनवाला अर्थात् पढ़ लिखकर चतुर न हो और बालिग़ न हो जाए। बन्ध्या स्त्री, अपुत्रा, सपिण्डरहित, पतिव्रता, विधवा और बहुत दिन की रोगी स्त्री का भी धन राजा की रक्षा में रहना चाहिए। इन जीती हुई स्त्रियों को धन भाई बन्धु हर लेना चाहें तो उनको चोर के समान दण्ड देना चाहिए। जिसका स्वामी का ना पता हो उस लावारिस धन को राजा को तीन साल तक रखना चाहिए उसके भीतर यदि उसका स्वामी आ जाय तो उसे ले जाए, अन्यथा वह राजा को ही हो जाता है ॥२७-३०॥

ममैदमिति यो ब्रूयात् सोऽनुयोज्यो यथाविधि ।
संवाद्य रूपसङ्ख्यादीन् स्वामी तद् द्रव्यमर्हति ॥ ॥३१॥
अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः ।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ॥३२॥
आददीताथ षड्भागं प्रनष्टाधिगतान्नृपः।
दशमं द्वादशं वाऽपि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ॥३३॥
प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद् युक्तैरधिष्ठितम्।
यांस्तत्र चौरान् गृह्णीयात् तान् राजैभेन घातयेत् ॥ ॥३४॥
ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः।
तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ॥३५॥
अनृतं तु वदन् दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम् ।

तस्यैव वा निधानस्य सङ्ख्ययाऽल्पीयसीं कलाम् ॥ ॥३६॥

तीन वर्ष के भीतर यदि उसका स्वामी आकर कहे कि-यह मेरा धन है, तब राजा दावाकर्ता से ठीक प्रकार से पूछना चाहिए कि धन कैसा है ? कितना है? वह यदि रूप, रंग, संख्या सही-सही बता दे तो उसको वह धन दे देना चाहिए। अगर खोई वस्तु का पता ठीक न बता सके तो उस पर उतने ही धन का जुर्माना करे। कोई खोई वस्तु उसके स्वामी को वापस देते समय उसकी रक्षा के कारण उस धन का छठा, दसवां या बारहवां भाग राजा ले सकता है। किसी की कोई वस्तु खो जाए अथवा चोरी हो जाए और मिले तो राजा को उसे पहरे में रखना चाहिए और वहां से चुरानेवाला पकड़ा जाए तो उसको हाथी से मरवा देना चाहिए। जो पुरुष सच्चाई से कहे कि यह धन मेरा है तो उसके धन छठा अथवा बारहवां भाग राजा को ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि वह दूसरे का धन हथियाने की इच्छा करे तो उस निधि का आठवां भाग अथवा निधि गिनकर उसका कुछ भाग दंड करना चाहिए ॥३१-३६॥

विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम् ।
अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ॥३७॥
यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ ।
तस्माद् द्विजेभ्यो दत्त्वाऽर्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ॥३८॥

यदि विद्वान् ब्राह्मण को भूमि मे गडा प्राचीन धन मिले तो वह समस्त धन रख सकता है, क्योंकि ब्राह्मण सबका स्वामी है और यदि भूमि में पुराना धन राजा को मिले तो उसका आधा वह द्विजों को बाँट दें और आधा अपने धन कोष में जमा करवा देना चाहिए ॥३७-३८ ॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ।
अर्धभाग् रक्षणाद् राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ॥३९॥
दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् ।
राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ॥४०॥
जातिजानपदान् धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ॥४१॥
स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः ।
प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥ ॥४२॥
नोत्पादयेत् स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ।
न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथं चन ॥ ॥४३॥

भूमि का स्वामी और रक्षक होने से राजा गड़े धन और धातु की खानों के आधे भाग का अधिकारी है। चोरों का चुराया हुआ धन छीन कर जिस वर्ण का हो, वह सब उनको वापस दे देना चाहिए। यदि वह धन राजा स्वयं ग्रहण करता है तो चोर के पाप का स्वयं भागी होता है। जातिधर्म, देशधर्म, श्रेणीधर्म (व्यापार) और कुलधर्म के अनुसार राजा को राजधर्म प्रचरित करना चाहिए। जाति, देश और कुलधर्म और अपने काम को करते लागे दूर रहते हुए भी लोक में प्रिय होते हैं। राजा या राजपुरुष काम पर भी ऋण आदि का झगडा उत्पन्न नहीं करना चाहिए और कोई अन्य विवाद प्रस्तुत करें तो उसकी अपेक्षा न करे ॥ ३९-४३ ॥

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ।
नयेत् तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ॥४४॥
सत्यमर्थं च सम्पश्येदात्मानमथ साक्षिणः । दे
शं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ॥४५॥
सद्भिराचरितं यत् स्याद् धार्मिकैश्च द्विजातिभिः ।

तद् देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ॥४६॥

जैसे व्याल भूमि पर गिरे रुधिर के बूंद से मारे हुए मृग का घर खोज लेता है। वैसे ही राजा को अनुमान से मामलों की असलियत को खोज लेना चाहिए। सत्य का निर्णय करना चाहिए, अन्याय से स्वयं डरना चाहिए और गवाहों के झूठ, सत्य का एवं देश, काल और मामलों का विचार करना चाहिए। सज्जन पुरुष और धार्मिक द्विज जैसा आचरण करते हों और देश, कुल, जाति के आचार से जो विरुद्ध न हो वैसा ही फैसला करना चाहिए ॥४४-४६॥

ऋण का लेना-देना

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ।
दापयेद् धनिकस्यार्थमधमर्णाद् विभावितम् ॥ ॥४७॥
यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः ।
तैर्तैरुपायैः सङ्गृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ॥४८॥
धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥ ॥४९॥
यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् ।
न स राज्ञाऽभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन् धनम् ॥ ॥५०॥
अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् ।
दापयेद् धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ॥५१॥

अधमर्ण - कर्जदार से अपना क़र्जा वापस दिलाने के लिए उत्तमर्ण-महाजन कहे तो उसका धन राजा को सबूत लेकर वापस दिला देना चाहिए। जिन उपायों से महाजन अपना धन वापस पा सके, उन उपायों से दिलाने की कोशिश करनी चाहिए । महाजन धर्म से, दावे

से, कपट से, दबाव से और पाँचवें उचित बलात्कार से अपना धन वसूल कर सकता है। यदि महाजन ऋणी से स्वयं अपना धन वसूल कर ले तो राजा को उस पर कोई अभियोग नहीं चला चाहिए। धनी के धन को, क़र्जदार न क़बूल करे और महाजन साक्षी और लेख से साबित कर दे तो राजा को उसका धन वापस दिलवाना चाहिए तथा ऋणी के ऊपर शक्ति के अनुसार दण्ड भी करना चाहिए ॥४७-५१॥

अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।
अभियोक्ता दिशेद् देश्यं करणं वाऽन्यदुद्दिशेत् ॥ ॥५२॥
अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः ।
यश्चाधरोत्तरानर्थान् विगीतान्नावबुध्यते ॥ ॥५३॥
अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति ।
सम्यक् प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ॥५४॥

राजसभा में ऋणी से कहा जाए -महाजन का क़र्जा अदा कर दो, यदि वह इन्कार कर दे तो राजा को साक्षी, दस्तावेज़ इत्यादि पेश करने की आज्ञा देनी चाहिए। जो झूठे गवाह अथवा काग़ज़ पत्र पेश करें, जो पेश करके इन्कार करे और जो पहले कही बातों का ध्यान न रक्खे। अथवा जो बात को उलटता है, स्वीकार करके भी पूछने पर इन्कार करता है। ॥५२-५४ ॥

असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः ।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद् यश्चापि निष्पतेत् ॥ ॥५५॥
ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत् ।
न च पूर्वापरं विद्यात् तस्मादर्थात् स हीयते ॥ ॥५६॥
साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः ।

धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥ ॥५७॥
अभियोक्ता न चेद् ब्रूयाद् बध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः।
न चेत् त्रिपक्षात् प्रब्रूयाद् धर्मं प्रति पराजितः ॥ ॥५८॥
यो यावद् निहनुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् ।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम् ॥ ॥५९॥
पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनेषिणा । त्र्य
वरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसंनिधौ ॥ ॥६०॥

और जो एकान्त मे गवाहों के साथ बातचीत करता है, जानते हुए भी प्रश्न का उत्तर नहीं देता, पूछने पर कुछ नहीं कहता और जो कहता है वह दृढ़ता से नहीं कहता, जो पहले की बातों को नहीं जानता, ऐसे पुरुष अपने अर्थ धन से हार जाते हैं। मेरे साक्षीं हाज़िर हैं, ऐसा कह कर जो मांगने पर हाज़िर न कर सके, न्यायाधीश को उसको भी हारा घोषित कर देना चाहिए। वादी अपने दावे को सिद्ध न कर सके तो वह धर्मानुसार शिक्षा और दण्ड दोनों का पात्र होता है और जो प्रतिवादी डेढ़ महीने के अन्दर झूठे दावे से हुई हानि की नालिश न कर सके तो वह भी हारा समझा जाता है। प्रतिवादी जितने धन के लिए झूठ बोले और वादी जितने धन का झूठा दावा करे, राजा को उन दोनों अधर्मियों को उसका दुगना दण्ड करना चाहिए। अगर राजा और ब्राह्मण के सामने पूछने पर ऋणी इन्कार कर दे तो तीन गवाह देकर ऋण सत्य करवाना चाहिए ॥५५-६०॥

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः ।
तादृशान् सम्प्रवक्ष्यामि यथा वाच्यं ऋतं च तैः ॥ ॥६१॥
गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविद् शूद्रयोनयः ।
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये के चिदनापदि ॥ ॥६२॥

अब महाजनों को तथा अन्य मनुष्यों को कैसे गवाह देने चाहिए और गवाहों को कैसे सच्ची गवाही देनी चाहिए, यह सब कहा जाता है । कुंटुम्वी, पुत्रवान्, उसी देश का वासी, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये लोग जब वादी बुलावें तो गवाही दे सकते हैं, हर कोई नहीं। जब तक किसी को आपत्ति न हो ॥ ६१-६२॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ ॥६३॥
नार्थसंबन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ।
न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥ ॥६४॥
न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ ।
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न सङ्गेभ्यो विनिर्गतः ॥ ॥६५॥
नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत् ।
न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥ ॥६६॥
नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः ।
न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥ ॥६७॥

सभी वर्णों में जो यथार्थ कहनेवाले और धर्मज्ञ हों अर्थात लोभी न हों, उनको साक्षी करना चाहिए, किसी दुसरे को नहीं। दावे मे न धन के सम्बन्धी को, न सगे सम्बन्धी को, न मित्र को, न शत्रु को न झूठ शपथ करने वाले को, न रोगी को, और न अपराधी को गवाह करना चाहिए। राजा को, कारीगर को, नट को, वेदपाठी को, संन्यासी और त्यागी को, पराधीन को, क्रूर को, अधर्मी को, वृद्ध को, बालक को एक ही मनुष्य को, चाण्डाल को, लूला-लंगड़ा को भी गवाह न करें। रोगों से दुखी, नशा करने वाला, उन्मत्त, भूख-प्यास से दुखी, थका, काम पीड़ित, क्रोधी और चोर, यह भी साक्षी बनने योग्य नहीं हैं ॥ ६३-६७ ॥

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणां अन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ ॥६८॥
अनुभावी तु यः कश्चित् कुर्यात् साक्ष्यं विवादिनाम् ।
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥ ॥६९॥
स्त्रियाऽप्यसंभावे कार्यं बालेन स्थविरेण वा ।
शिष्येण बन्धुना वाऽपि दासेन भृतकेन वा ॥ ॥७०॥

स्त्रियों की गवाही स्त्रियां, द्विजों की गवाही समान वर्ण के द्विज, शद्रों की गवाही शूद्र और अन्त्ज्य आदि की गवाही अन्त्ज्य को देनी चाहिए। घर के भीतर, वन में और शरीर के अंत (वध) में, कोई भी जानने वाला पुरुष गवाह हो सकता है। कोई योग्य गवाह न मिले तो स्त्री, बालक, वृद्ध, शिष्य, सम्बन्धी, दास और नौकर चाकर भी गवाह हो सकते हैं ॥६८ -७०॥

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा ।
जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥ ॥७१॥
साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसङ्ग्रहणेषु च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ॥७२॥
बहुत्वं परिगृह्णीयात् साक्षिद्वैधे नराधिपः ।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥ ॥७३॥
समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति ।
तत्र सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ॥७४॥
साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद् विब्रुवन्नार्यसंसदि ।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ॥७५॥
यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद् वाऽपि किं चन ।

पृष्टस्तत्रापि तद् ब्रूयाद् यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ॥७६॥
एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद् बह्व्यः शुच्योऽपि न स्त्रियः।
स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात् तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः ॥ ॥७७॥
स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद् ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
अतो यदन्यद् विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥ ॥७८॥

बालक, बूढ़े और रोगियों के झूठ बोलने की सम्भावना रहती है, इसलिए उनके कहने पर भरोसा नहीं करना चाहिए और चंचल चित्त मनुष्य को भी विश्वासी नहीं मानना चाहिए । संपूर्ण साहस के काम खून, डाका, आग लगा देना और चोरी, व्यभिचार, गाली और मारपीट में साक्षियों की अधिक परीक्षा-जांच न करे। दोनों तरफ़ के गवाहों में यदि एक दूसरे के विपरीत कहे तो जिसको अधिक लोग कहें वहीं बात मानी जानी चाहिए। और जहां दोनों विपरीत कहनेवाले समान हो वहां जिधर के गवाह गुणवान् हों उधर की बात सही माने और दोनों ही तरफ़ गुणी हों तो धर्मात्मा द्विजों की गवाही को प्रमाण समझना चाहिए। जिसने आँखों से देखा हो या, जिसने स्वयं कानों से सुना हो, उसकी गवाही प्रमाणित मानी जाती है। उसमें सच बोलने वाला साक्षी धर्म, अर्थ से नहीं हारता। जो पुरुष आर्य की सभा में देखे सुने के विरुद्ध गवाही देता है, वह उलटे सिर नरक में पड़ता है और मरकर स्वर्ग से हीन हो जाता है। जिस मामले में गवाह न भी हों तो भी पूछने पर जैसा देखा, सुना हो वहीं बयान करना चाहिए। लोभ रहित एक भी पुरुष गवाह पर्याप्त होता है, पर बहुत सी पवित्र स्त्रियां भी गवाह नहीं हो सकतीं क्योंकि स्त्री की बुद्धि स्थिर नहीं होती। निर्णय के समय, गवाह स्वाभाविक रीति से जो कुछ कहे, उसको प्रमाण माने । और भय-लोभ आदि से जो विरुद्ध बात कहें, वह बिलकुल व्यर्थ है ॥७१-७८॥

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसंनिधौ ।
प्राड् विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन् ॥ ॥७९॥
यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः ।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥ ॥८०॥
सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी लोकान् आप्नोत्यपुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ॥८१॥
साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम् ।
विवशः शतमाजातीस्तस्मात् साक्ष्यं वदेद् ऋतम् ॥ ॥८२॥
सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ।
तस्मात् सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ॥८३॥
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथाऽत्मनः ।
माऽवमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ ॥८४॥

सभा में गवाह आ ज्ञाने पंर न्यायकर्ता वादी, प्रतिवादी के सामने इस प्रकार कार्यारम्भ करे -इस मामले में आपस में जो कुछ हुआ है, वह जो तुम जानते हो सत्य कहो क्योंकिं-इसमें तुम्हारी गवाही है। गवाह गवाही में सत्य बोलकर, उत्तम गति को पाता है और यहाँ कीर्ति पाता है, सत्यवाणी की वेद में प्रशंसा की है । गवाही में झूठ बोलने जाला सौ जन्मतक वरुण के पाशों से बाँधा जाता है। इसलिए साक्षी को सत्य बोलना चाहिए। साक्षी सत्य से पवित्र होता है । सत्य से धर्म बढ़ता है, इसकारण सभी जाति के गवाहों को सदा सत्य बोलना चाहिए। अपना आत्मा ही अपना साक्षी है, आत्मा ही अपने को सद्गति देता है। इसलिए मनुष्यों के उत्तम साक्षी अपनी आत्मा का झूट साक्षी से अपमान नहीं करना चाहिए ॥७६-८४॥

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित् पश्यतीति नः ।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥ ॥८५॥

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः ।
रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥ ॥८६॥

पापी लोग समझते हैं कि-पाप करते हुए हमको कोई देखता नहीं, परन्तु उनको देवता और उनका अपना अन्तरात्मा देखता है। आकाश, पृथ्वी, ज़ल, हृदय, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, रात्रि, सन्ध्या और धर्म इन सभी के अधिष्ठात्री देवता सभी प्राणियों के भले बुरे आचरणों को देखते हैं। ॥८५-८६॥

देवब्राह्मणसांनिध्ये साक्ष्यं पृच्छेद् ऋतं द्विजान् ।
उदङ्मुखान् प्राङ्मुखान् वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन् ॥ ॥८७॥
ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत् सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम् ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ॥८८॥
ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः ।
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥ ॥८९॥
जन्मप्रभृति यत् किं चित् पुण्यं भद्र त्वया कृतम् ।
तत् ते सर्वं शुनो गच्छेद् यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥ ॥९०॥
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यस्त्वं कल्याण मन्यसे ।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥ ॥९१॥
यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥ ॥९२॥
नग्नो मुण्डः कपालेन च भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः ।
अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद् यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ॥९३॥
अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् ।
यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात् पृष्टः सन् धर्मनिश्चये ॥ ॥९४॥

न्यायाधीश स्नानादि से पवित्र होकर, देवता और ब्राह्मण के समीप में पवित्र द्विजातियों को पूर्व या उत्तरमुख कराकर प्रातःकाल सच सच वृत्तान्त पूंछै । ब्राह्मण से 'कहो' ऐसा पूछे, क्षत्रिय से 'सच बोलो' इस प्रकार पूछना चाहिए । और 'गौ, बीज, सोना चुराने का पातक तुमको होगा ' ऐसा कहकर वैश्यों से पूछे। 'सब पाप तुमको लगेगा' यो कहकर शूद्र से साक्षी लेना चाहिए। ब्राह्मण, स्त्री, बालक को मारनेवाले को और मित्रद्रोही, कृताघन को जो जो लोक मिलते हैं वही लोक झूठ बोलनेवाले को मिलते हैं। हे भद्र पुरुष! जन्म से लेकर तूने जो पुण्य अभी तक किए हैं, वह सब झूठी गवाही देगा तो, कुत्ते को पहुँचेगा। हे भद्र ! तू यह जो मानता है कि, मैं अकेला जीवात्मा हूँ सो न मान। क्योंकि-पुण्य, पाप को देखनेवाला अन्तर्यामी नित्य हृदय में ही स्थित है। यमरूप वैवस्वत देव हृदय में स्थित हैं, उसमें विश्वास रखने से गंगा जी और कुरुक्षेत्र जाने की ज़रूरत नहीं है। जो झूठी गवाही देता हैं-उसको नग्न, सिर मुंडाकर, भूखा, प्यासा और अंधा होकर, हाथ में ठीकरा लेकर शत्रु के घर भीख मांगने जाना पड़ता है। जो झूठ साक्षी पूछने पर देता है, वह पापी नीचे सिर होकर, अँधरे नरक में पड़ता है ॥८७-९४॥

अन्धो मत्स्यानिवाश्नाति स नरः कण्टकैः सह ।
यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥ ॥९५॥
यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ॥९६॥
यावतो बान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् ।
तावतः सङ्ख्यया तस्मिन् शृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥ ॥९७॥
पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ॥९८॥
हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।

सर्वं भूमिअनृते हन्ति मा स्म भूमिअनृतं वदीः ॥ ॥९९॥
अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने ।
अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥ ॥१००॥

जो सभा में बिना देखी बात झूठी बनाकर बोलता है वह अंधा होकर कांटो सहित मछली खाता है। साक्षी के समय जिसकी जीवात्मा असत्य की शंका नहीं करता, उससे अच्छा देवगण दूसरे को नहीं मानते। हे सौम्य, जिस साक्षी में झूठ बोलनेवाला जितने बान्धवों के मारने का फल पाता है वह इस प्रकार है - पशु के बारे में झूठ बोलने से पांच बान्धव की हत्या का पातक पाता है। गौ के विषय में दस, घोड़े के सौ और पुरुष के लिए हज़ार की हत्या का पातक लगता है। सुवर्ण के लिए झूठ बोलने से पैदा हुए या होनेवालों की हत्या के फल को पाता है और भूमि के लिए असत्य कहने से संपूर्ण प्राणियों के वध का फल पाता है। इसलिए भूमि के बारे में कभी झूठी साक्षी नहीं देनी चाहिए। सरोवर के जल, स्त्रीसंभोग, जल से पैदा मोती और नीलम अदि रत्नों के लिए झूठी गवाही देने से भूमि के सामान दोष होता है ॥९५-१००॥

एतान् दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे ।
यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥ ॥१०१॥
गोरक्षकान् वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ ॥१०२॥

इन सभी झूठ बोलने वाले पातकों को समझकर, जैसा देखा अथवा सुना है वही ठीक ठीक कहो । गोपालक, बनिया, बढ़ई, लोहार, गाने बजाने का काम करनेवाले, नौकरी पेशा और ब्याजखोर ब्राह्मणों से गवाही लेते समय शुद्र के समान प्रश्न करना चाहिए। ॥ १०१-१०२ ॥

तद् वदन् धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः ।
न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद् दैवीं वाचं वदन्ति ताम् ॥ ॥१०३॥
शूद्रविड् क्षत्रविप्राणां यत्रऋतोक्तौ भवेद् वधः ।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद् हि सत्याद् विशिष्यते ॥ ॥१०४॥
वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम् ।
अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ॥ ॥१०५॥
कूष्माण्डैर्वाऽपि जुहुयाद् घृतमग्नौ यथाविधि ।
उदित्य् ऋचा वा वारुण्या तृचेनाब्दैवतेन वा ॥ ॥१०६॥
त्रिपक्षादब्रुवन् साक्ष्यं ऋणादिषु नरोऽगदः ।
तद्दणं प्राप्नुयात् सर्वं दशबन्धं च सर्वतः ॥ ॥१०७॥
यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः ।
ऋणं दाप्यो दमं च सः ॥ ॥१०८॥
असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः ।
अविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥ ॥१०९॥
महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः ।
वसिष्ठश्चापि शपथं शेपे पैजवने नृपे ॥ ॥११०॥

जो मनुष्य जानता हुआ भी धर्मवश झूठ बोले तो वह स्वर्गलोक से पतित नहीं होता क्योंकि उस असत्य को देववाणी कहते हैं। जिस मामले में शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणों के प्राण जाते हों वहां साक्षी झूठ बोल सकता है – क्योंकि झूठ भी सत्य से श्रेष्ठ है। झूठे गवाहों को उस पाप से छुटकारा पाने के लिए वाणी देवता के लिए चरु बनाकर सरस्वती देवी का पूजन करना चाहिए । अथवा कूष्माण्ड मन्त्रों (यजुर्वेद २० । १४) से हवन करे । या वरुण देवता के (यजुर्वेद १२ । १२) मन्त्र से अथवा जल देवता के मन्त्र (यजुर्वेद ११ । ५०) से हवन करे। ऋण की विषय में साक्षी निरोग होने पर, डेढ़ महीने तक

न आये तो महाजन को अपना सब ऋण वापस मिलना चाहिए और धन का दशांश गवाह पर दण्ड करना चाहिए। गवाह को सात दिन के अन्दर रोग, अग्नि, स्त्री पुत्रादि के मृत्यु हो जाय तो उसको दण्ड नहीं करना चाहिए। जिन वादी और प्रतिवादियों के गवाह न हों, उनका ठीक वृतांत ज्ञात न हो सके तो शपथ से भी निर्णय कर लेना चाहिए। महर्षि और देवताओं ने भी शपथ की थी । विश्वामित्र ने वशिष्ठ पर हत्या का आरोप लगाया था तब उन्होंने रांजा पैजवन के समीप शपथ ली थी ॥१०३-११० ॥

न वृथा शपथं कुर्यात् स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः ।
वृथा हि शपथं कुर्वन् प्रेत्य चैह च नश्यति ॥ ॥१११॥
कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने ।
ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ ॥११२॥
सत्येन शापयेद् विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।
शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ॥११३॥
अग्निं वाऽहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत् ।
पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत् पृथक् ॥ ॥११४॥
यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च ।
न चार्तिं ऋच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥ ॥११५॥

बुद्धिमान् पुरुष को छोटी सी बात के लिए शपथ नहीं लेनी चाहिए। वृथा शपथ से लोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं। स्त्रियों में, विवाह में, गौवों के कुछ नुक़सान करने में यज्ञार्थ काष्ठसंग्रह में और ब्राह्मण की आपत्ति में झूठा शपथ करने से पाप नहीं लगता । ब्राह्मण को सत्य की शपथ दिलाएं, क्षत्रिय को सवारी और शस्त्र की शपथ दिलाएं, वैश्य को गौ, अन्न और सुवर्ण की और शूद्र को सब पातक

लगने की शपथ दिलाएं। अथवा अग्नि को साक्षी मान कर शपथ दिलाएं, जल में गोता लगवायें और उसके पुत्र या स्त्री के ऊपर हाथ रख कर शपथ दिलाएं। जिसको अग्नि जलाये, जल में न डूबे और अचानक सिर पर आपत्ति न पड़ जाए उसको शपथ में पवित्र जानना चाहिए ॥१११-११५॥

वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा ।
नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पशः ॥ ॥११६॥
यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् ।
तत् तत् कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥ ॥११७॥
लोभान्मोहाद् भयात्मैत्रात् कामात् क्रोधात् तथैव च ।
अज्ञानाद् बालभावात्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ ॥११८॥

पूर्व काल में वत्सऋषि के ऊपर उनके छोटे भाई ने कलंक लगाया था कि तू शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुआ है। तब वत्सऋषि ने अग्नि में प्रवेश किया था, पर सत्यवश अग्नि ने उनका एक रोम भी नहीं जलाया। जिन जिन मुक़द्दमों में झूठी गवाही दी गयी है, ऐसा निश्चित हो उनको फिर से उलट कर परीक्षा करनी चाहिए। लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और लड़कपन से गवाही झूठी कही जाती है ॥ ११६-११८ ॥

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ॥११९॥
लोभात् सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात् पूर्वं तु साहसम् ।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात् पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ ॥१२०॥
कामाद् दशगुणं पूर्वं क्रोधात् तु त्रिगुणं परम् ।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्यात्शतमेव तु ॥ ॥१२१॥

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान् दण्डान् मनीषिभिः ।
धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥ ॥१२२॥
कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन् वर्णान् धार्मिको नृपः ।
प्रवासयेद् दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ ॥१२३॥
दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वयंभुवोऽब्रवीत् ।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ ॥१२४॥

इनमें किसी एक कारण से जो झूठी गवाही दे उसके, दण्ड का निर्धार क्रम से इस प्रकार है: लोभ से झूठी गवाही देने पर हज़ार पण दण्ड, मोह से कहनेवाले पर प्रथम साहस अर्थात् २५० पण, भय से गवाही देने वाले पर मध्यम साहस का दुगना और मित्रता के कारण से प्रथम साहस का चौगुना अर्थात १००० पण दण्ड देना चाहिए । काम से झूठी गवाही देने वाले पर प्रथम साहस का दस गुना (२५०० पण), क्रोध से तिगुना मध्यम साहस, अज्ञान से पूरे २०० पण और मूर्खता से झूठ कहने पर १०० पण दण्ड करना चाहिए। सत्य, धर्म की रक्षा और अधर्म को रोकने के लिए ऋषियों ने इन दण्डों को कहा है। धार्मिक राजा झूठी गवाही देने वालों तीनों वर्णों को अपराध के अनुसार दण्ड देकर देश से निकाल दे और ब्राह्मण को दण्ड न देकर देश निकाला ही करे। स्वायम्भूमनु ने दण्ड देने के जो दस स्थान आगे कहे हैं वह क्षत्रिय आदि अन्य वर्णों के लिए हैं, ब्राह्मण को केवल देश निकाला देने का ही दण्ड है ॥११६ - १२४॥

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥ ॥१२५॥
अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
सारापराधो चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥ ॥१२६॥

लिङ्ग, पेट, जीभ, हाथ, पैर, आँख, नाक, कान, धन और शरीर ये दस दण्ड देने के स्थान हैं । अपराध और दण्ड सहने की शक्ति और देश, काल का विचार करके अपराधियों को दण्ड देना चाहिए ॥ १२५-१२६॥

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् ।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात् तत् परिवर्जयेत् ॥ ॥१२७॥
अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ ॥१२८॥
वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद् धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥ ॥१२९॥
वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।
तदेषु सर्वमप्येतत् प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥ ॥१३०॥

अधर्म से दण्ड देना, इस लोक में यश और कीर्ति का नाशक है और परलोक में स्वर्ग प्राप्ति का बाधक है, इसलिए अधर्म से दण्ड नहीं देना चाहिए। निरपराधियों को दण्ड और अपराधियों को दण्ड़ न देने से राजा की बड़ी अकीर्ति होती है। अयश मिलता है और वह नरक में गिरता है। प्रथम अपराध में वाग्दण्ड- डांट कर समझा दे और यदि दोबारा अपराध करे तो धिक्कार दण्ड देना चाहिए। तीसरी बार अपराध करने पर वन दण्ड (जुर्माना) करना चाहिए और यदि चौथी बार अपराध करे तो देहदंड देना चाहिए। यदि देहदंड से भी अपराधी वश में न आये तो इन चारों दण्डों का प्रयोग करना चाहिए ॥ १२७-१३०॥

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।

ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ॥१३१॥
जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः । प्र
थमं तत् प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ ॥१३२॥

लोक में व्यवहार के लिये सोना, चांदी' आदि की जो संज्ञा माप-तौल प्रसिद्ध है वह यहां कही जाती हैः-मकान के झरोखे से, आनेवाली सूर्य किरणों में जो छोटे छोटे धूल के कण, दिखलाई देते हैं वह प्रथम मान है उसको त्रसरेणु कहते हैं ॥ १३१-१३२ ॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।
ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥ ॥१३३॥
सर्षपाः षड् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् ।
पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ ॥१३४॥
पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥ ॥१३५॥
ते षोडश स्याद् धरणं पुराणश्चैव राजतः।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥ ॥१३६॥
धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः ।
चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ ॥१३७॥
पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥ ॥१३८॥

८ त्रसरेणु = १ लिक्षा। ३ लिक्षा = १ राई ।
३ राई = १ सफ़ेद सरसों । ६ सरसों = १ मध्यम यव ।
३ मध्यम यव = १ कृष्णल । ५ कृष्णल = १ माष ।
१६ माष = १ सुवर्ण । ४ सुवर्ण = १ पल ।
१० पल = १ धरण । ३ कृपल = १ चांदी का माषा।

१६ चांदी माषा =१ रौप्य धरण, अथवा चांदी का पुराण ।
१० धरण = १ चांदी का शतमान ।
४ सुवर्ण = १ निष्क।
२५० पण = प्रथम साहस । (साधारण दण्ड)
५०० पण = मध्यम साहस।
१००० पण =उत्तम साहस ॥ १३३-१३८ ॥

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति ।
अपह्नवे तद् द्विगुणं तन् मनोरनुशासनम् ॥ ॥१३९॥
वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद् वित्तविवर्धिनीम् ।
अशीतिभागं गृह्णीयान् मासाद् वार्धुषिकः शते ॥ ॥१४०॥
द्विकं शतं वा गृह्णीयात् सतां धर्ममनुस्मरन् ।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्बिषी ॥ ॥१४१॥
द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम् ।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद् वर्णानामनुपूर्वशः ॥ ॥१४२॥

यदि ऋणी सभा में महाजन का रुपया देना स्वीकार कर ले तो ५% दण्ड देने योग्य हैं। और इन्कार करे परन्तु सभा में प्रमाणित हो जाए तो १०% दण्ड देने योग्य है , ऐसी मनु की आज्ञा है। वशिष्ठ के नियमानुसार वृद्धि (ब्याज) १०० का अस्सीवाँ भाग – १.२५ प्रतिशत होना चाहिए । अथवा सात्पुरुशों के धर्म का स्मरण कर २% ब्याज लेना चाहिए। २% तक ब्याज लेने से दोष नहीं होता। ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में क्रम से दो, तीन, चार और पांच % माहवारी व्याज ग्रहण करे ।। १३६-१४२ ॥

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् ।

न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥ ॥१४३॥
न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत् ।
मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥ ॥१४४॥
आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः ।
अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ ॥१४५॥
सम्प्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदा चन ।
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ ॥१४६॥
यत् किं चिद् दशवर्षाणि संनिधौ प्रेक्षते धनी ।
भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ ॥१४७॥

भूमि, गौ, धन आदि भोग के पदार्थ यदि आधि (गिरवी) महाजन के यहाँ रखें तो महाजन को ब्याज न मिले और नियमित समय में ऋणी छुड़ा न सके तो महाजन को उस वस्तु को बेचने अथवा किसी अन्य को दे देने का अधिकार नहीं है। आधि वस्तु को ऋणी की आज्ञा के बिना उपयोग मे नहीं लाना चाहिए, यदि उपयोग में लाये तो ब्याज छोड़ देना चाहिए और यदि गिरवी वस्तु टूट फूट जाय तो ऋणी को उसका बदला धन आदि देकर खुश करे नहीं तो चोर माना जाता है। आधि और उपनिधि (अमानत) के पदार्थ बहुत दिन तक पड़े रहें तब भी तत्वत नष्ट नहीं होता। उनका मालिक जब चाहे तब उन्हें वापिस ले सकता है। गौ, ऊँट,घोड़ा वगैरह किसी ने प्रेम से उपयोग करने को दिए हो और चाहे वह उपयोग में लाता हो तब भी उसके स्वामी का ही अधिकार बना रहता है। यदि किसी वस्तु को अन्य लोग दस वर्षों तक उपयोग मे लाते रहें और स्वामी चुपचाप देखा करे, तो उसका अधिकार समाप्त हो जाता है। ॥ १४३-१४७ ।।

अजडश्चेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते ।
भग्नं तद् व्यवहारेण भोक्ता तद् द्रव्यमर्हति ॥ ॥१४८॥

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः।
राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥ ॥१४९॥
यः स्वामिनाऽननुज्ञातमाधिं भूङ्क्तेऽविचक्षणः ।
तेनार्धवृद्धिर्मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥ ॥१५०॥

वस्तु का स्वामी पागल न हो और नादान न हो पर उसका वस्तु दूसरा भोगता रहें तो न्याय से उसका अधिकार नहीं रहता और भोगने वाले का हो जाता है। गिरवी वस्तु, सीमा, बालक का धन, धरोहर, प्रसन्नता से भोगार्थ दिया धन, स्त्री और राजा का धन, श्रोत्रिय का धन इनको दूसरा भोगे तो भी स्वामी का अधिकार नहीं जाता । जो चालाक मनुष्य आधि को बिना स्वामी के कहे भोगता है उसको आधा ब्याज छोड़ देना चाहिए क्योंकि उसका आधा ब्याज वस्तु को उपयोग मे लाने से घट जाता है ॥ १४८ -१५०॥

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता ।
धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥ ॥१५१॥
कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिध्यति ।
कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥ ॥१५२॥
नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत् ।
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥ ॥१५३॥
ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत् पुनः क्रियाम् ।
स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥ ॥१५४॥
अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् ।
यावती संभवेद् वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥ ॥१५५॥

कर्जा के रुपयों का सूद एक बार लेने पर, ऋण का धन दुगने से अधिक नहीं लिया जा सकता । और धान्य, वृक्ष के मूल, फल, ऊन और वाहन पांच गुना से अधिक नहीं लिये जाते हैं। जितने ब्याज का ठहराव हो चुका हो उससे अधिक शास्त्र के विपरीत नहीं मिल सकता। ब्याज का मार्ग यही है कि अधिक से अधिक पांच प्रतिशत लिया जा सकता है। एक वर्ष मे ब्याज मिला कर, मूल धन दोगुना हो जाए तो उतना ब्याज नहीं लेना चाहिये और ब्याज का ब्याज भी नहीं लेना चाहिए। नियतकाल बीतने पर दोगुना, तिगुना आदि लेने का सहमति न करें और उससे कोई काम धोखा देकर नहीं करवाना चाहिए। जो कर्जदार पुराना कर्जा अदा न कर सके और नया व्यवहार चलाना चाहे तो पुराने कागज को बदलकर नया कर लेना चाहिए। लेकिन ब्याज भी न दे सके तो उस को मूलधन में जोड़ देना चाहिए फिर जितनी संख्या पहले ब्याज सहित हो जाए, उतनी देने योग्य होती है। ॥ १५१-१५५ ॥

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः ।
अतिक्रामन् देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ ॥१५६॥
समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥ ॥१५७॥
यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद् दर्शनायैह मानवः ।
अदर्शयन् स तं तस्य प्रयच्छेत् स्वधनाद् ऋणम् ॥ ॥१५८॥

चक्रवृद्धि का आश्रय करनेवाला महाजन को देश-काल के नियम के अनुसार ही ब्याज लेना चाहिए परन्तु नियत देश व काल को उल्लंघित करने पर ब्याज पाने योग्य नहीं रहता है। समुद्र आदि के रास्ते देश-विदेश में व्यापार करने वाले चतुर महाजन 'जो आय - व्यय के अनुसार भाड़ा ब्याज आदि तय करे वहीं प्रमाण है। जो

मनुष्य जिसको हाज़िर करने की जिम्मेदारी ले और उसे हाज़िर न कर सके तो उसको अपने पास से वह ऋण चुकाना पडता है ॥१५६-१५८॥

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकां च यत् ।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥ ॥१५९॥
दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात् पूर्वचोदितः । दा
नप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ ॥१६०॥
अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् ।
पश्चात् प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत् केन हेतुना ॥ ॥१६१॥
निरादिष्टधनश्चेत् तु प्रतिभूः स्यादलंधनः ।
स्वधनादेव तद् दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥ ॥१६२॥
मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा ।
असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिध्यति ॥ ॥१६३॥
सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात् प्रतिष्ठिता ।
बहिश्चेद् भाष्यते धर्मान्नियताद् व्यवहारिकात् ॥ ॥१६४॥

जमानत का धन, वृथा दान, जुए का रुपया, मद्य का रुपया और जुर्माना का रुपया पिता के मरने पर उसके बदले पुत्र के देने योग्य नहीं हैं। सिर्फ उपस्थित करने पर ज़मानत की ही पहली विधि है। परन्तु कर्ज के बदले धन देना स्वीकार करने वाला जमानती मर जाए तो कर्ज उसके वारिसों से भी दिलाना चाहिए। अदाता प्रतिभू अर्थात जिसने कर्ज अदायगी की बात स्वीकार न की ही केवल गवाह बनने की बात ही स्वीकार की हो मर जाए और ऋणी कर्ज अदा न करे, तो महाजन कैसे अपना रुपया वसूल करे ? किसी से नहीं। यदि जमानती को ऋणी रुपया सौंप गया हो और उसके पास भी खूब धन हो तो ज़मानती के मरने पर उसके पुत्र को ऋण

चुकाना चाहिए-यह धर्मशास्त्र की मर्यादा है। नशेबाज, पागल, दुख, पराधीन, बालक, बुड्ढा और सामर्थ के बाहर प्रतिज्ञा करने वाले का व्यवहार सिद्ध नहीं होता। आपस की लिखा पढ़ी या जबानी ठहरी भी कोई बात यदि धर्म-क़ानून और परंपरा के विरुद्ध हो तो सच्ची नहीं मानी जाती है ॥ १५६-१६४ ॥

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् ।
यत्र वाऽप्युपधिं पश्येत् तत् सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ ॥१६५॥
ग्रहीता यदि नष्टः स्यात् कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः।
दातव्यं बान्धवैस्तत् स्यात् प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥ ॥१६६॥
कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत् ।
स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥ ॥१६७॥

कपट से क्रिया हुआ बंधक (गिरवी } विक्रय, दान, प्रतिग्रह, और निक्षेप-धरोहर को भी लौटा देना चाहिए। यदि ऋणी मर गया हो और ऋण का द्रव्य कुटुम्ब में भी लगाया हो तो उसके बांधव चाहे मिले हों अथवा अलग हों, उन्हें अपने धन से ऋण चुकाना चाहिए। कोई अधीन पुरुष भी स्वामी के कुटुम्ब के लिए देश या परदेश में लेन-देन कर ले तो परिवार के स्वामी को उसको स्वीकार कर लेना चाहिए, इन्कार नहीं करना चाहिए ॥१६५-१६७॥

बलाद् दत्तं बलाद् भुक्तं बलाद् यच्चापि लेखितम् ।
सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत् ॥ ॥१६८॥
त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम् ।
चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ्नृपः ॥ ॥१६९॥
अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः ।
न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥ ॥१७०॥

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् । दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्यैह च नश्यति ॥ ॥१७१॥
स्वादानाद् वर्णसंसर्गात् त्वबलानां च रक्षणात् । बलं सञ्जायते राज्ञः स प्रेत्यैह च वर्धते ॥ ॥१७२॥

बलपूर्वक दिया, बलपूर्वक भोग किया, कुछ लिखाया या कुछ किसी से कराया कह सब न किये के समान ही है, ऐसा मनुजी ने कहा है। तीन दूसरे के लिए दुःख पाते हैं--साक्षी, जमानती और ऋणी के कुटुम्बी । और चार दूसरे के कारण बढ़ते हैं-ब्राह्मण, धनी, बनिया और राजा । राजा को निर्धन होकर भी अनुचित धन आदि नहीं लेना चाहिए और धनी होकर भी योग्य धन को थोड़ा भी नहीं छोड़ना चाहिए। न लेने योग्य वस्तु को लेने से और लेने योग्य को छोड़ने से राजा की दुर्बलता प्रसिद्ध हो जाती है और वह राजा अपयश पाकर नष्ट हो जाता है । उचित धन लेने से, प्रजा को वर्णसंकर न होने देने से, और दुर्बलों की रक्षा करने से राजा को बल प्राप्त होता है तथा और लोक-परलोक दोनों में सुख भोगता है। ॥१६६-१७२॥

तस्माद् यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये ।
वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥ ॥१७३॥
यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात् कुर्यान्नराधिपः ।
अचिरात् तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥ ॥१७४॥
कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्मेण पश्यति ।
प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥ ॥१७५॥

इसलिए राजा को यमराज के समान अपना प्रिय और अप्रिय छोड़कर क्रोध और इन्द्रियों को वश में करके, समभाव प्रजा पर रखना चाहिए। जो राजा मूर्खता से अधर्म के कार्य करता है, उस

दुष्ट को शत्रु शीघ ही वश में कर लेते हैं। परन्तु जो काम, क्रोध को वश में करके, धर्म से कार्यों को देखता है, उसकी प्रजा समुद्र के नदियों की भांति अनुगामिनी होती हैं ॥१७३-१७५॥

यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद् धनिकं नृपे ।
स राज्ञा तत्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद् धनम् ॥ ॥१७६॥
कर्मणाऽपि समं कुर्याद् धनिकायाधमर्णिकः ।
समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तत्शनैः ॥ ॥१७७॥
अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम् ।
साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥ ॥१७८॥

यदि ऋणी राजा से कहे कि महाजन ज़बरदस्ती ऋण वसूल करता है तब भी राजा उसका धन दिलाए और ऋणी पर ऋण का चौथाई दण्ड करे। समानजाति अथवा हीन जाति क़र्जदार को महाजन का धन उसके यहां काम करके चुका देना चाहिए और महाजन से ऊंची जाति का ऋणी धीरे धीरे अदा कर देना चाहिए। इस प्रकार राजा को आपस में झगड़ा करनेवालों का निर्णय साक्षी, लेख आदि के प्रमाण से करना चाहिए ॥१७६-१७६॥

निक्षेप-धरोहर-अमानत रखना

कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः ॥ ॥१७९॥
यो यथा निक्षिपेद्ध हस्ते यमर्थं यस्य मानवः ।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ ॥१८०॥
यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति ।
स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसंनिधौ ॥ ॥१८१॥

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः ।
अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥ ॥१८२॥
स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम् ।
न तत्र विद्यते किं चिद् यत् परैरभियुज्यते ॥ ॥१८३॥

कुलीन, सदाचार, धर्मज्ञ, सत्यवादी, कुटुम्बी, धनी और प्रतिष्ठित पुरुष के पास निक्षेप-धरोहर रखना चाहिए। जो मनुष्य जिसके यहां जो द्रव्य जिस प्रकार रक्खें, उसको उसी प्रकार लेना उचित है। क्योंकि जैसा देना, वैसा लेना । जो धरोहर रखने वाले की वस्तु मांगने पर नहीं देता, उससे न्यायकर्ता राज पुरुष रखनेवाले के पीछे मांगे। धरोहर के समय साक्षी न हो, तो राजा किसी वृद्ध-प्रामाणिक कर्मचारी से कुछ वस्तु किसी बहाने से उसके यहीं रखवाना चाहिए और थोड़े ही दिन में ही लौटा लेना चाहिए। यदि वह राजकर्मचारी अपनी रक्खी वस्तु ठीक ठीक मांगने पर वापिस पा जाएँ तो जो धरोहर न पाने की नालिश करे उसको झूठा समझना चाहिए ॥१७६-१८३॥

तेषां न दद्याद् यदि तु तद् हिरण्यं यथाविधि ।
उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ ॥१८४॥
निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे ।
नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ ॥१८५॥
स्वयमेव तु यौ दद्यान् मृतस्य प्रत्यनन्तरे ।
न स राज्ञाऽभियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥ ॥१८६॥
अच्छलेनैव चान्विच्छेत् तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् ।
विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥ ॥१८७॥
निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात् परिसाधने । समुद्रे नाप्नुयात् किं चिद् यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ ॥१८८॥

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा ।
न दद्याद् यदि तस्मात् स न संहरति किं चन ॥ ॥१८९॥
निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च ।
सर्वैरुपायैरन्विच्छेत्शपथैश्चैव वैदिकैः ॥ ॥१९०॥
यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ।
तावुभौ चौरवत्शास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥ ॥१९१॥

और यदि वह उस वस्तु को उचित अवस्था में वापस न करे तो राजा को उसे पकड़कर दोनों की धरोहर वापस दिलवानी चाहिए, यही धर्म निर्णय है। खुली या मुहर लगी धरोहर या मांग वस्तु रखने वाले की वस्तु उसके वारिस को नहीं देनी चाहिए, क्योंकि रखनेवाले की मृत्यु होने से धरोहर नष्ट हो जाती हैं परन्तु मनुष्य के जीवित रहते अविनाशी रहती है। धरोहर रखनेवाले की मृत्यु होने पर, यदि महाजन खुशी से उसके वारिसों को धरोहर वापस देना स्वीकार कर ले, तो कम देने का दावा वारिस अथवा राजा को नहीं करना चाहिए। उस धन को प्रसन्नता से कम ज्यादा का कपट छोड़कर, स्वीकार कर लेना चाहिए । यह उन सभी धरोहरों का नियम है जोकि बिना मुहर रखी गई है और मुहरवाली में कोई शक नहीं होता। अमानत की वस्तु को चोर चुरा कर ले जाए, जल में बह जाए, आग में जल जाए और यदि महाजन ने उसमें से कुछ न लिया हो, तो वापस नहीं देनी पड़ती। जो धरोहर न लौटाये अथवा जो बिना रखे ही कपट से मांगे उन दोनों का साम आदि उपाय और वैदिक शपथ से राजा को निर्णय करना चाहिए। जो धरोहर नहीं देता, या जो बिना रक्खे ही मांगता हैं, उन दोनों को चोर के समान ही दण्ड देना चाहिए और धरोहर के समान दण्ड लगाना चाहिए ॥ १८४-१९१॥

निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं दापयेद् दमम् ।
तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ ॥१९२॥
उपधाभिश्च यः कश्चित् परद्रव्यं हरेन्नरः ।
ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ ॥१९३॥
निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसंनिधौ ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन् दण्डमर्हति ॥ ॥१९४॥
मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा।
मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ ॥१९५॥
निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च।
राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम् ॥ ॥१९६॥

धरोहर और उपनिधि हरण करने वालों को भी राजा को यही दण्ड देना चाहिए। छल, कपट करके पराया धन हरने वालों को उनके मदद गारों के साथ सबके सामने. अनेक पीड़ादायक दण्ड देने चाहिए। गवाहों के सामने जितना धरोहर हो उतना स्वीकार करने से बाद झगडा करनेवाला दण्डनीय होता है। जिसने एकान्त में धरोहर रखी और एकान्त में ली हो, वह एकान्त में ही देना चाहिए। जैसे लेन वैसा देन। धरोहर और प्रेम से भोगार्थ दिए धन का फैसला ऐसा करना चाहिए, जिसमें धरोहर रखने वाले को कोई दुःख न पहुँचे ॥१९२-१९६॥

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः।
न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥ ॥१९७॥
अवहार्यो भवेत्चैव सान्वयः षट्शतं दमम् ।
निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ ॥१९८॥
अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा ।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥ ॥१९९॥

दूसरे की वस्तु जिसने बिना स्वामी की आज्ञा से बेची हो उस चोर व साहूकार को बिना गवाह चोर की भांति दण्ड देना चाहिए। दूसरे की वस्तु बेचनेवाला, यदि उस धन के मालिक के वंश में हो तो छः सौ पण दण्ड दे और सम्बन्धी या बेचने का अधिकार न रखता हो तो चोर के समान अपराधी समझ के दण्ड देने योग्य है। इस प्रकार बिनास्वामी की आज्ञा, बेचा या दिया हुआ कोई पदार्थ अवैध है। यही धर्मशास्त्र की मर्यादा है ॥१९७-१९९ ॥

संभोगो द्दश्यते यत्र न द्दश्येतागमः क्व चित् ।
आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥ ॥२००॥
विक्रयाद् यो धनं किं चिद् गृह्णीयात् कुलसंनिधौ ।
क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ ॥२०१॥
अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः।
अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥ ॥२०२॥
नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति ।
न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥ ॥२०३॥

जिसको कोई वस्तु भोगते देखे पर खरीदते न देखा हो तो दूसरे का खरीद का लेख आदि प्रमाण होगा। भोग प्रमाण न होगा। यह व्यवहार की मर्यादा हैं । जो बिकती वस्तु को खरीदे और पीछे कोई झगडा शुरू ही जाए तो खरीदार को निर्दोष समझना चाहिए और उसको वह वस्तु मिलनी चाहिए। माल का मालिक से होकर बेचनेवाले को यदि खरीदनेवाला साबित न कर सके पर बहुतों के सामने खरीदना साबित कर दे तो दण्ड योग्य नहीं है और उस खोई वस्तु को उसका स्वामी वापस ले सकता है। एक वस्तु दूसरी के रूप में मिलती हो तो उसको दूसरे के धोखे मे बेचना ठीक नहीं है।

और सड़ी, तौल में कम, बिना दिखलाये, अच्छी वस्तु के नीचे खराब ढककर बेचना अनुचित है ॥२००-२०३॥

अन्यां चेद् दर्शयित्वाऽन्या वोढुः कन्या प्रदीयते ।
उभे त एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन् मनुः ॥ ॥२०४॥
नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना ।
पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥ ॥२०५॥
ऋत्विग् यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत् ।
तस्य कर्मानुरूपेण देयोंशः सहकर्तृभिः ॥ ॥२०६॥
दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन् ।
कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत् ॥ ॥२०७॥

एक कन्या दिखाकर दूसरी किसी और का विवाह कर दे तो दोनों का एक ही मूल्य में विवाह कर लिया जाए मनु की आज्ञा हैं। पागल, कोढ़िन, किसी से भुक्त हो तो न बतलाने से कन्यादान वाला दण्ड योग्य होता है ।' यज्ञ में वरण किया हुआ ऋत्विक किसी कारण से अपना कर्म न पूरा कर सके तो दूसरों के साथ में उसको भी कर्मानुसार दक्षिणा देनी चाहिए। समस्त दक्षिणा दे दी गई हो और ऋत्विक रोगावश कर्म छोड़ दे तो दूसरे से पूरा करा लेना चाहिए। ॥२०४-२०७॥

यस्मिन् कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः।
स एव ता आददीत भजेरन् सर्व एव वा ॥ ॥२०८॥
रथं हरेत् चाध्वर्युर्ब्रह्माऽधाने च वाजिनम् ।
होता वाऽपि हरेदश्वमुद्गाता चाप्यनः क्रये ॥ ॥२०९॥
सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे ।
तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥ ॥२१०॥

संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः ।
अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ ॥२११॥

आधान आदि कर्मो के जिन अंगों की जो दक्षिणा हो उनको कर्म कराने वाले को अलग अलग लें अथवा बाँट लेना चाहिए। आधान में रथ अध्वर्यु, घोड़ी ब्रह्मा या होता को लेना चाहिए और सोम खरीदकर गाड़ी में आया हो तो गाड़ी उद्गाता को लेनी चाहिए। यज्ञ के सोलह ऋत्विजों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ये चार मुख्य ऋत्विक पूर्ण दक्षिणा में आधी के अधिकारी हैं – उनको ४८ गौ देवै । दूसरे मैत्रावरुण आदि चार को उसका आधा-२४ गौ, तीसरे अच्छा वाक् आदि चार को तृतीयांश-१६ गौ और चौथे ग्रांवस्तुत आदि को चतुथांश -१२ देना चाहिए। इस प्रकार सोलह ऋत्विक मिलकर कर्म करें तो अपना अपना भाग बाँट लें ॥ २०८-२११ ॥

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात् कस्मै चिद् याचते धनम् ।
पश्चाच्च न तथा तत् स्यान्न देयं तस्य तद् भवेत् ॥ ॥२१२॥
यदि संसाधयेत् तत् तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः ।
राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात् तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥ ॥२१३॥
दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ ॥२१४॥

किस याचक को धर्मार्थ किसी ने कुछ देना को कहा हो पर वह कर्म न करे तो उसको प्रतिज्ञात धन नहीं देना चाहिए। जो याचक गर्व अथवा लोभ से उस धन का दावा करें तो राजा, चोर मान कर एक सुवर्ण उस पर जुर्माना करें। इस प्रकार दिये धन को लौटाने का निर्णय धर्मानुसार किया है। अब नौकर को वेतन न देने का निर्णय कहा जायगा ॥ २१२-२१४ ॥

नौकर का वेतन

भृतो नार्तो न कुर्याद् यो दर्पात् कर्म यथोदितम् ।
स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥ ॥२१५॥

जो नौकर बिना बीमारी के घमंड से सम्मति के अनुसार काम न करे तो उसपर आठ कृष्णल जुर्माना करना चाहिए और वेतन नहीं देना चाहिए ॥ २१५॥

आर्तस्तु कुर्यात् स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः ।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतेव वेतनम् ॥ ॥ २१६॥
यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत् कर्म न कारयेत् ।
न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥ ॥२१७॥
एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥ ॥२१८॥

परन्तु जो बीमार हो और नीरोग होकर सम्मति के अनुसार काम करे तो यदि वह अधिक दिन बीमार रहा हो तब भी उसको वेतन देना चाहिए। स्वयं रोगी हो अथवा नीरोग यदि वह सम्मति दिए हुए कार्य को न करे अथवा दुसरे से न करवा दे तो उसको वेतन नहीं देना चाहिए। यह धर्मानुसार वेतन न देने का निर्णय कहा है। अब प्रतिज्ञाभङ्ग करनेवालों का निर्णय किया जायगा ॥२१५- २१८॥

प्रतिज्ञा भंग

यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।
विसंवदेन्नरो लोभात् तं राष्ट्राद् विप्रवासयेत् ॥ ॥२१९॥

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम् ।
चतुःसुवर्णान् षण्निष्कांश्शतमानं च राजकम् ॥ ॥२२०॥
एतद् दण्डविधिं कुर्याद् धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥ ॥२२१॥

जो मनुष्य गाँव अथवा देश के लोगों से किसी काम के लिए सत्य प्रतिज्ञा करके लोभ से उसको छोड़ दे तो राजा उसको राज्य से निकाला दे देना चाहिए और उस नियम भंग करनेवाले को पकड़कर चार निष्क अथवा छः स्वर्ण या एक चांदी का शतमान दण्ड करना चाहिए। धार्मिक राजा गाँव या जातिमण्डल में प्रतिज्ञा भंग करनेवाले को भी इसी प्रकार दण्ड करना चाहिए। ॥२१९-२२१ ॥

क्रीत्वा विक्रीय वा किं चिद् यस्यैहानुशयो भवेत् ।
सोऽन्तर्दशाहात् तद् द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा ॥ ॥२२२॥
परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् ।
आददानो ददत् चैव राज्ञा दण्ड्यौ शतानि षट् ॥ ॥२२३॥

किसी वस्तु को खरीद अथवा बेचकर जिसे पसंद न ही वह दस दिन के भीतर ही उसको वापस कर देना चाहिए अथवा वापस ले लेना चाहिए। परन्तु दस दिन के बाद न तो वापस करना चाहिए और न ही किसी और से करवाना चाहिए क्योंकि समय भंग करने से ६०० पण दण्ड योग्य होता है ॥२२२-२२३||

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ।
तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् ॥ ॥२२४॥
अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद् द्वेषेण मानवः ।

स शतं प्राप्नुयाद् दण्डं तस्या दोषमदर्शयन् ॥ ॥२२५॥
पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ।
नाकन्यासु क्व चिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥ ॥२२६॥
पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् ।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥ ॥२२७॥
यस्मिन् यस्मिन् कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् ।
तमनेन विधानेन धर्म्ये पथि निवेशयेत् ॥ ॥२२८॥

जो पुरुष दोषवाली कन्या के दोष बताये बिना उसका विवाह कर दे उसपर राजा को ९६ पण दण्ड करना चाहिए। किसी कोई मनुष्य ईर्षा से कन्या में दोष लगाये पर उसको सिद्ध नहीं कर पाए तो उस पर एक सौ १०० पण दण्ड करना चाहिए। विवाहसम्वन्धी वैदिक मन्त्र कन्याओं के लिए ही कहे हैं। जो कन्या नहीं हैं उनके लिए इन वैदिक मन्त्रों का उच्चारण नहीं करना चाहिए क्योंकि उनके कन्यापन तो समाप्त हो जाता है। विवाह के मन्त्र कन्या में स्त्रीत्व लाते हैं और उन मन्त्र की समाप्ति सप्तपदी हो जाने पर होती है- ऐसा धर्मशास्त्रियों का निर्णय है। इस जगत् में जिस जिस काम के करने पर बाद में पछतावा हो उसका निर्णय आगे कही रीति से राजा को करना चाहिए ॥२२४-२२८

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे ।
विवादं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद् धर्मतत्त्वतः ॥ ॥२२९॥
दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे ।
योगक्षेमेऽन्यथा चेत् तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥ ॥ २३०॥
गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद् दशतो वराम् ।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात् पालेऽभृते भृतिः ॥ ॥२३१॥

पशु के मालिक और चरवाहे में प्रतिज्ञाभंग होने पर इस प्रकार निर्णय करे-पशुओं की रक्षा का भार दिन में चरवाहे और रात में उनके स्वामी पर है और चारे की कमी होने पर चरवाहा उत्तरदायी होता है। जो चरवाहा दूध मात्र का वेतन पाता हो वह स्वामी की आज्ञा से दस गौओं में जो उत्तम हो उसको दुह कर ले जा सकता है। यह बिना वेतन के चरवाहे का वेतन है ॥ २२६२३१ ।।

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम् ।
हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात् पाल एव तु ॥ ॥२३२॥
विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति ।
यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥ ॥२३३॥
कर्णौ चर्म च वालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम् ।
पशुषु स्वामिनां दद्यान् मृतेष्वङ्गानि दर्शयेत् ॥ ॥२३४॥
अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति ।
यां प्रसह्य वृको हन्यात् पाले तत् किल्बिषं भवेत् ॥ ॥२३५॥
तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने।
यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी ॥ ॥२३६॥

जो पशु खो जाय, कीड़े पड़कर मर जाए, कुत्तों से मारा जाए , गड्ढे में गिरकर मर जाए, चरवाहे की असावधानी से उसे चोर ले जायँ तो उसको चरवाहे को मालिक को दे देना चाहिए। जो चोर हमला करके कोई पशु ले जायें और चरवाहा उसका ठीक ठीक वृतांत समय पर उसके स्वामी को बता दे तो चरवाहा दण्ड का भागी नहीं होगा। यदि पशु स्वयं मर जाय तो चरवाहे को उसके कान, चमड़ा, बाल, वस्ति, स्नायु और रोचना इत्यादि कोई अङ्ग स्वामी को दे देना चाहिए। बकरी और भेड़ को भेड़िया घेर ले और चरवाहा उनको

छोड़कर भाग जाए तो भेड़िया जिसको मारेगा उसका पातक चरवाहे को लगेगा और यदि बकरी, भेड़ को चरवाके ने घेर रक्खा हो और अचानक भेड़िया आकर मार डाले तो उसका पातकी चरवाहा नहीं होगा ॥ २३२-२३६ ॥

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात् समन्ततः ।
शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥ ॥२३७॥
तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि ।
न तत्र प्रणयेद् दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ ॥२३८॥

गाँव के चारों तरफ़ चार सौ हाथ था तीन लकड़ी फेंकने पर जितनी दूर गिरे वहां तक और नगर के आसपास उसकी तिगुनी भूमि पशुओं के लिए छोड़ना रखना उचित है, इस भूमि को 'परिहार' कहते हैं । उस भूमि में बाड़ न होने से उसमे उगा अन्न यदि कोई पशु खा ले तो राजा को चरवाहे को दण्ड नहीं देना चाहिए ॥ २३७-२३८ ॥

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् ।
छिद्रं च वारयेत् सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ ॥२३९॥
पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथ वा पुनः।
सपालः शतदण्डार्हो विपालान् वारयेत् पशून् ॥ ॥२४०॥
क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति ।
सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्यैति धारणा ॥ ॥२४१॥
अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान् देवपशूंस्तथा ।
सपालान् वा विपालान् वा न दण्ड्यान् मनुरब्रवीत् ॥ ॥२४२॥
क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागाद् दशगुणो भवेत् ।
ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात् क्षेत्रिकस्य तु ॥ ॥२४३॥

एतद् विधानमातिष्ठेद् धार्मिकः पृथिवीपतिः । स्वा
मिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे ॥ ॥२४४॥

उस भूमि के बचाने के लिए इतनी ऊंची बाड़ करनी चाहिए जिसमें ऊंट न देख सकें और छोटे छेदों को बंद कर दें जिसमें सुंअर, कुत्ता इत्यादि अपना मुंह अन्दर न घुसा सकें। गाँव के या रास्ते के पास बाड़ से घिरे खेतों का अन्न यदि पशु खाले तो चरवाहे पर सौ पण दंड करना चाहिए और बिना चरवाहे के पशुओं को हाँक देना चाहिए। दूसरे के खेतों में यदि पशु हानि करे तो चरवाहे पर सवा पण दण्ड करना चाहिए और खेत के स्वामी की जितनी हानि हुई हो उतनी खेत के मालिक को हर हालत में देना ही चाहिए। दस दिन के भीतर की ब्याई गौ, सांड़ और देवार्पण करके छोड़े हुए पशु यदि खेत खाले चाहे चरवाहा साथ हो अथवा न या न हो, दण्ड नहीं हो सकता-यह मनु जी की आज्ञा हैं। यदि खेतवाले ही के पशु खेत चर जाएँ तो राजा हानि से दस गुना दण्ड करे और यदि यह हलवालों की भूल से हुआ हो तो इसका आधा दण्ड करना चाहिए। इस प्रकार पशुओं के स्वामी, पशु और चरवाहे के अपराध होने पर धार्मिक राजा न्याय करे ॥२३९-२४४ ॥

सीमा-सरहद का निर्णय

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।
ज्येष्ठे मासि नयेत् सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥ ॥२४५॥
सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान् ।
शाल्मलीन् सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥ ॥२४६॥

यदि दो गाँव की सीमा का झगड़ा उठे तो जेठ मास में, जब समस्त जमीन साफ़ हो जाए तब उसका निश्चय करना चाहिए। सीमा जानने के लिए बड़, पीपल, ढाक, सॅमर, साल, ताल और अन्य दूधवाले कोई वृक्ष स्थापित करे ॥२४५-२४६॥

गुल्मान् वेणूंश्च विविधान् शमीवल्लीस्थलानि च ।
शरान् कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥ ॥२४७॥
तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च ।
सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ ॥२४८॥
उपछन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् ।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥ ॥२४९॥
अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान् भस्म कपालिकाः ।
करीषमिष्टकाऽङ्गारां शर्करा वालुकास्तथा ॥ ॥२५०॥
यानि चैवंप्रकाराणि कालाद् भूमिर्न भक्षयेत् ।
तानि संधिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥ ॥२५१॥
एतैर्लिङ्गैर्नयेत् सीमां राजा विवदमानयोः ।
पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ ॥२५२॥

गुल्म, बांस, शमी, लता, रामशर, कुञ्जक की वेल इत्यादि स्थापित करनी चाहिए जिससे सीमा नष्ट न हो पाए। तालाव, कुआं, बावडी, झरना, देव मन्दिर सीमा के मेल पर बनवाने चाहिए । सीमा निर्णय के लिए इस लोक मे मनुष्यों के भ्रम को देख कर उसको जानने के लिए छिपा चिह्न भी स्थापित करना चाहिए। पत्थर, हड्डी, गौ के बाल, भूसी, राख, ठीकरा, सूखा गोबर, ईंट, कोयला, रोड़ा, रेत आदि वस्तु को जो बहुत दिनों तक जमीन में छिपाने योग्य हो उनको सीमा के नीचे गुप्त रूप से रख देना चाहिए। राजा को इन चिह्नों से तत्थ पूर्व

भोग से, नदी आदि जल मार्ग से, सीमा का निर्णय करना चाहिए ॥ २४७-२५२ ॥

यदि संशय एव स्यात्लिङ्गानामपि दर्शने ।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात् सीमावादविनिर्णयः ॥ ॥२५३॥
ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः । प्र
ष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥ ॥२५४॥

चिह्नों के देखने पर भी अगर कोई संदेह हो तो साक्षी गवाह के विश्वास पर निर्णय करना चाहिए। वादी, प्रतिवादी, गाँव के कुलीन पंचों के सामने सीमा के चिन्ह पूछने चाहिए और उसी के अनुसार फैसला करना चाहिए ॥२५३-२५४॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् ।
निबध्नीयात् तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः ॥ ॥२५५॥
शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः ।
सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ॥ ॥२५६॥
यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः ।
विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥ ॥२५७॥
साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः ।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसंनिधौ ॥ ॥२५८॥
सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम् ।
इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान् वनगोचरान् ॥ ॥२५९॥
व्याधांशाकुनिकान् गोपान् कैवर्तान् मूलखानकान् ।
व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः ॥ ॥२६०॥
ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासंधिषु लक्षणम् ।
तत् तथा स्थापयेद् राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ ॥२६१॥

यह लोग पूछने पर जैसा कहें उसकेअनुसार सीमा का निर्णय करके उन पञ्चों और साक्षियों का नां लिख लेना चाहिए। उन साक्षियों को लाल फूलों की माला, लाल वस्त्र पहनकर सिर पर मिट्टी का ढेला रखकर अपने अपने पुण्य की शपथ खाकर उचित बात कहनी चाहिए । वह सत्य साक्षी यथार्थ निर्णय करने के कारण निष्पाप होते हैं और असत्य निर्णय करें तो उन पर दो सौ पण दण्ड करना चाहिए। यदि साक्षियों का अभाव हो तो आसपास के चार ज़मींदारों को धर्म से राजा के सामने सीमा का निर्णय करना चाहिए। यदि जमींदार और गांव के पुराने वासी सीमा के साक्षी न मिले तो वन में रहनेवाले मनुष्यों से पूछ लेना चाहिए। व्याध, चिड़ीमार, ग्वाल, मछुए, जड़ खोदनेवाले, कना बीनकर जीनेवाले आदि मनुष्यों से सच बाते निश्चित करनी चाहिए। वह लोग जिस प्रकार कहें उसी प्रकार राजा को दो गावों के बीच सीमा की स्थापना करनी चाहिए ॥२५५-२६१॥

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ।
सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ ॥२६२॥

खेत, कुआं, तालाब, बगीचा और घरों की सीमा का निर्णय आसपास के गवाहों से करना चाहिए ॥२६२॥

सामन्ताश्चेत्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवादतां नृणाम् ।
सर्वे पृथक् पृथग् दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ ॥२६३॥
गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद् द्विशतो दमः ॥ ॥२६४॥
सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् ।

प्रदिशेद् भूमिमेकेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ ॥२६५॥
एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥ ॥२६६॥

यदि सीमा के झगड़े में पास के सामन्त झूठ बोलें तो हर एक को पांच पांच सौ पण दण्ड करना चाहिए। घर, तालाब , बगीचा या खेत को डर दिखा कर कोई छीनले तो पांच सौ पण उस पर दण्ड़ करे और अज्ञानता में कब्ज़ा ले तो दो सौ पण दण्ड करना चाहिए। सीमा के निर्णय का कोई भी उचित सबूत न मिले तो धर्मज्ञ राजा को स्वयं सीमा का निर्णय कर देना चाहिए, यही मर्यादा है इस प्रकार समस्त सीमा निर्णय का विपय कहा गया है, अब कठोर वचन का निर्णय कहा जायगा ॥ २६३-२६६।

कठोर वचन-गाली आदि का निर्णय

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ ॥२६७॥
पञ्चाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने ।
वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशत्शूद्रे द्वादशको दमः ॥ ॥२६८॥
समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ ॥२६९॥
एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥ ॥२७०॥

ब्राह्मण को क्षत्रिय गाली दे तो सौ पण दण्ड करना चाहिए। वैश्यं को डेढ़ सौ या दो सौ पण दण्ड करना चाहिए। शूद्र को तो पीटना ही उचित है। क्षत्रिय को ब्राह्मण गाली दे तो पचास पण करना चाहिए।

वैश्य को दे तो पच्चीस और शूद्र को गाली दे तो बारह पण दण्ड करना चाहिए। द्विजाति अपने समान वर्ण को गाली दे तो बारह पण और गंदी गाली दे तो इसका दुगना दण्ड करना चाहिए। कोई शूद्र, द्विजाति का कठोर वाणी से अपमान करे तो उसकी जीभ काट लेनी चाहिए क्योंकि शुद्र निकृष्ट से पैदा हुआ है। ॥२६७-२७१॥

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।
निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः ॥ ॥२७१॥
धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः ।
तप्तमासेचयेत् तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ ॥२७२॥
श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शरीरमेव च ।
वितथेन ब्रुवन् दर्पाद् दाप्यः स्याद् द्विशतं दमम् ॥ ॥२७३॥
काणं वाऽप्यथ वा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम् ।
तथ्येनापि ब्रुवन् दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥ ॥२७४॥
मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् ।
आक्षारयंशतं दाप्यः पन्थानं चाददद् गुरोः ॥ ॥२७५॥
ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता ।
ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥ ॥२७६॥
विट् शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः ।
छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्यैति विनिश्चयः ॥ ॥२७७॥
एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥ ॥२७८॥

यदि नाम और जाति को बोलकर द्वेष से शूद्र द्विजातियों को गाली दे तो उस शूद्र के मुख में अग्नि में तपाई दस अंगुल की कील डालनी चाहिए। शुद्र, अभिमान से द्विजों को धर्मोपदेश करे तो राजा को उसके मुख और कान में खौलता तेल डलवा देना चाहिए। यदि

अभिमान से कहे कि तू वेद नहीं पढ़ा है, अमुक देश का नहीं है, तेरी यह जाति नहीं है, तेरे संस्कार नहीं हुए हैं तो राजा को उसप्र दो सौ पण दण्ड करना चाहिए। काना, लूला अंधा आदि कोई अन्य भी इसी प्रकार अंगहीन हो, उसको सच मे भी उसी दोष से पुकारने वाले पर एक कार्षण दण्ड करना चाहिए। माता, पिता, स्त्री, भाई, पुत्र, गुरु को गाली देनेवाला और गुरु को मार्ग न छोड़नेवाला सौ पण दण्ड पाने योग्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आपस में गाली दें तो राजा ब्राह्मण पर २५० और क्षत्रिय पर ५०० पण दण्ड करें। वैश्य शूद्र आपस में गाली दें तो वैश्य को साधारण दण्ड और शुद्र की जीभ न काटकर कोई अन्य दूसरा दण्ड देना चाहिए। इस प्रकार कठोर वचन का दण्ड निर्णय कहा गया है, अब मारपीट का दण्डनिर्णय कहा जायगा। ॥ २७१-२७८ ॥

दण्डपारुष्य-मार पीट का निर्णय

येन केन चिदङ्गेन हिंस्याच्चेत्श्रेष्ठमन्त्यजः ।
छेत्तव्यं तद् तदेवास्य तन् मनोरनुशासनम् ॥ ॥२७९॥
पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति ।
पादेन प्रहरन् कोपात् पादच्छेदनमर्हति ॥ ॥२८०॥
सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वाऽस्यावकर्तयेत् ॥ ॥२८१॥
अवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः ।
अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥ ॥२८२॥
केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन् ।
पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥ ॥२८३॥

अन्त्यज, द्विज को अपने जिस अङ्ग से मारे उसी अङ्गः को कटवा डालना चाहिए यही मनुजी का अनुशासन है। हाथ अथवा डंडा उठाकर मारे तो हाथ और क्रोध में पैर सै मारे तो पैर काटने योग्य है । नीच जाति का मनुष्य ऊँची जातिवाले के साथ अभिमान से बैठना चाहे तो उसकी कमर को दागकर देश से निकाल देना चाहिए। हीन वर्ण ऊंचे वर्ण के ऊपर थूके तो दोनों ओठ कटवा देने चाहिए। यदि मूते तो लिङ्ग और पादे तो गुदा कटवा देना चाहिए। बाल पकड़े, पैर पकड़े, घसीटे, दाढ़ी, गर्दन और अण्डकोष में हाथ लगावे तो बिना विचार हाथ कटवा देना चाहिए ॥ २७९-२८३॥

त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः ।
मांसभेत्ता तु षट् निष्कान् प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥ ॥२८४॥
वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगो यथा यथा ।
यथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥ ॥२८५॥
मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति ।
यथा यथा महद् दुःखं दण्डं कुर्यात् तथा तथा ॥ ॥२८६॥

'खाल खींचने और खून निकालने पर सौ पण दण्ड करना चाहिए।। मांस काटे तो छः निष्क और हड्डी तोड़े तो देश निकाले की सज़ा देनी चाहिए। संपूर्ण वृक्षों का उपयोग विचार कर उनके काटनेवाले को दण्ड देना चाहिए। मनुष्य और पशुओं को मारने पर जैसा अधिक दुःख हो उसके अनुसार अपराधी को दण्ड भी दुःखदायी करना चाहिये ॥ २८४-२८६ ॥

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा ।
समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥ ॥२८७॥
द्रव्याणि हिंस्याद् यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।

स तस्योत्पादयेत् तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥ ॥२८८॥
चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्टमयेषु ।
मूल्यात् पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥ ॥२८९॥
यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च ।
दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ ॥२९०॥
छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते ।
अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ ॥२९१॥
छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च ।
आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥ ॥२९२॥

हाथ, पैर आदि अङ्ग तोड़नेअथवा घायल करनेवाले से उसके स्वस्थ होने के लिए खर्च दिलवाना चाहिए अथवा पूर्ण दण्ड देना चाहिए। जो जिस वस्तु का जानकर अथवा न जानकर नुक्सान करे तो उसको दाम वगैरह देकर खुश करना चाहिए और राजा को उतना ही दण्ड देना चाहिए। चमड़ा, चाम के पात्र-मशक आदि, काठ और मिट्टी के पात्र, फूल, मूल और फलों की हानि करने पर मूल्य से पाँच गुना दण्ड करना चाहिए। सवारी सारथि और सवारी के मालिक को दस हालत में छोड़कर बाक़ी में दण्ड दिया जाता है। नाथ टूटने, जुवा टूटने, नीचे ऊँचे के कारण, टेढे वा अड़कर चलने, रथ का धुरा टूटने, पहिया टूटने, रस्सी टूटने, गले की रस्सी टूटने, लगाम टूटने और 'हटो-बचो 'आदि कहने पर भी यदि किसी की हानि हो जाए तो मनुजी ने दण्ड नहीं कहा है॥ २८७-२९२॥

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात् प्राजकस्य तु । तत्र
स्वामी भवेद् दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ ॥२९३॥
प्राजकश्चेद् भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति ।
युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥ ॥२९४॥

जहां सारथि के कुशल न होने से रथ इधर उधर चलता है उससे हानि होने पर स्वामी को दो सौ पण दण्ड करना चाहिए। और सारथि चतुर-होशियार हो तो उस पर दो सौ पण दण्ड करना चाहिए। सारथि कुशल न होने पर, यह जानते हुए भी जो सवारी करते हैं, वह सभी सौ सौ पण दण्ड करने योग्य हैं ॥ २९३-२९४ ॥

स चेत् तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा ।
प्रमापयेत् प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ ॥२९५॥
मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत् किल्बिषं भवेत् ।
प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ ॥२९६॥
क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः ।
पञ्चाशत् तु भवेद् दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ ॥२९७॥
गर्धभाजाविकानां तु दण्डः स्यात् पञ्चमाषिकः ।
माषिकस्तु भवेद् दण्डः श्वसूकरनिपातने ॥ ॥२९८॥
भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्रात्रा च सौदरः । प्रा
प्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥ ॥२९९॥
पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथं चन ।
अतोऽन्यथा तु प्रहरन् प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ ॥३००॥
एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः ।
स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये ॥ ॥३०१॥

मार्ग में पशु या दूसरी गाड़ी से रुकने पर भी सारथी हांकता चला जाए और किसके चोट लग जाये तो राजा तुरंत नीचे लिखा दण्ड करेः-

मनुष्य को प्राणघात हुआ हो तो चोर की तरह दण्ड करना चाहिए। गौ, हाथी, ऊंट, घोड़ा आदि बड़े पशुओं का घात होने पर पांच सौ पण दण्ड करना चाहिए। छोटे छोटे पशुओं की हिंसा होने पर दो सौ पण और मृग, मोर वगैरह सुन्दर पक्षी मर जायँ तो पचास पण करना चाहिए। गधा, बकरी और भेड़ मरे तो पाँच माषक दण्ड करना चाहिए। कुत्ता, सुअर मरे तो एक माषक दण्ड करना चाहिए। स्त्री, पुत्र, दास, शिष्य और छोटा भाई अपराध करें तो रस्सी या बाँस की छड़ी से पीटने योग्य हैं , परन्तु इनके पीठ में मारे, सिर इत्यादि में कभी नहीं मारना चाहिए, अन्यथा करने पर चोर के समान दण्ड योग्य होता है। इस प्रकार मार पीट का पूरा निर्णय कहा, अब चोर के दण्ड का निर्णय कहेंगे ॥ २९५-३०१ ॥

चोर-दण्ड निर्णय

परमं यत्नमातिष्ठेत् स्तेनानां निग्रहे नृपः ।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥ ॥३०२॥

राजा चोरों को दण्ड देने में सदा पूरा यत्न करना चाहिए क्योंकि चोरों के निग्रह से राजा का यश और राज्य वृद्धि प्राप्त करता है ॥३०२॥

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः ।
सत्त्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ ॥३०३॥
सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः ।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ ॥३०४॥
यदधीते यद् यजते यद् ददाति यदर्चति ।
तस्य षड्भागभाग् राजा सम्यग् भवति रक्षणात् ॥ ॥३०५॥
रक्षन् धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् ।

यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ॥३०६॥
योऽरक्षन् बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ॥३०७॥
अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ॥३०८॥

जो राजा चोरो से अभय देने वाला है, वह सदा-पूज्य है । उस अभय-दक्षिणा देनेवाले राजा का राज्य खूब बढ़ता है । जो रक्षा करता है उस राजा को सबके धर्म से छठा भाग प्राप्त होता है और जो रक्षा नहीं करता उसको सबके अधर्म में से छठा भाग प्राप्त होता है। जो रक्षाशील हैं, वह प्रजा में देव पढ़ने-पढ़ाने वाले, यज्ञ करने वाले, दान देने वाले, पूजा पाठ करने वाले, सभी के छठे भाग का फल प्राप्त करता है । प्रतिदिन प्राणियों की धर्म से रक्षा और दुष्टों को दण्ड देने से मानो राजा लाख रुपयों की दक्षिणा का यज्ञकर रहा है और जो राजा रक्षा न करते हुए भी,भेंट, कर इत्यादि लेता हैं वह शीघ्र ही नरक गामी होता है। इस प्रकार का राज्ञा अन्न का छठा भाग लेता है वह सभी सब लोगों का 'पाप लेने वाला' कहलाता है ॥ ३०३ -३०८॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुंपकम् ।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ॥३०९॥
अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात् प्रयत्नतः ।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ ॥३१०॥

धर्ममर्यादा से रहित, नास्तिक, प्रजा का धन ठगनेवाला और प्रजा की रक्षा नहीं करने वाला राजा नरकगामी होता हैं। अधर्मी को तीन

उपायों से सदा वश में रखना चाहिए -नज़रबंद, कैद और बेंत आदि से मारकर॥ ३०६-३१०॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां सङ्ग्रहेण च ।
द्विजातय इवैज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ॥३११॥
क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम् ।
बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ॥३१२॥
यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते ।
यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ ॥३१३॥
राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता ।
आचक्षाणेन तत् स्तेयमेवङ्कर्माऽस्मि शाधि माम् ॥ ॥३१४॥
स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वाऽपि खादिरम् ।
शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥ ॥३१५॥
शासनाद् वा विमोक्षाद् वा स्तेनः स्तेयाद् विमुच्यते ।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ॥३१६॥

पापियों के निग्रह और साधु पुरुषों का संग्रह करने से राजा पवित्र होता है, जैसे यज्ञ करने से ब्राह्मण पवित्र होता है। कोई वादी-प्रतिवादी और बालक, वृद्ध और पीडित मनुष्य अपने दुःख से दुखी होकर कोई कुवचन कह दें तो राजा को उनको क्षमा कर देना चाहिए। जो आक्षेप वचनों को सहन कर लेता है वह राजा स्वर्ग गामी होता है और जो ऐश्वर्य के मद से नहीं सहता, वह नरकगामी होता है। चोर सिर के बाल खोले दौड़कर राजा के पास अपने अपराध को निवेदन करे अथवा खैर की लकड़ी का मूसल या लट्ठ अथवा जिसमें दोनों तरफ़ धार हो ऐसी बरछी या लोहे का दण्ड कंधे पर रखकर दण्ड के लिए प्रार्थना करे तो राजा के दण्ड देने अथवा छोड़

देने पर से चोर को चोरी का पाप नहीं लगता। परन्तु उसको दण्ड न करने से उसका पाप राजा को लगता है ॥३११-३१६॥

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्याऽपचारिणी ।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम् ॥ ॥३१७॥
राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ॥३१८॥

भ्रूणहत्या करने वाले का पाप उसके अन्न खानेवाले को, व्यभिचारिणी स्त्री का पाप उसके पति को, शिष्य का पाप गुरु को और यश करने वाले का कराने वाले को क्षमा करने से लगता है। वैसे ही चोर का पाप छोड़ने से वह पाप राजा को लगता है । पाप करके भी राजदण्ड पाये हुए मनुष्य स्वर्ग को जाते हैं जैसे पुण्य करने पर साधु पुरुष जाते हैं ॥ ३१७-३१८॥

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्ध हरेद् भिन्द्याच्च यः प्रपाम् ।
स दण्डं प्राप्नुयान् माषं तच्च तस्मिन् समाहरेत् ॥ ॥३१९॥
धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः ।
शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद् धनम् ॥ ॥३२०॥
तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः ।
सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ॥३२१॥
पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते ।
शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद् दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ॥३२२॥
पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः ।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति ॥ ॥३२३॥

जो पुरुष कुँए पर से रस्सी और घड़ा चुराये अथवा जो गोशाला को तोड़े उस पर एक माष का दण्ड करना चाहिए और उसे चुराई गई वास्तु वापस वहीं लाकर रख देने का आदेश देना चाहिए। बीस द्रोण का एक कुम्भ-ऐसे दस कुम्भ अन्न चुराने वाले को पीट-पीट कर मृत्युदण्ड देना चाहिए और इससे कम हो तो ग्यारह गुना जुर्माना करने के पश्च्यात चोरी का माल उसके स्वामी को वापस दिलवाना चाहिए। इसी प्रकार ही तराजू से तौलने लायक सोना, चांदी या वस्त्रादि चुराने पर यदि पदार्थ सौ (१००) पल से अधिक हो तो चोर को मृत्यु दंड दे देना चाहिए। और पचास पल से अधिक हो तो चोर के हाथ कटवा देने चाहिए। इससे कम हो तो माल से ग्यारह गुना जुर्माना करना चाहिए। किसी कुलीन पुरुष या स्त्री के बहुमूल्य जेवर, या जवाहरात चुराने वाला वध अथवा देह दण्ड के योग्य है। ॥ ३१६-३२३॥

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥ ॥३२४॥
गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छुरिकायाश्च भेदने ।
पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः ॥ ॥३२५॥
सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च ।
दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च ॥ ॥३२६॥

बड़े पशु, शस्त्र और औषध चुराने पर समय और अपराध के अनुसार राजा को उचित दण्ड देना चाहिए। ब्राह्मण की गौओं की चोरी या छुरी से मारने पर तुरन्त आधा पैर कटवा देना चाहिए। सूत, कपास, मदिरा की गाद, गोबर, गुड़, दही, दूध, मट्ठा, जल और तृण चुराने पर मूल्य से दुगना दण्ड करना चाहिए। ३२४-३२६॥

वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च ।
मृण्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च ॥ ॥३२७॥
मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च ।
मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत् पशुसंभवम् ॥ ॥३२८॥
अन्येषां चैवमादीनां मद्यानामोदनस्य च ।
पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मुल्याद् द्विगुणो दमः ॥ ॥३२९॥
पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च ।
अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात् पञ्चकृष्णलः ॥ ॥३३०॥
परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च ।
निरन्वये शतं दण्डः सान्वयेऽर्धशतं दमः ॥ ॥३३१॥
स्यात् साहसं त्वन्वयवत् प्रसभं कर्म यत् कृतम् ।
निरन्वयं भवेत् स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत् ॥ ॥३३२॥
यस्त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः ।
तमाद्यं दण्डयेद् राजा यश्चाग्निं चोरयेद् गृहात् ॥ ॥३३३॥
येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।
तत् तदेव हरेत् तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ॥३३४॥

इसी प्रकार बांस के पात्र, नमक, मट्टी के पात्र, मिटटी, राख, मछली, चिडिया, तेल, घी, मांस, मधु, पशुओं के सींग आदि और ऐसे ही दूसरे पदार्थ, मदिरा, भात और सभी प्रकार के पके अन्न चुराने पर इनके मूल्य से दुगना दाम दण्ड करना चाहिए । गुल्म, लता, वृक्ष और धान वगैरह चुराने पर, पाच' कृष्णल' दण्ड करना चाहिए। पवित्र, शोधित धान्य, शाक, मूल और फलों का चोर यदि कुटुम्बी न हो तो सौ पण दण्ड करना चाहिए और सम्बन्धी हो तो पचास पण दण्ड करना चाहिए। जो पदार्थ जबरदस्ती स्वामी के सामने छीना हो वह साहस-लूट कहलाता है और जो पदार्थ स्वामी के पीछे लिया हो और स्वीकार न किया जाए तो वह चोरी है। ऊपर कहे पदार्थों

को जो चुराए और जो घर से आग चुराए उन पर प्रथम साहस (२५० पण) का दण्ड , राजा को करना चाहिए। चोर जिस जिस अंग से चोरी अथवा मार काट इत्यादि करें उसका वही अंग शिक्षा देने के लिए राजा को कटवा देना चाहिए ॥ ३२७-३३४॥

पिताऽचार्यः सुहृत्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥ ॥३३५॥
कार्षापणं भवेद् दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद् दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ ॥३३६॥
अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् ।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च ॥ ॥३३७॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत् ।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्ध हि सः ॥ ॥३३८॥

पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित भी यदि अपने धर्म से न चले तो राजा के लिए अदंड्य नहीं है अर्थात राजा इनको भी दण्ड दे सकता है। साधारण मनुष्य को जिस अपराध के लिए एक पण दण्ड करना चाहिए, उस अपराध में राजा को अपने लिए हज़ार पण दण्ड करना चाहिए, यह मर्यादा है। चोरी करने में शुद्र को दोगुना, वैश्य को सोलह गुना और क्षत्रिय को बीस गुना पाप लगता है। ब्राह्मण को चौंसठ गुना अथवा पूरा सौ गुना पाप लगता है अथवा एक सौ अट्ठाईस इस गुना पाप लगता है, क्योंकि ब्राह्मण चोरी के दोष गुण को जानता है। ॥३३५-३३८॥

वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च ।
तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥ ॥३३९॥

योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।
याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥ ॥३४०॥
द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके ।
आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥ ॥३४१॥
असंदितानां संदाता संदितानां च मोक्षकः ।
दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चोरकिल्बिषम् ॥ ॥३४२॥

बिना बाडे के खेतों से फल, फूल, अग्निहोत्र के लिए काष्ठ, गौओं के लिए घास लेना चोरी नहीं है ऐसा मनुजी कहते हैं। जो ब्राह्मण परधन हरण करनेवाले को यज्ञ कराकर या शास्त्र पढ़ाकर उससे धन लेना चाहता है, वह ब्राह्मण भी चोर के समान ही है। जीविकाहीन द्विज मार्ग में जाता हुआ किसी के खेत से दो गन्ने या दो मूली ले ले तो दण्ड योग्य नहीं है। दूसरे के खुले पशुओं को बांधनेवाला और बँधों को खोलनेवाला, दास, घोड़ा, और रथ को हरने वाला चोरी का अपराधी होती है ॥३३९-३४२॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम् ।
यशोऽस्मिन् प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ॥३४३॥
ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ॥३४४॥
वाग्दुष्टात् तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः ।
साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ॥३४५॥
साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः ।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ॥३४६॥
न मित्रकारणाद् राजा विपुलाद् वा धनागमात् ।
समुत्सृजेत् साहसिकान् सर्वभूतभयावहान् ॥ ॥३४७॥

इस प्रकार उक्त विधि से चोरों का निग्रह करने से राजा इस लोक में सुयश और अन्त में अक्षय सुख प्राप्त करता है। इन्द्रासन और 'सुयश चाहनेवाला राजा को लुटेरे मनुष्यों के निग्रह में क्षण मात्र भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। कुवाच्य कहनेवाले, चोर और मार-पीट करने वालों की अपेक्षा लुटेरों को अधिक अपराधी जानना चाहिए। जो राजा लुटेरों को क्षमा करता है वह शीघ्र ही नष्ट होकर प्रजा का दुश्मन हो जाता है। राजा को किसी मित्र के कहने से अथवा धन मिलने की आशा से भयदायी लुटेरों को कभी नहीं छोड़ना चाहिए ॥ ३४३-३४७॥

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥ ॥३४८॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे ।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दुष्यति ॥ ॥३४९॥
गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ ॥३५०॥

जिस समय यज्ञादि धर्म-कर्म रोका जाता हो, वर्णाश्रम-धर्म का नाश होता हो, उस समय द्विज को अस्त्र ग्रहण करना चाहिए। अपनी रक्षा करने में, दक्षिणा की रक्षा में, स्त्री और ब्राह्मणों की विपत्ति में धर्म युद्ध से मारनेवाला पाप का भागी नहीं होता। गुरु, बालक, बूढ़ा वेदज्ञ ब्राह्मण भी यदि आततायी बन कर मारने के किए आये तो बिना विचार उन पर प्रहार करना चाहिए ॥ ३४८-३५० ॥

परस्त्रीगमन आदि

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।

प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ॥३५१॥
परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन् महीपतिः।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ॥३५२॥
तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसङ्करः ।
येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥ ॥३५३॥
परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः ।
पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात् पूर्वसाहसम् ॥ ॥३५४॥
यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषते कारणात् ।
न दोषं प्राप्नुयात् किं चिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ॥ ॥३५५॥
परस्त्रियं योऽभिवदेत् तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा ।
नदीनां वाऽपि संभेदे स सङ्ग्रहणमाप्नुयात् ॥ ॥३५६॥
उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ।
सह खट्वाऽसनं चैव सर्वं सङ्ग्रहणं स्मृतम् ॥ ॥३५७॥
स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत् तया ।
परस्परस्यानुमते सर्वं सङ्ग्रहणं स्मृतम् ॥ ॥३५८॥

प्रकट या परोक्ष में मारनेवाले आततायी को मारने से कोई 'दोष नहीं होता, क्योंकि मारनेवाले का क्रोध दूसरे के क्रोध को बढ़ाता है। परस्त्री संभोग में लगे मनुष्यों की नाक इत्यादि काट कर अथवा अंग भंग करके देश से निकाल देना चाहिए। संसार में वर्णसङ्करता उसी से पैदा होती है, क्योंकि अधर्म जड काटता है, सर्वनाश कर डालता है। व्यभिचारी पुरुष परस्त्री से एकान्त में बातचीत करता हुआ - प्रथम साहस (२५० पण) दणड के योग्य होता है। पर साधारण पुरुष किसी परस्त्री से बातें करे तो वह अपराधी नहीं होता न ही दण्ड का भागी होता है। जो पुरुष तीर्थ, जंगल, वन और नदियों के संगमस्थान में परस्त्री से बातें करता है उसको संभोग-दूषण ही लगता है। परस्त्री को पुष्पमाला, तेल आदि भेजना, हँसी करना, उसके गहने-

वस्त्र छूना, एक पलंग पर बैठना, इन सब कामों को परस्त्री, संग्रहण जानना चाहिए जो आपस की सलाह से स्त्री के स्तनादि, उसका गुप्त स्थान छुए यह सब संग्रहण कहलाता है। ॥३५१-३५८॥

अब्राह्मणः सङ्ग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति ।
चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥ ॥३५९॥
भिक्षुका बन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ।
संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ॥३६०॥
न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् ।
निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥ ॥३६१॥
नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु ।
सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥ ॥३६२॥
किं चिदेव तु दाप्यः स्यात् संभाषां ताभिराचरन् ।
प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥ ॥३६३॥

ब्राह्मण को छोड़ कर अन्य कोई यदि परस्त्री संग्रहण करे तो मार डालने योग्य होता है, क्योंकि चारों वर्णवालों को सदा अपनी स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए। भिक्षुक, भाट, यज्ञ में दीक्षित, रसोईया और कारीगर स्त्रियों के साथ बिना रोक बातचीत की जा सकती है। जिसको निषेध है उसको परस्त्री के साथ बातचीत नहीं करनी चाहिए और बातचीत करने वाला एक सुवर्ण दण्ड के योग्य होता है। यह निषेध-मनादी नट, गवैया आदि की स्त्रिय के लिए नहीं है, क्योंकि वह अपने आप ही अपनी स्त्रियों को सजाकर पर पुरुषों से मिलाते हैं। परन्तु उनके साथ भी निर्जन में बातें करनी दण्डकारक है और एकभक्ता अथवा विरक्त स्त्री के साथ भी बातचीत करने से कुछ दण्ड का विधान करना चाहिए ॥३५६-३६३ ॥

योऽकामां दूषयेत् कन्यां स सद्यो वधमर्हति ।
सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥ ॥३६४॥
कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किं चिदपि दापयेत् ।
जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद् गृहे ॥ ॥३६५॥
उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति ।
शुल्कं दद्यात् सेवमानः समामिच्छेत् पिता यदि ॥ ॥३६६॥

जो इच्छा न करनेवाली कन्या से गमन करे, वह उसी समय वध के योग्य है। परन्तु कन्या की इच्छा के साथ गमन करने वाला सजातीय पुरुष, वध योग्य नहीं होता। उत्तम जाति के पुरुष को सेवन करनेवाली कन्या पर कुछ भी दण्ड नहीं करना चाहिए परन्तु नीच जाति के साथ गमन करने वाली कन्या को घर में नजरबंद रखना चाहिए। नीच जाति का पुरुष उत्तम जाति की कन्या से भोग करे तो वध के योग्य है और समान जाति की कन्या को भोगता हो तो वह पुरुष कन्या के पिता को आज्ञा से मूल्य देकर विवाह भी कर सकता है । ॥३६४-३६६॥

अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद् दर्पेण मानवः ।
तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम् ॥ ॥३६७॥
सकामां दूषयंस्तुल्यो नाङ्गुलिछेदमाप्नुयात् । द्वि
शतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ॥ ॥३६८॥
कन्यैव कन्यां या कुर्यात् तस्याः स्याद् द्विशतो दमः ।
शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद् दश ॥ ॥३६९॥
या तु कन्यां प्रकुर्यात् स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति ।
अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥ ॥३७०॥
भर्तारं लङ्घयेद् या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता ।
तां श्वभिः खादयेद् राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ॥३७१॥

पुमांसं दाहयेत् पापं शयने तप्त आयसे ।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ॥३७२॥

जो मनुष्य अभिमान और बलात्कार से कन्या को उँगलियों से बिगाड़े उसकी दोनों उंगलियाँ कटवा दें और छः सौ पण दण्ड करे । समान जाति और सकामा कन्या को दूषित करनेवाले की अङ्गलियां नहीं काटनी चाहिए, किन्तु प्रसंग की निवृति के लिए सिर्फ दो सौ पण का दण्ड करना चाहिए। कन्या ही कन्या को उँगलियों से बिगाड़े तो उस पर दो सौ पण दण्ड करे और उस कन्या के पिता से कहकर दुगना मूल्य दिलवाना चाहिए और दस कोड़े लगवाने चाहिए। यदि कोई स्त्री कन्या को उँगलियों से बिगाड़े तो उसका सिर मुंडवा कर तथा दो अंगुलियाँ काटकर, गधे पर चढ़ाकर घुमाना चाहिए। जो स्त्री अपने रुप, गुण के घमंड से पति का तिरस्कार कर व्यभिचार करे, उसको राजा को सब के सामने कुत्तों से नुचवाना चाहिए और जो व्यभिचारी पापी हो उसको तपाये हुए लोहे के पलंग पर सुलाकर ऊपर से काष्ठ रखकर जलवा देना चाहिए ॥३६७-३७२॥

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः ।
व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु ॥ ॥३७३॥
शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् ।
अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ॥३७४॥

यदि कोई एक वर्ष तक व्यभिचार करता रहे तो उस दुष्ट को उक्त दण्ड दुगना होना चाहिए और व्रात्या तथा चाण्डाली के साथ व्यभिचार करने पर भी वही दण्ड देना चाहिए। शुद्र, ब्राह्मण स्त्री से गुप्त या प्रकट व्यभिचार करे तो उसका अंग कटवा डालना चाहिए तथा उसका सर्वस्व हरण कर लेना चाहिए ॥३७३-३७४॥

वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात् संवत्सरनिरोधतः ।
सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥ ॥३७५॥
ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ ।
वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात् क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥ ॥३७६॥
उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह । वि
प्लुतौ शूद्रवद् दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥ ॥३७७॥
सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद् व्रजन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह सङ्गतः ॥ ॥३७८॥

वैश्य रक्षित ब्राह्मणी से गमन करे तो एक वर्ष कैद करके उसका सर्वस्व हरण करना चाहिए । क्षत्रिय करे तो एक हज़ार' पण दण्ड करना चाहिए और उसका सिर गधे के मूत से मुंडवा देना चाहिए। वैश्य और क्षत्रिय यदि अरक्षिता ब्राह्मणी से गमन करे तो वैश्य पर पाँच सौ और क्षत्रिय, पर हज़ार पण दण्ड करना चाहिए । वह दोनों यदि रक्षित ब्राह्मणी से गमन करें, शुद्र की भांति दण्ड देना चाहिए अथवा उनको चटाई में लपेट कर जलवा देना चाहिए । रक्षित ब्राह्मणी से ज़बरदस्ती व्यभिचार करनेवाले ब्राह्मण पर हज़ार पण दण्ड करना चाहिए और स्त्री की इच्छा अनुसार गमन करे तो पाँच सौ पण दण्ड करना चाहिए। ॥३७५-३७८॥

मौण्ड्यं प्राणान्तिकं दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ।
इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥ ॥३७९॥
न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम् ॥ ॥३८०॥
न ब्राह्मणवधाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि ।
तस्मादस्य वधं राजा मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥ ॥३८१॥

वैश्यश्चेत् क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् ।
यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥ ॥३८२॥

ब्राह्मण का सिर मुंडवा देना ही प्राणान्त दण्ड देना है अन्य वर्णों को प्राणान्त दण्ड का विधान है। जैसा भी अपराध ब्राह्मणे ने किया हो पर उसको प्राणान्त दण्ड कभी नहीं देना चाहिए अपितु उसको धन सहित देश से निकाल देना चाहिए। ब्राह्मण वध से अधिक कोई अधर्म नहीं है। राजा को ब्राह्मण वध का कभी मन में भी विचार नहीं करना चाहिए। वैश्य क्षत्रिया से और क्षत्रिय रक्षित वैश्या से व्यभिचार करे तो, इन दोनों को आरक्षित ब्राह्मणी से व्याभिचारवाला दण्ड देना चाहिए। ॥ ३७९-३८२॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् ।
शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेद् दमः ॥ ॥३८३॥
क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः ।
मूत्रेण मौण्ड्यमिच्छेत् तु क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥ ॥३८४॥
अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात् सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥ ॥३८५॥

यदि ब्राह्मण रक्षित क्षत्रिया वा वैश्या से गमन करे तो उस पर हज़ार पण दण्ड करना चाहिए और रक्षित शूद्रा से गमन करनेवाले क्षत्रिय और वैश्य पर भी हज़ार पण दण्ड करना चाहिए। अरक्षित क्षत्रिया में गमन करने वाले वैश्य पर पाँच सौ पण भोर क्षत्रिय का सिर मूत्र से मुंडवाकर पाँच सौ पण दण्ड करना चाहिए। यदि ब्राह्मण, अरक्षित क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा से व्यभिचार करे तो पाँच सौ पण दण्ड करना चाहिए और चाण्डाली से गमन करने पर हज़ार पण दण्ड करना चाहिए ॥३८३-३८५॥

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।
न साहसिकदण्डघ्नो स राजा शक्रलोकभाक् ॥ ॥३८६॥
एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके ।
सांराज्यकृत् सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥ ॥३८७॥
ऋत्विजं यस्त्यजेद् याज्यो याज्यं चर्त्विक् त्यजेद् यदि ।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥ ॥३८८॥
न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति । त्य
जन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ॥३८९॥
आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः ।
न विब्रूयान्नृपो धर्मं चिकीर्षन् हितमात्मनः ॥ ॥३९०॥

जिस राजा के नगर में न चोर हैं, न व्यभिचारी हैं, न कुवाच्य कहनेवाले हैं, न लुटेरे हैं, और न मार-पीट करनेवाले हैं वह राजा स्वर्ग अथवा इन्द्रलोक को प्राप्त करता है । इन पाँचों का अपने राज्य में निग्रह करने से राजा के राज्य और यश में वृद्धि होती है। जो यजमान अपने कर्म करानेवाले निदोष ऋत्विज को त्याग देता है अथवा जो ऋत्विज् योग्य यजमान को छोड़ देता है उन दोनों पर राजा सौ सौ पण दण्ड करना चाहिए। माता, पिता, स्त्री और पुत्र त्याग के योग्य नहीं होते। जो इनको पतित न होने पर भी त्याग दे, उस पर राजा को छः सौ पण दण्ड करना चाहिए। आश्रम धर्म के लिए झगड़नेवाले द्विजों का राजा कोई फैसला न करे। वह उसका फैसला स्वयं कर लेंगे अर्थात ऐसे कामों मे राजा को बलपूर्वक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए ॥३८६-३९०॥

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
सान्त्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ॥३९१॥

प्रतिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे ।
अर्हावभोजयन् विप्रो दण्डमर्हति माषकम् ॥ ॥३९२॥
श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् ।
तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ॥ ॥३९३॥
अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः।
श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केन चित् करम् ॥ ॥३९४॥
श्रोत्रियं व्याधितार्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम् ।
महाकुलीनमार्यं च राजा सम्पूजयेत् सदा ॥ ॥३९५॥

किन्तु अपने सभासदों के साथ इनकी यथोचित पूजा करके पहले समझाने का प्रयास करे फिर स्वधर्म का आदेश करना चाहिए। यदि कोई उत्सव करवाए, जिसमे बीस ब्राह्मणों के भोजन का प्रबंध हो, और उस उत्सव मे पड़ोसी और घर आने जाने वाले अपने हितप्रिय लोगों को आमंत्रण न दे तो उस पुरुष पर एक माषक दण्ड करना चाहिए। किसी मंगलकार्य में वेदज्ञ ब्राह्मण, साधु आदि को भोजन न देने पर उसको दुगना अन्न और सोने का एक माषक देना चाहिए। अन्धा, बहिरा, लूला, सत्तर वर्ष के बूढ़े और श्रोत्रिय से राजा को कोई कर नहीं लेना चाहिए। श्रोत्रिय, रोगी, दुःखी, बालक, बूढा, निर्धन, महाकुलीन, और महात्मा पुरुष की ओर राजा को सदा आदर दृष्टि रखनी चाहिए ॥३९१-३९५॥

शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः ।
न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥ ॥३९६॥
तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् ।
अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥ ॥३९७॥
शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः ।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥ ॥३९८॥

धोबी को सेमर के चिकने पाट पर धीरे धीरे कपड़े धोने चाहिए, कपड़ों को बदलना नहीं चाहिए और न ही बहुत दिनों तक कपड़ों को अपने पास रखना चाहिए। जुलाहे को दस पल सूत लेकर ग्यारह पल कपड़ा तौल कर देना चाहिए। यदि विपरीत करे तो राजा को उस पर बारह पण दण्ड करना चाहिए । जो पुरुष चुंगी वगैरह के कामों में चतुर और हर प्रकार के व्यापारों में प्रवीण हो, उन सौदागरों के लाभ का बीसवाँ भाग राजा को ग्रहण करना चाहिए । ॥३६६-३६८॥

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।
ताणि निर्हरतो लोभात् सर्वहारं हरेन्नृपः ॥ ॥३९९॥
शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी ।
मिथ्यावादी च सङ्ख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥ ॥४००॥
आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत् क्रयविक्रयौ ॥ ॥४०१॥
पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथ वा गते ।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ॥४०२॥
तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात् सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ॥४०३॥

राजा अपने देश की जिन प्रसिद्ध वस्तुओं एवं पदार्थों को परदेश में व्यापारार्थ बेचने से निषेध घोषित करे उनको लोभ वश कोई ले जाए तो राजा को उसका सर्वस्व छीन लेना चाहिए। चुंगीघर से छिपानेवाला, असमय में खरीद-बेच करनेवाला, गिनती-तोल में झूठ बोलनेवाला वस्तु के मूल्य से आठ गुणा दण्ड के योग्य होता है। माल कहां ले आया है, कहां जाता है, कितने दिन पड़ा रहा है, उसमें हानि

वा लाभ क्या होगा, यह सब विचार कर खरीदने बेचने का भाव तय करना चाहिए। पाँच पाँच दिन अथवा पक्ष बीतने पर राजा को माल का भाव व्यापारियों के सामने नियत करना चाहिए। तराजू के बाट और गज़ वगैरह पर अपनी मोहर लगाकर ठीक रखना चाहिए और छठे महीना उनकी जांच करनी चाहिए। ॥३६६-४०३॥

पुल, नदी का शुल्क

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे ।
पादं पशुश्च योषित्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ॥४०४॥
भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः।
रिक्तभाण्डानि यत् किं चित् पुमांसश्चपरिच्छदाः ॥ ॥४०५॥
दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ।
नदीतीरेषु तद् विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥ ॥४०६॥

नदी पार करने में खाली गाड़ी का एक पण, भार सहित मनुष्यों का आधा पण, पशु और स्त्री का चौथाई पण और खाली मनुष्य से पण का आठवाँ भाग शुल्क के रूप में लेना चाहिए। मालभरी गाड़ी पार उतरने का शुल्क उसके वजन के अनुसार लेना चाहिए और खाली सवारी और गरीबों से थोड़ा सा लेना चाहिए। लम्बी उतराई का शुल्क देश काल के अनुसार तय करना चाहिए। यह नदी तट का नियम है । समुद्र के लिए कोई निश्चय नहीं हो सकता ॥४०४-४०६ ॥

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः ।
ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥ ॥४०७॥

यन्नावि किं चिद् दाशानां विशीर्येतापराधतः ।
तद् दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोऽशतः ॥ ॥४०८॥
एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥ ॥४०९॥

दो महीना से अधिक की गर्भिणी, वानप्रस्थ, संन्यासी और ब्राह्मण, ब्रह्मचारी को नदी पार जाने की उतराई नहीं देनी चाहिए। यदि नाव में मल्लाहों के दोष से कुछ हानि हो, वह मल्लाहों को इकट्ठा होकर अपने भाग में से देना चाहिए। यह नौका से नदी पार होने का निर्णय और जल में मल्लाहों के व्यवहार का निर्णय कहा है। यदि कोई दैवी विपत्ति आ पड़े तो उस में कोई दण्डविधान नहीं है । ॥४०७-४०६॥

वाणिज्यं कारयेद् वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च ।
पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥ ॥४१०॥
क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्शितौ ।
बिभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयेत् ॥ ॥४११॥
दास्यं तु कारयन्लोभाद् ब्राह्मणः संस्कृतान् द्विजान् ।
अनिच्छतः प्राभवत्याद् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ॥४१२॥
शूद्रं तु कारयेद् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा ।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥ ॥४१३॥
न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद् विमुच्यते ।
निसर्गजं हि तत् तस्य कस्तस्मात् तदपोहति ॥ ॥४१४॥

राजा को वैश्यों से व्यापार, ब्याज, खेती और पशुरक्षा का उद्यम करवाना चाहिए और शूद्रों से द्विजों की सेवा करवानी चाहिए। जीविका से रहित क्षत्रिय और वैश्यों से ब्राह्मण को अपना कर्म करवाते हुए उनका पालन पोषण करना चाहिए। यदि धनी ब्राह्मण

लोभवश उत्तम द्विजों से सेवा कर्म करवाए तो राजा को उस पर छः सौ पण दण्ड करना चाहिए। खरीदे अथवा बिना खरीदे शुद्रों से सेवाकर्म ही करवाना चाहिए क्योंकि ब्रह्मा ने शूद्रों को दासकर्म के लिए ही उत्पन्न किया है। स्वामी से छुड़ाया हुआ शूद्र भी दास कर्म को छोड़ नहीं सकता क्योंकि वह उसका स्वाभाविक धर्म है। ॥ ४१०-४१४॥

ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ ।
पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥ ॥४१५॥
भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः ।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद् धनम् ॥ ॥४१६॥
विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत् ।
न हि तस्यास्ति किं चित् स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥ ॥४१७॥

युद्ध में जीतकर लाया हुआ, भक्त दास, दासीपुत्र, खरीदा हुआ, किसी का दिया हुआ, परंपरा से प्राप्त और दण्ड-शुद्धि के लिए जिसने दास भाव स्वीकार किया हो; यह सात प्रकार के दास होते हैं। भार्या, पुत्र और दास इन तीनों को मनु ने निर्धन कहा है, यह जो कुछ धन पाते हैं ,वह उसका है जिसके अधीन यह होते हैं। ब्राह्मण को अपने दास शूद्र से बिना विचार धन ले लेना चाहिए उसका धन कुछ नहीं है क्योंकि दास के धन का स्वामी, उसका स्वामी ही होता है ॥४१५-४१७ ॥

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् ।
तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥ ॥४१८॥
अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान् वाहनानि च ।
आयव्ययौ च नियतावाकरान् कोशमेव च ॥ ॥४१९॥

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ॥४२०॥

राजा को यत्न पूर्वक वैश्य और शूद्र से उनके कर्मों को करवाना चाहिए क्योंकि वे अपने कर्म से हटकर संसार को उपद्रवों से दुखी करेंगे। राजा को प्रतिदिन प्रारम्भ किये कार्यों का, सवारियों का, नियत आय-व्यय का, खान और धन भण्डार का अवलोकन करना चाहिए। इस प्रकार राजा इन सभी व्यवहारों का निर्णय करता हुआ सब पापों का नाश करके परम गति को प्राप्त करता है॥ ४१८-४२० ॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां स्मृतौ अष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥८॥

॥महर्षि भृगु द्वारा प्रवचित मानव धर्म शास्त्र स्मृति का आठवां अध्याय समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥ मनुस्मृति ॥

॥अथ नवमोऽध्यायः नवां अध्याय ॥

स्त्री-रक्षा

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः।
संयोगे विप्रयोगे च धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ ॥१॥

सनातन धर्म में स्थित पुरुष और स्त्रियों के संयोग और 'वियोग समय के धर्मों को मैं आगे कहता हूँ, सुनो: ॥१॥

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥ ॥२॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ॥३॥
कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन् पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ॥४॥
सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ॥५॥
इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ॥६॥

पुरुष को अपनी स्त्रियों को कभी स्वतन्त्र न होने देना चाहिए। विषयों में आसक्त स्त्रियों को सदैव अपने वश में रखना चाहिए । बालकपन में पिता, युवावस्था में पति और बुढ़ापा में पुत्र को स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए, स्त्री स्वतन्त्र होने योग्य नहीं है। समय पर कन्यादान न करने से पिता, ऋतुकाल में सहवास न करने से पति और पिता के बाद माता की रक्षा न करने से पुत्र निन्दा का पात्र होता है। साधारण कुसंगों से भी स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि अरक्षित स्त्रियां दोनों कुलों को दुःख देती हैं । इस प्रकार यह संपूर्ण वर्णों का धर्म है। दुर्बल पति भी अपनी स्त्रियों की रक्षा का उपाय करना चाहिए ॥ २-६ ॥

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥ ॥७॥
पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद् हि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ॥८॥
यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः ॥ ॥९॥
न कश्चिद् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ ॥१०॥

स्त्रियों की रक्षा करने से पुरुष अपनी संतान को वर्णसङ्कर होने से बचाता है, अपने चरित्र को निर्दोष रखता है, अपने कुल की मर्यादा बढ़ाता है, तथा अपनी और अपने धर्म की रक्षा करता है। पति स्त्री में वीर्यरूप से प्रवेश करके जगत् में पुत्ररूप से जन्म लेता है। अपनी स्त्री में फिर जन्मता है इसी कारण से स्त्री को जाया कहा जाता है। जैसे पुरुष को स्त्री सेवन करती है उसी भांति का पुत्र पैदा करती है। इसलिए प्रजा की पवित्रता के लिए स्त्री की रक्षा यत्नपूर्वक करे। कोई

बलपूर्वक स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकता, किन्तु इन उपायों से उनकी रक्षा कर सकता है। ॥७-१०॥

अर्थस्य सङ्ग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥ ॥११॥
अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ ॥१२॥
पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ ॥१३॥
नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ ॥१४॥

धन-संग्रह, खर्च, सफाई, पतिसेवा, धर्म, रसोई और घर को सँभालने के कार्य में स्त्री को लगाना चाहिए। विश्वास पात्र मनुष्यों से घर में रखवाली कराने से रक्षित नहीं होती किन्तु जो अपनी रक्षा अपने आप ही करे, वही सुरक्षित हो सकती हैं। मद्यपान, दुर्जनसंग, पति से वियोग, घूमना, सोना, दूसरे के घर रहना यह छः प्रकार के स्त्रियों में दूषण होते हैं। व्यभिचारिणी स्त्रियां रूप और अवस्था को नहीं देखती केवल पुरुष देखकर ही मोहित होजाती हैं; वह कुरूप हो अथवा सुरूप ॥११-१४॥

पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥ ॥१५॥
एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽसां प्रजापतिनिसर्गजम् ।
परमं यत्नमातिष्ठेत् पुरुषो रक्षणं प्रति ॥ ॥१६॥
शय्याऽऽसनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम् ।
द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥ ॥१७॥

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः ।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रीभ्यो अनृतमिति स्थितिः ॥ ॥१८॥

व्यभिचारिणी होने से, चित्त की चञ्चलता से, स्वभाव से रूखापन से स्त्रियाँ रक्षित होनेपर भी अपने पति मे विकार कर बैठती हैं। ब्रह्मा के रचे ऐसे स्त्रियों के स्वभाव जानकर उनकी रक्षा का परं यत्न करना चाहिए। सोना, बैठे रहना, गहने पर प्रेम, काम, क्रोध, उद्वत पना, दूसरों से द्रोह और दुराचार ये स्त्रियों में स्वभाव से ही पैदा हैं - ऐसा मनुजी ने कहा है। स्त्रियों के जात कर्मादि संस्कार मन्त्रों से नहीं होते इसलिए वे धर्मरहित होती है। असत्य के समान हैं-यह धर्म शास्त्र की मर्यादा है ॥१५-१८॥

तथा च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि ।
स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ ॥१९॥
यन् मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता ।
तन् मे रेतः पिता वृङ्क्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम् ॥ ॥२०॥
ध्यायत्यनिष्टं यत् किं चित् पाणिग्राहस्य चेतसा ।
तस्यैष व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते ॥ ॥२१॥
याद्दग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।
ताद्दग्गुणा सा भवति समुद्रेणैव निम्नगा ॥ ॥२२॥

व्यभिचारिणी स्त्रियों के स्वभाव की परीक्षार्थ वेदों में बहुत श्रुतियां पठित हैं। उनमें जो व्यभिचार के प्रायश्चित्तभूत हैं उन को सुनो। कोई पुत्र माता का मानस व्यभिचार जानकर कहता है कि जो मेरी माता अपतिव्रता हुई परपुरुष को चाहने वाली थी, उस दुष्टत का मेरा पिता शुद्ध वीर्य से शोधन करे-यह एक नमूना है। स्त्री अपने मन में पति के लिए जो अशुभ चिन्तन करती है (मानसिक व्यभिचार) उसका

प्रायश्चित्तरूप मन्त्र पुत्र को शुद्ध करने वाला है, माता को नहीं। जिस गुणवाले पति के साथ स्त्री विवाह करके रहती है वैसे ही गुणवाली वह हो जाती है, जैसे समुद्र के साथ नदी के मिलने पर नदी खारी हो जाती है ॥१९-२२॥

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ ॥२३॥
एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ ॥२४॥
एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा ।
प्रेत्यैह च सुखोदर्कान् प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ ॥२५॥

अक्षमाला नाम की अधम जाति की स्त्री वशिष्ठ को विवाहित होने से पूज्य हुई। शारंगी पक्षीजाति की स्त्री मन्दपाल को विवाहित होने से पूज्य हुई। यह और दूसरी भी स्त्रियां इस लोक में अपने पतियों के गुणों के कारण उन्नति को पहुँची है। इस प्रकार स्त्री-पुरुषों का उत्तम लौकिक आचार कहा गया है। अब लोक, परलोक में सुख देनेवाले सन्तानधर्म को सुनों ॥ २३-२५ ॥

सन्तानधर्म

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः । स्त्रि
यः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ ॥२६॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥   ॥२७॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराऽधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥ ॥२८॥

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीइति चोच्यते ॥ ॥२९॥
व्यभिचारात् तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति
निन्द्यताम् । सृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ ॥३०॥

यह स्त्रियाँ पुत्र उत्पन्न करने के लिए बड़ी भाग्यवती, सत्कार योग्य और घर की शोभा हैं । स्त्रियों में और लक्ष्मी में कोई भेद नहीं है, दोनों समान हैं। सन्तान पैदा करना, उनका पालन, अतिथि, मित्र आदि का लौकिक आदर-भोजन का निर्वाह स्त्री से ही हो सकता है, यह प्रत्यक्ष है। सन्तान, धर्मकार्य, अतिथि-सेवा, अच्छा काम सुख, आपने और पितरों को स्वर्ग-प्राप्ति स्त्री के अधीन है। जो स्त्री मन, वाणी और शरीर को वश में रखकर पति के अनुकूल रहती है वह पतिलोक पाती है और जगत् में साध्वी कही जाती है। और पति के विरुद्ध करने से लोक में निन्दा पाती है। सियार की योनि में जन्म लेती है और बुरे रोगों से दुःखी होती है ॥२६-३०॥

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः ।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ॥३१॥
भर्तरि पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु कर्तरि ।
आहुरुत्पादकं के चिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ॥३२॥
क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् । क्षे
त्रबीजसमायोगात् संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ ॥३३॥
विशिष्टं कुत्र चिद् बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्र चित् ।
उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ ॥३४॥
बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते ।
सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ ॥३५॥
यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते ।

ताद्दग् रोहति तत् तस्मिन् बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥ ॥३६॥
इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते ।
न च योनिगुणान् कांश्चिद् बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥ ॥३७॥
भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः ।
नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥ ॥३८॥

प्राचीनकाल के महात्मा-महर्षियों ने जो पुत्र को कहा था, उस विश्वहितकारी, पवित्र विचार को सुनो-

क्षेत्र-बीजनिर्णय

मुनिगण उत्पन्न पुत्र को भर्ता का मानते हैं। परन्तु भर्ता के विषय में दो प्रकार की श्रुति हैं। पहला मत है-पुत्र जिसके वीर्य से उत्पन्न हुआ हो उसका माना जाता है। दूसरा मत है-जिसकी स्त्री में पैदा हो उसका होता है। स्त्री क्षेत्ररूप और पुरुष बीज रूप कहा है, इस क्षेत्र और बीज के संयोग से सब प्राणियों की उत्पत्ति है। कहीं बीज और कहीं क्षेत्र श्रेष्ठ माना जाता है परन्तु जिसमें दोनों समान हों वह सन्तान श्रेष्ठ है। बीज और क्षेत्र में बीज उत्तम गिना जाता है, क्योंकि सभी प्राणियों की उत्पत्ति में बीज के रूप, रंग देखने में आते हैं। समय पर जैसा बीज खेत में बोया जाता है, उसी भांति का गुण पैदा होकर आता है। यह भूमि प्राणियों की सनातन-योनि कही जाती है। परन्तु बीज स्वयं अपने खेत के गुणों को धारण नहीं कर सकता। किसान एक ही खेत में समयानुसार अलग अलग बीज बोते हैं और वह अपने स्वभाव के अनुसार विभिन्न प्रकार के उत्पन्न होते हैं अर्थात् एक ही भूमि होने से एक जैसे नहीं होते ॥३१-३८॥

व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः ।

यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ ॥३९॥
अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ।
उप्यते यद् हि यद् बीजं तत् तदेव प्ररोहति ॥ ॥४०॥
तत् प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥ ॥४१॥
अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥ ॥४२॥

धान, साठा, मूंग, तिल, उड़द, जों, लसुन और ईख बोने पर अपने बीज के अनुसार ही उगते हैं । बीज दूसरा हो और वृक्ष दूसरा उगे ऐसा नहीं होता। जो बीज बोया जाता है, वही उत्पन्न होता है। इसलिए बुद्धिमान् , विनीत, ज्ञान-विज्ञान-विशारद को परस्त्री में बीज नहीं बोना चाहिए। प्राचीन इतिहास के ज्ञाता ऋषि इस विषय में वायु की गाई गाथाएँ गाते हैं-परस्त्री में पुरुष को बीज नहीं बोना चाहिए ॥ ६९-४२॥

नश्यतीषुर्यथा विद्धः खे विद्धमनुविध्यतः ।
तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ॥४३॥
पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः।
स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शाल्यवतो मृगम् ॥ ॥४४॥
एतावानेव पुरुषो यत्जायाऽत्मा प्रजैति ह ।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद् यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥ ॥४५॥
न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते ।
एवं धर्मं विजानीमः प्राक् प्रजापतिनिर्मितम् ॥ ॥४६॥

जैसे दूसरे के बेधे हुए मृग को फिर मारने से बाण निष्फल होता है, ऐसे परस्त्री में बोया बीज शीघ्र निष्फल हो जाता है । इस पृथिवी को

जो पहले राजा पृथु की भार्या थी, अभी भी लोग पृथु की भार्या ही जानते हैं। जो वृक्ष काटकर साफ़ करता है उसका खेत और जिसका बाण पहले लगे उसका वह मृग कहलाता है। स्त्री आप और सन्तान यह तीनों मिलकर एक पुरुष कहलाता है। वेदज्ञ ब्राह्मण भी कहते हैं कि जो भर्ता है वही भार्या है। बेचने वा छोड़ने से भार्या अपने पति से नहीं छूटती । ऐसी धर्म मर्यादा, प्रजापति की रची हुई है जिसे हम जानते हैं। ॥४३-४६॥

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥ ॥४७॥
यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च ।
नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥ ॥४८॥
येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः।
ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्व चित् ॥ ॥४९॥
यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेत्शतम् ।
गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥ ॥५०॥
तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः ।
कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम् ॥ ॥५१॥

भाइयों का बँटवारा एक बार ही होता है । कन्यादान एक बार होता है और दान भी एक ही बार कहने से हो जाता है-सत्पुरुष इन तीन बातों को एकबार ही करते हैं। जैसे गौ, घोड़ी, ऊंटनी, दासी, भैंस, बकरी और भेड़ आदि में सन्तान पैदा करने वाला उस सन्तान का स्वामी नहीं माना जाता, ऐसे ही परस्त्री में सन्तान का भागी नहीं होता। जो क्षेत्र का स्वामी न होकर, केवल बीज बोनेवाले हो, उसका खेत के अन्नादि फल पर कोई अधिकार नहीं होता । एक बैल जो दूसरे की गायों में सैकड़ों बछड़े पैदा करता है, वह गौ वाले के होते

हैं और बैल का वीर्य निष्फल जाता है, वैसे ही दुसरे के क्षेत्र में बोनेवाले खेत वाले का काम करते हैं, बीज वाले को फल प्राप्त नहीं होता ॥४७-५१ ॥

फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ।
प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद् योनिर्गलीयसी ॥ ॥५२॥
क्रियाभ्युपगमात् त्वेतद् बीजार्थं यत् प्रदीयते ।
तस्यैह भागिनौ द्दष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ॥५३॥
ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति । क्षे
त्रिकस्यैव तद् बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥ ॥५४॥

खेत और बीज वालों में कोई ठहराव न हो तब तक सन्तान खेतवाले की प्रत्यक्ष मानी जाती है। क्योंकि बीज से खेत ही प्रधान है । क्षेत्र में जो सन्तान होगी, वह हम दोनों की होगी ऐसा ठहराव हुआ हो तो सन्तान क्षेत्र और बीज दोनों की होगी। जो बीज जल के वेग अथवा वायु के वेग से गिरकर दूसरे के खेत में पैदा हो, उसके फल का भागी खेतवाला होता है बोनेवाला नहीं ॥ ५२-५४ ॥

स्त्रियों का आपद्धर्म

एष धर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च ।
विहङ्गमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥ ॥५५॥
एतद् वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ॥५६॥
भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥ ॥५७॥
ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान् वाऽग्रजस्त्रियम् ।

पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ ॥५८॥
देवराद् वा सपिण्डाद् वा स्त्रिया सम्यक्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताऽऽधिगन्तव्या संतानस्य परिक्षये ॥ ॥५९॥
विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ।
एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथं चन ॥ ॥६०॥
द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः ।
अनिर्वृतं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ॥६१॥
विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि ।
गुरुवत्च स्नुषावत्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ॥६२॥

यह व्यवस्था गौ, घोड़ी, दासी, ऊंटनी, वकरी, भेड़, पक्षी और भैस की संतति में जाननी चाहिए । इस प्रकार बीज और योनि की प्रधानता और अप्रधानता का विषय कहा गया अब स्त्रियों का आपद्धर्म कहा जाता है।

बड़े भाई की स्त्री छोटे भाई को गुरुपत्नी के समान और छोटे भाई की स्त्री बड़े भाई को पुत्रवधू के समान कही गयी है। आपत्तिकाल न हो अर्थात् पुत्र हो तो बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री के साथ और छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री के साथ नियोग विधि से भी गमन करे तो दोनों पतित होते हैं । सन्तान न हो तो पुत्र की इच्छा से नियोग की हुई स्त्री को देवर अथवा सपिण्डपुरुप से भी अभीष्ट सन्तान प्राप्त करनी चाहिए। विधवा स्त्री के साथ नियोग करनेवाला शरीर में घी लगाकर मौन होकर रात्रि में भोग करे और इस भांति एक ही पुत्र पैदा करे, दूसरा कभी नही करना चाहिए। नियोगविधि के ज्ञाता कोई ऋषि एक पुत्र से नियोग का प्रयोजन सिद्ध न होते देखकर दूसरा पुत्र पैदा करना भी धर्म मानते हैं । शास्त्र की रीति से विधवा स्त्री में नियोग का प्रयोजन हो जाने पर छोटे भाई को बड़े भाई की स्त्री से माता

और बड़े भाई को छोटे को स्त्री से पुत्रवधू के समान व्यवहार करना चाहिए ॥५५-६२॥

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः ।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥ ॥६३॥
नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।
अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ ॥६४॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्व चित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ॥६५॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ॥६६॥
स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा ।
वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ॥६७॥
ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ॥६८॥
यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ॥६९॥

यदि नियोग करनेवाले दोनों शास्त्रविधि को छोड़कर मन माना व्यवहार करें तो पतित होते हैं तथा पुत्रवधू गुरुपत्नी के साथ गमन करनेवाले माने जाते हैं । द्विजातियों को विधवा स्त्री का नियोग दूसरे वर्णवाले से नहीं कराना चाहिए । अन्य जाति से नियोग की हुई स्त्रियाँ धर्म का नाश कर डालती हैं। विवाहसम्बन्धी मन्त्रों में कहीं नियोग नहीं कहा है और विधवा का पुनर्विवाह भी कहीं नहीं कहा है । यह नियोगविधि राजा वेन के राज्य में प्रचलित हुई थी। परन्तु विद्वान द्विजों ने इस पशुधर्म की निंदा की है। राजर्षि वेन जब सारी पृथ्वी पर राज्य करता था, उस समय कामवासना से नष्ट बुद्धि होकर

वर्णसङ्करता फैलाई थी। तब से जो पुरुष विधवा स्त्री का संतान के लिए नियोग करता है उसकी साधु पुरुष निंदा करते हैं। जिस कन्या का पति वाग्दान करने के याद मर जाय तो उसके देवर को इस प्रकार उसे स्वीकार करना चाहिए ॥६३-६९॥

यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।
मिथो भजेता प्रसवात् सकृत्सकृद् ऋतावृतौ ॥ ॥७०॥
न दत्त्वा कस्य चित् कन्यां पुनर्दद्याद् विचक्षणः ।
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥ ॥७१॥
विधिवत् प्रतिगृह्यापि त्यजेत् कन्यां विगर्हिताम् ।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥ ॥७२॥
यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायौपपादयेत् ।
तस्य तद् वितथं कुर्यात् कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ॥७३॥
विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत् कार्यवान्नरः ।
अवृत्तिकर्शिता हि स्त्री प्रदुष्येत् स्थितिमत्यपि ॥ ॥७४॥
विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता । प्रो
षिते त्वविधायैव जीवेत्शिल्पैरगर्हितैः ॥ ॥७५॥
प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥ ॥७६॥
संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः।
ऊर्ध्वं संवत्सरात् त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत् ॥ ॥७७॥

श्वेत वस्त्र पहन कर मन, वाणी, शरीर से शुद्ध होकर उस कन्या के साथ उसका देवर गमन करे और सन्तान होने तक ऋतुकाल में उक्तरीति से एक एक बार गमन करे। चतुर पुरष एक बार कन्या देकर फिर दूसरे को न दें, क्योंकि एक बार वाग्दान करके दूसरे को

देने से चोरी का पाप लगता है। जो कन्या रोगी, दुष्ट और छल से दी गई हो, उसको विधिपूर्वक ग्रहण करके भी त्याग देना चाहिए। जो दोषवाली कन्या का बिना दोष कहे विवाह कर दे उस दुरात्मा पुरुष के दान को त्याग देना चाहिए। कार्यवश विदेश जाने वाला मनुष्य को स्त्री के भरण पोषण का प्रबन्ध करके जाना चाहिए। क्योंकि सदाचारी स्त्री भी अन्न-वस्त्र के लिए दुखी होकर बिगड़ जाती हैं। प्रबन्ध करके पति के विदेश जाने पर स्त्री नियम से रहना चाहिए शृङ्गार आदि नहीं करना चाहिए। और प्रबंध किए बिना चला गया हो तो सीना, कातना आदि उद्यम से निर्वाह करना चाहिए। पति, धर्मकार्य के लिए विदेश गया हो तो आठ वर्ष, विद्या, यश के लिए गया हो तो छः वर्ष और सुख के लिए गया हो तो तीन वर्ष प्रतीक्षा करने के पश्च्यात पति के पास चले जाना चाहिए। दुःखदायी स्त्री के पति को एक वर्ष प्रतीक्षा करनी चाहिए, उसके बाद आभूपणादि छीनकर उस स्त्री के साथ नहीं रहना चाहिए ॥ ७०-७७ ॥

अतिक्रामेत् प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा ।
सा त्रीन् मासान् परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥ ॥७८॥
उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम् ।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम् ॥ ॥७९॥
मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत् ।
व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या हिंस्राऽर्थघ्नी च सर्वदा ॥ ॥८०॥
वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥ ॥८१॥
या रोगिणी स्यात् तु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः ।
साऽनुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हि चित् ॥ ॥८२॥
अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद् रुषिता गृहात् । सा
सद्यः संनिरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसंनिधौ ॥ ॥८३॥

प्रतिषिद्धाऽपि चेद् या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि ।
प्रेक्षासमाजं गच्छेद् वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट् ॥ ॥८४॥
यदि स्वाश्चापराश्चैव विन्देरन् योषितो द्विजाः ।
तासां वर्णक्रमेण स्याज् ज्येष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥ ॥८५॥

जो स्त्री अपने जुआरी, मद्यप और रोगातुर पति की सेवा न करे उसके भूषण आदि लेकर तीन महीने तक त्याग करने योग्य हैं। परन्तु जो पागल, पतित, नपुंसक, बीजहीन, पापरोगी भी अपने पति की सेवा करे उसको त्यागना नहीं चाहिए और इन ही उससे कोई धन, आभूषण इत्यादि छीनना चाहिए। जो स्त्री मद्यप, दुराचारिणी, उलटा बर्ताव करनेवाली, रोगिणी, मार पीट करनेवाली, फिजूल खर्च करनेवाली हो उसके जीते ही दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। ऋतुकाल से आठ वर्ष तक वंध्या रहे, दस वर्ष तक बालक होकर मरते जायँ, कन्या उत्पन्न होते ग्यारह वर्ष होजायँ और स्त्री कटुभाषी हो तो भी दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। परन्तु जो रोगी होकर भी पति का हित करे, सुशीला हो तो उसकी सम्मति से दूसरा विवाह करना चाहिए और उसका अपमान कभी भी नहीं करना चाहिए। दूसरी स्त्री के आने पर पहली स्त्री रूठकर घर से निकल जाती हो तो उसको रोकना चाहिए अथवा सब के समक्ष त्याग देना चाहिए। उत्सवों के समय मना करने पर भी जो स्त्री मद्यपान करे, गाने आदि में शामिल हो, उस पर छः कृष्णल दण्ड राजा को करना चाहिए। कोई द्विज अपनी या दूसरी जाति की स्त्री से विवाह करे तो उस की जाति मर्यादा के अनुसार आदर, आभूषण, घर इत्यादि का प्रबन्ध करना चाहिए ॥७८-८५॥

भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम् ।
स्वा चैव कुर्यात् सर्वेषां नास्वजातिः कथं चन ॥ ॥८६॥

यस्तु तत् कारयेन् मोहात् सजात्या स्थितयाऽन्यया ।
यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ॥८७॥

उन स्त्रियों में जो अपनी जाति की हो वे पतिसेवा और धर्मकर्म करें दूसरी जाति की स्त्रियों को यह कर्म कभी नहीं करना चाहिए। पर जो मूर्खता से अपनी जाति की स्त्री रहते दूसरी से कर्म कराता है उसको चाण्डाल समान जाने-यह ऋषियों ने कहा है ॥८६-८७ ॥

कन्या-विवाह

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद् यथाविधि ॥ ॥८८॥
काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यार्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत् तु गुणहीनाय कर्हि चित् ॥ ॥८९॥
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यर्तुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ॥९०॥
अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम् ।
नैनः किं चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥ ॥९१॥
अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा ।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद् यदि तं हरेत् ॥ ॥९२॥
पित्रे न दद्यात्शुल्कं तु कन्यां ऋतुमतीं हरन् ।
स च स्वाम्यादतिक्रामेद् ऋतूनां प्रतिरोधनात् ॥ ॥९३॥

कुलीन, सुंदर और समान जाति का वर मिले तो पिता विवाह योग्य अवस्था न होने पर भी शास्त्ररीति से कन्यादान कर दे। चाहे कन्या को ऋतुमती होने पर भी मरणपर्यन्त पिता के घर बैठी रहे परन्तु गुणहीन वर को कभी दान नहीं करना चाहिए। यदि पिता गुणी वर

मिलने पर विवाह न करे सके और कन्या ऋतुमती होती हो तो वह तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करके अपनी इच्छानुसार पति से विवाह कर सकती है। जिस कन्या का विवाह पिता न करता हो वह यदि स्वयं विवाह कर ले तो कन्या पुरुष को कोई दोष नहीं लगता। स्वयं वर को स्वीकार करनेवाली कन्या पिता-माता या भाई के दिए आभूषण नहीं लेना चाहिए, अगर ले तो चोर समान समझी जाती है। ऋतुमयी कन्या का विवाह करनेवाले को उसके पिता को धन नहीं देना चाहिए। क्योंकि ऋतुकाल में सन्तान को रोकने के कारण पिता का स्वामित्व जाता रहता है ॥८८-९३॥

त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ॥९४॥
देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयाऽत्मनः ।
तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥ ॥९५॥
प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवः ।
तस्मात् साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ ॥९६॥
कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः ।
देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥ ॥९७॥

तीस वर्ष का पुरुष बारह वर्ष की सुन्दर कन्या से विवाह करना चाहिए। अथवा चौबीस वर्ष की आयु के पुरुष को आठ वर्ष की कन्या से विवाह करना चाहिए। और यदि अग्निहोत्रादि धर्म का नाश होता हो तो शीघ्र भी विवाह किया जा सकता है। पति देवताओं की दी हुई स्त्री को पाता है अपनी इच्छा से नहीं, इसलिए देवताओं के प्रीत्यर्थ उस सती का पालन पोषण नित्य करना चाहिए। ईश्वर ने गर्भ धारणार्थ स्त्रियों को रचा और सन्तान पैदा करने के लिए पुरुष को रचा है इसलिए स्त्री-पुरुष को साथ में धर्माचरण करना चाहिए यह वेदों में

में कहा गया है। आतुरविवाह के लिए कन्या का मूल्य दिया हो और उसका पति मर जाय तो कन्या की इच्छा से देवर का विवाह कर देना चाहिए ॥९४-९७॥

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन् ।
शुल्कं हि गृह्णन् कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ ॥९८॥
एतत् तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः ।
यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥ ॥९९॥
नानुशुश्रुम जात्वेतत् पूर्वेष्वपि हि जन्मसु ।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ ॥१००॥
अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः ।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ ॥१०१॥

कन्यादान में शूद्र को भी धन ग्रहण नहीं करना चाहिए। शुल्क ग्रहण करने वाला छिप कर कन्या बेंचने वाला माना जाता है। यह कर्म पहले सत्पुरुषों ने नहीं किया था और न इस समय भी शिष्ट पुरुष ऐसा करते हैं जोकि एक को कन्यादान करके दूसरे को कन्या दी जाए। पूर्व कल्पों में भी कन्या-विक्रय नहीं सुना गया। स्त्री पुरुष को मरण पर्यन्त आपस में प्रेमपूर्वक रहकर धर्म आदि चतुर्वर्ग फल को प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार स्त्री-पुरुपों का परम धर्म संक्षेप से कहा गया है। ॥९८-१०१॥

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥   ॥१०२॥
एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायधर्मं निबोधत ॥ ॥१०३॥

स्त्री-पुरुष को विवाह करके ऐसा व्यवहार करना चाहिए, जिसमें धर्माचरण में अलग होने की अवांछित घटना नहीं हो। यह स्त्री-पुरुषों का धर्म और आपदकाल में सन्तान विधि कही गई है। अब दायभाग की व्यवस्था सुनो ॥१०२-१०३ ॥

दायभाग-व्यवस्था

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।
भजेरन् पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ ॥१०४॥
ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः ।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ ॥१०५॥
ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।
पितृणामनृणश्चैव स तस्मात् सर्वमर्हति ॥ ॥१०६॥
यस्मिनृणं संनयति येन चानन्त्यमश्नुते ।
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान् विदुः ॥ ॥१०७॥
पितेव पालयेत् पूत्रान् ज्येष्ठो भ्रातृन् यवीयसः ।
पुत्रवत्चापि वर्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ ॥१०८॥
ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।
ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥ ॥१०९॥

पिता और माता की मृत्यु के बाद, भाई आपस में पिता की सम्पत्ति बाँट ले पर उनके जीवेत रहते हुए पुत्रों का अधिकार नहीं होता। बड़े भाई को पिता का समस्त धन ग्रहण करना चाहिए और शेष भाई जैसे पिता की आज्ञा में जीविका चलाते थे, वैसे ही भाई के वश में रहकर करना चाहिए करें। बड़े पुत्र का जन्म होने से मनुष्य पुत्रवान होता है और पितृऋण से छूटता है, इसलिए वह समस्त धन लेने योग्य है। जिस के उत्पन्न होने से, पितृऋण दूर होता है और मोक्ष प्राप्त

होता है वही धर्म पुत्र है। दूसरों को काम से उत्पन्न जानना चाहिए। बड़े भाई को छोटे भाइयों फा पालन पिता के समान करना चाहिए और छोटे भाई को बड़े भाई के साथ पिता के समान धर्मानुसार व्यवहार करना चाहिए। ज्येष्ठ कुल को बढ़ाता है और ज्येष्ठ ही कुल का नाश करता है, ज्येष्ठ गुणवान् जगत् में पूज्य है और कभी सत्पुरुषों में निंदा नहीं पाता है ॥१०४-१०९॥

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान् मातैव स पितैव सः ।
अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात् स सम्पूज्यस्तु बन्धुवत् ॥ ॥११०॥
एवं सह वसेयुर्वा पृथग् वा धर्मकाम्यया ।
पृथग् विवर्धते धर्मस्तस्माद् धर्म्या पृथक्क्रिया ॥ ॥१११॥
ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद् वरम् ।
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात् तुरीयं तु यवीयसः ॥ ॥११२॥
ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् ।
येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान् मध्यमं धनम् ॥ ॥११३॥

जो बड़ा भाई पिता के समान पोषण और व्यव्हार करे वह माता-पिता के समान है। और जो वैसा व्यवहार न करे तो बन्धुवत् पूज्य है। भाइयों ने यदि विभाग नहीं किया हो तो साथ रहना चाहिए और यदि विभाग कर लिया हो तो अलग अलग रहना चाहिए। अलग रहने से धर्म-कर्म अधिक होता है, इसलिए अलग रहना धर्मानुकूल है। बड़े भाई को बीसवां भाग अधिक भाग हैं और सभी पदार्थों में जो उत्तम हो वह भी देना चाहिए । मध्यम भाई को इसका आधा चालीसवां भाग और छोटे को अस्सीवाँ भाग देना चाहिए और जो बच जाए वह सभी भाइयों मे बराबर बाँट लेना चाहिए। बड़ा और सबसे छोटा भाई इस प्रकार अपना भाग ले और दूसरे भाइयों का मध्यम भाग होना चाहिए ॥ ११०-११३ ॥

सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः ।
यच्च सातिशयं किं चिद् दशतश्चाप्नुयाद् वरम् ॥ ॥११४॥
उद्धारो न दशस्वस्ति सम्पन्नानां स्वकर्मसु ।
यत् किं चिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम् ॥ ॥११५॥
एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान् प्रकल्पयेत् ।
उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥ ॥११६॥
एकाधिकं हरेज् ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥ ॥११७॥

बड़ाभाई गुणवान हो और दूसरे गुणहीन हो तो समस्त सम्पत्ति में जो श्रेष्ठ वस्तु हैं वह बड़े भाई को मिलनी चाहिए और गौ इत्यादि वगैरह दस पशुओं में जो श्रेष्ठ हो वह भी बड़े भाई को ही मिलनी चाहिए। यदि सभी भाई गुणी हो तो बड़े भाई को दसों से श्रेष्ठ वस्तु न देकर, उसके सन्मानार्थ कुछ वस्तु अधिक दे देनी चाहिए। इस प्रकार बीसवां भाग निकालकर बाकी का बराबर भाग करना चाहिए। और बीसवां अलग न किया हो तो इस प्रकार बंटवारा करना चाहिए- बड़े भाई का एक भाग अधिक अर्थात दो भाग उससे छोटा डेढ़ भाग और उससे छोटे भाई सबको एक एक भाग ग्रहण करना चाहिए -यह धर्म व्यवस्था है ॥११४-११७॥

स्वेभ्योंशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्।
स्वात् स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥ ॥११८॥
अजाविकं सेकशफं न जातु विषमं भजेत् ।
अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ॥११९॥
यवीयान्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद् यदि ।

समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ ॥१२०॥
उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते ।
पिता प्रधानं प्रजने तस्माद् धर्मेण तं भजेत् ॥ ॥१२१॥
पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः ।
कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत् संशयो भवेत् ॥ ॥१२२॥
एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्वजः ।
ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥ ॥१२३॥
ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेद् वृषभषोडशाः ।
ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥ ॥१२४॥
सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।
न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥ ॥१२५॥

प्रत्येक भाई को अपने भाग में से चौथा भाग अपनी कुमारी बहन को देना चाहिए। जो नहीं देते वह पतित होते हैं। बकरी, भेंड़, घोड़ा आदि एक खुरवाले पशुओं का समान भाग करना चाहिए और कम हो तो न नहीं बांटने चाहियें, क्योंकि वह सभी बड़े भाई के ही होते हैं । छोटा भाई बड़े की स्त्री में नियोग विधि से पुत्र पैदा करे तो उस पुत्र और चाचा का समान भाग करे-यह धर्म है । क्षेत्रज पुत्र गौण होता है, इसलिए वह पिता का समस्त भाग धर्मानुसार नहीं ले सकता। पुत्र पैदा करने में पिता मुख्य है, इस कारण क्षेत्रज पुत्र का भाग पूर्वरीति से करना चाहिए। प्रथम स्त्री में पुत्र पीछे और द्वितीय स्त्री में प्रथम हो तो, उनका भाग कैसे होना चाहिए ? प्रथम स्त्री का पुत्र एक बैल अधिक ले और उसी माता से पैदा हुए छोटे भाईयों को मामूली बैल लें चाहिए। यदि ज्येष्ठ पुत्र, दूसरी स्त्री का हो तो एक बैल और पन्द्रह गौ लेनी चाहिए और दूसरे भाइयों को अपनी माता के अधिकारनुसार बाँट लेना चाहिए परन्तु एक जाति की स्त्रियों में पुत्र पैदा हो तो उनको

समान मानना चाहिए, माता के बड़ी होने से पुत्र बड़े नहीं होते, किन्तु जन्म से बड़ाई होती है ॥११८-१२५॥

जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम् ।
यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ ॥१२६॥
अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन् मम स्यात् स्वधाकरम् ॥ ॥१२७॥
अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः ।
विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥ ॥१२८॥
ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।
सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥ ॥१२९॥

जिसका जन्म पहले हुआ हो उस पुत्र का नाम लेकर, 'अमुक का पिता यजन करता है'-ऐसा ज्योतिष्टोम में 'सुब्रह्मण्य मन्त्र' बोलकर इन्द्र का आवाहन होता है। और दो साथ ही पैदा हुए हो, तो भी पहला ज्येष्ठ कहलाता है। जिसके पुत्र न हो वह कन्या दान के समय जामाता से नियम करे की इस कन्या ले जो पुत्र होगा वह मेरा श्राद्ध आदि कर्म करेगा। पहले दक्षप्रजापति ने अपने वंश की वृद्धि के लिए इसी विधि से कन्या को पुत्रिकाएं की थी। दक्ष ने प्रसन्न होकर धर्म को दस, कश्यप को तेरह और राजा सोम को सत्ताईस पुत्री दान में दी थीं ॥१२६-१२६॥

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ ॥१३०॥
मातुस्तु यौतकं यत् स्यात् कुमारीभाग एव सः ।
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ ॥१३१॥
दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ।

स एव दद्याद् द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥ ॥१३२॥
पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः ।
तयोर्हि मातापितरौ संभूतौ तस्य देहतः ॥ ॥१३३॥

जैसी आत्मा है वैसा ही पुत्र है और पुत्र और पुत्री समान हैं। इसलिए पिता की आत्मारूप-पुत्री वैठी हो तो दूसरा धन कैसे ले जाय ? जो धन माता को दहेज में मिला हो वह कन्या' का ही भाग है। और पुत्रहीन का सब धन दौहित्र का ही है। जिसको पुत्रिका किया हो उसके पुत्र को अपुत्र-पिता का धन लेना चाहिए और उसी को पिता और नाना को पिण्डदान करना चाहिए। लोक में धर्मानुसार पौत्र और दौहित्र में कुछ भेद नहीं है । क्योंकि दोनों के माता-पिता एक ही देह से उत्पन्न हुए हैं ॥ १३०-१३३॥

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।
समस्तत्र विभागः स्यात्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥ ॥१३४॥
अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथं चन ।
धनं तत् पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाविचारयन् ॥ ॥१३५॥
अकृता वा कृता वाऽपि यं विन्देत् सदृशात् सुतम् ।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात् पिण्डं हरेद् धनम् ॥ ॥१३६॥
पुत्रेण लोकान्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥ ॥१३७॥
पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः
। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ ॥१३८॥

यदि पुत्रिका करने के बाद अपने पुत्र हो जाय तो पुत्र और दौहित्र का समान भाग करना चाहिए। उसमें कन्या की श्रेष्ठता नहीं मानी जाती। पुत्रिका होने वाली, कन्या मर जाय तो उसके पति को उसका समस्त

धन लेना चाहिए। पुत्रिका विधान किया हो अथवा न किया हो, समान जाति वाले जामाता से जिस पुत्र को प्राप्त करें उसी से नाना पौत्रवान होता है, उसी को पिण्डदान करना चाहिए और धन लेना चाहिए। पुरुष पुत्र से स्वर्गलोक को जीतता है, पौत्र से धनन्त-सुख पाता है और पुत्र के पौत्र से सूर्यलोक को पाता है । पुत्र 'पुन्नाम' नामक नरक से पिता को बचाता है इसलिए ब्रह्मा ने स्वयं 'पुत्र' संज्ञा की है॥१३४-१३ ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते ।
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत् ॥ ॥१३९॥
मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत् पुत्रिकासुतः ।
द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः ॥ ॥१४०॥
उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः ।
स हरेतैव तद्रिक्थं सम्प्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥ ॥१४१॥

लोक में पौत्र और दौहित्र में कुछ अन्तर नहीं है । दौहित्र भी नाना को पौत्र की भांति स्वर्ग पहुँचाता है। पुत्रिका-पुत्र को पहला पिण्ड माता को देना चाहिए, दूसरा-माता के पिता को देना चाहिए, तीसरा-नाना के पिता को देना चाहिए। जिसका दत्तक (गोद लिया) पुत्र, सर्वगुण संपन्न हो, वह दूसरे गोत्र से आकर भी उसकी सम्पत्ति का अधिकारी होता है ॥१३६-१४१॥

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद् दत्त्रिमः क्व चित् ।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥ ॥१४२॥
अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्याऽप्तश्च देवरात् ।
उभौ तौ नार्हतो भागं जारजातककामजौ ॥ ॥१४३॥
नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः ।

नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः ॥ ॥१४४॥
हरेत् तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः ।
क्षेत्रिकस्य तु तद् बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥ ॥१४५॥
धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च । सो
ऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात् तस्यैव तद्धनम् ॥ ॥१४६॥

दत्तक पुत्र अपने उत्पादक पिता के गोत्र और धन को नहीं पा सकता। जिसका गोत्र और धन पाता है, उसी को पिण्डदान दे सकता है। बिना नियोगविधि से पैदा पुत्र और पुत्रवाली के देवर से उत्पन पुत्र ये दोनों भी पिता के धन के अधिकारी नहीं होते क्योकि यह जारज और कामज हैं। नियुक्त स्त्री में भी विधान के बिना पैदा हुआ पुत्र, पिता का धन नहीं पा सकता क्योंकि वह पतित से पैदा हुआ है परन्तु विधि से नियुक्त स्त्री मे उत्पन्न पुत्र औरस पुत्र के समान है। यह क्षेत्रवाले का बीज है-धर्म से उत्पन्न हुआ है । जो पुरुष मृत भाई की स्त्री और उस के धन का ग्रहण करे, उसको नियोग विधि से पुत्र उत्पन्न करके उसको भाई का समस्त धन उस पुत्र को दे देना चाहिए ॥ १४२-१४६॥

या नियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद् वाऽप्यवाप्नुयात् ।
तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ ॥१४७॥
एतद् विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु ।
बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥ ॥१४८॥
ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः ।
तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः ॥ ॥१४९॥

जो नियुक्त-स्त्री दूसरे पुरुष से पुत्र पैदा करे यह पुत्र कामज कहलाता है और पिता की सम्पत्ति के अयोग्य है। एक जाति की स्त्रियों में पैदा

हुए पुत्रों के विभाग की यह रीति है। अब एक पुरुष से अनेक जाति की स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों का विभाग सुनो। ब्राह्मण के यदि क्रम से चारों वर्ण की स्त्रियाँ हों तो उनमें पुत्र पैदा होने पर इस प्रकार विभाग करे ॥ १४७-१४६ ॥

कीनाशो गोवृषो यानमलङ्कारश्च वेश्म च ।
विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥ ॥१५०॥
त्र्यंशं दायाद् हरेद् विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः ।
वैश्याजः सार्धमेवांशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ ॥१५१॥
सर्वं वा रिक्थजातं तद् दशधा परिकल्प्य च । ध
र्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित् ॥ ॥१५२॥
चतुरानंशान् हरेद् विप्रस्त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः ।
वैश्यापुत्रो हरेद् द्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ ॥१५३॥
यद्यपि स्यात् तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत् ।
नाधिकं दशमाद् दद्यात्शूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ ॥१५४॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक् ।
यदेवास्य पिता दद्यात् तदेवास्य धनं भवेत् ॥ ॥१५५॥

'खेती का बैल, सांड़, सवारी का घोड़ा, गहना, रहने का स्थान और जो कीमती चीज़ हो उनको ब्राह्मणो के पुत्र को देना चाहिए। ब्राह्मणी के पुत्र को धन में तिहाई हिस्सा मिलना चाहिए, क्षत्रिया के पुत्र को दो भाग, वैश्या के पुत्र को डेढ़ भाग और शूद्रा के पुत्र को एक भाग मिलना चाहिए। अथवा समस्त सम्पत्ति का दस भाग करके धर्मज्ञ पुरुष धर्मानुसार इस प्रकार भाग करे-ब्राह्मणीपुत्र को चार भाग, क्षत्रियापुत्र को तीन भाग, वैश्यापुत्र को दो भाग और शूद्रापुत्र को एक भाग। यद्यपि सत्पुत्र हो अथवा असत्पुत्र हो पर धर्म से शूद्रापुत्र को दशभाग से अधिक नहीं देना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के शुद्रा

से पुत्र हो तो वह धन का भागी नहीं होता। जो कुछ पिता उसको प्रेमपूर्वक दे वही उसका धन होता है ॥१५०-२५५ ॥

समवर्णासु वा जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम् ।
उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम् ॥ ॥१५६॥
शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते ।
तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ ॥१५७॥

समान वर्ण की स्त्रियों में जो पुत्र उत्पन्न हों, उनमें बड़े भाई को कुछ अधिक देकर, बाकी सम्पत्ति को समान रूप से बाँट लेना चाहिए। शुद्र की समान जाति ही की भार्या होती है, दूसरे वर्ण की विधि नहीं है। उसमें यदि सौ पुत्र भी हो तो भी वह समान-भाग के ही अधिकारी होंगे ॥ १५६-१५७॥

पुत्रान् द्वादश यानाह नृणां स्वायंभुवो मनुः ।
तेषां षड् बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः ॥ ॥१५८॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च । गू
ढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥ ॥१५९॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा । स्व
यंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥ ॥१६०॥
यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः संतरञ्जलम् ।
तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरंस्तमः ॥ ॥१६१॥
यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ ।
यस्य यत् पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नैतरः ॥ ॥१६२॥
एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः ।
शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात् तु प्रजीवनम् ॥ ॥१६३॥
षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात् पैतृकाद् धनात् ।

औरसो विभजन् दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ ॥१६४॥
औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ ।
दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥ ॥१६५॥

स्वायम्भुव मनुने मनुष्यों के जो बारह पुत्र कहे हैं, उनमें छ: बान्धव और दायाद कहलाते हैं और छः अदायाद-अबान्धव हैं। औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न और अपविद्ध ये छः दायाद् (सम्पत्ति के भागी) बांधव हैं । कानीन, सहोढज, क्रीतक, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शौद्र ये छः अदायाद-अबान्धव हैं। टूटी फूटी नाव से जल तैरता हुआ जैसा फल पाता है, वैसा ही फल कुपुत्रों से नरकपार होने में पिता आदि को भी प्राप्त होता है। यदि अपुत्र के क्षेत्र में नियोगविधि से एक पुत्र हो, और किसी प्रकार दूसरा औरस पुत्र भी हो जाय तो दोनों क्षेत्रज-औरस अपने अपने पिता की सम्पत्ति के भागी है । एक औरस पुत्र ही पिता के धन का भागी होता है, शेष सभी को दयावश, अन्न-वस्त्र इत्यादि दे देना चाहिए। औरस पुत्र पिता की सम्पत्ति का विभाग करे तो क्षेत्रज को छठां या पांचवां भाग देना चाहिए। औरस और क्षेत्रज उक्त रीति से पितृधन के अधिकारी हैं। बाकी दस पुत्र, क्रम से गोत्रधन के भागी हैं । १५८-१६५॥

पुत्रों की संज्ञा

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद् हि यम् ।
तमौरसं विजानीयात् पुत्रं प्राथमकल्पिकम् ॥ ॥१६६॥
यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥ ॥१६७॥
माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः ॥ ॥१६८॥

सदृशं तु प्रकुर्याद् यं गुणदोषविचक्षणम् ।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥ ॥१६९॥
उत्पद्यते गृहे यस्तु न च ज्ञायेत कस्य सः ।
स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद् यस्य तल्पजः ॥ ॥१७०॥
मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥ ॥१७१॥
पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद् रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥ ॥१७२॥
या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञाताऽपि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥ ॥१७३॥

विवाह-संस्कार से सवर्णा स्त्री में जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसको औरस कहते हैं-वह मुख्य है । मृत, नपुंसक और रोगी की स्त्री में नियोग से जो पुत्र होता है वह 'क्षेत्रज' है । माता पिता प्रसन्नता से जल लेकर आपत्ति में जिसको देदें – वह दत्रिम (दत्तक) पुत्र कहलाता है। जो सजातीय, गुण-दोषज्ञ और पुत्र गुणों से युक्त हो, वह पुत्र कर लिया जाय तो 'कृत्रिम ' कहलाता है । जिसके घर पुत्र पैदा हो, पर यह न मालूम हो किसका है ? वह घर में गुप्तरीति से पैदा ‘गूढोत्पन्न' जिसकी स्त्री में हो, उसका है। माता-पिता अथवा एक ही ने जिसको त्याग दिया हो उसका जो पालन करे वह उसका ‘अपविद्ध' पुत्र कहलाता है। अपने पिता के घर, सजातीय पुरुप से, एकान्त में कन्या जो पुत्र पैदा करे उसको 'कानीन' कहते हैं। यह उस कन्या से विवाह करनेवाले का होता है। जो ज्ञात अथवा, अज्ञात गर्भिणी के साथ विवाह किया जाय वह उसी पति का गर्भ है और उसको 'सहोढ' कहते हैं ॥ १६६-१७३ ॥

क्रीणीयाद् यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।

स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥ ॥१७४॥
या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत् पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ ॥१७५॥
सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागताऽपि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ ॥१७६॥
मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानमर्पयेद् यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥ ॥१७७॥
यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत् सुतम् ।
स पारयन्नेव शवस्तस्मात् पारशवः स्मृतः ॥ ॥१७८॥
दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् ।
सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ ॥१७९॥

जो अपनी उत्तर क्रिया के लिए माता-पिता से जिस पुत्र को खरीदता है, चाहे वह खरीददार के समान हो अथवा न हो, वह उसका 'क्रीतक पुत्र' होता है। पति की त्यागी या विधवा स्त्री दूसरे की स्त्री होकर पुत्र जने उसको 'पौनर्भव' कहते हैं। वह पति की त्यागी अथया विधवा स्त्री अक्षतयोनि हो तो, प्रायश्चित्त करके दूसरे-पुनर्भू पति के पास रह सकती है । जो माता-पिता से हीन हो, बिना कारण ही जिस पुत्र को माता-पिता ने त्याग दिया हो, वह, अपने को जिसे दे दे वह "स्वयंदत्त" पुत्र कहाता हैं । ब्राह्मण कामना से शूद्रा में जिस पुत्र को पैदा करे, वह जीता ही मुर्दा के सामन है इसलिये उसे 'पारशव' कहते हैं। शुद्र का दासी में या दास की स्त्री में जो पुत्र हो, वह पिता की आज्ञा से अपना भाग ले – यह धर्ममर्यादा है ॥१७४-१७९॥

क्षेत्रजादीन् सुतानेतानेकादश यथोदितान् ।
पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान् मनीषिणः ॥ ॥१८०॥
य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः ।

यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नैतरस्य तु ॥ ॥१८१॥

यह क्षेत्रज आदि जो ग्यारह पुत्र कहे हैं, उनको पितर क्रिया का लोप न हो इस कारण पुत्र-प्रतिनिधि आचार्यों ने कहा है। ये औरस पुत्र के प्रसङ्ग से जो दूसरे के वीर्य से उत्पन्न हुए पुत्र कहे गए है, वह जिन के वीर्य से पैदा हुए है उन्ही के हैं -दूसरों के नहीं हैं ॥१८०-१८१॥

भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत् पुत्रवान् भवेत् ।
सर्वांस्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥ ॥१८२॥
सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत् पुत्रिणी भवेत् ।
सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥ ॥१८३॥
श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान् रिक्थमर्हति ।
बहवश्चेत् तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥ ॥१८४॥
न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः ।
पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥ ॥१८५॥

सहोदर भाइयों में यदि एक भी पुत्रवान् हो तो उस पुत्र से सभी भाई पुत्रवान हैं-ऐसा मनुजी कहते हैं। एक पुरुष की कई स्त्रियों में जो एक भी पुत्रवाली हो तो उससे सभी पुत्रवाली कहलाती हैं। औरस आदि पहले पहले पुत्र न हो तो अगले अगले पुत्र, पिता के धन के अधिकारी होते हैं और यदि बहुत से पुत्र समान ही हों तो, सभी धन के अधिकारी हैं। पिता के धन को लेने वाले पुत्र ही हैं, न सहोदर भाई है न पिता इत्यादि ही हैं। परन्तु पुत्र हीन का धन उसका पिता अथवा भाई ले सकता है । ॥१८२-१८५ ॥

त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते ।
चतुर्थः सम्प्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ ॥१८६॥

अनन्तरः सपिण्डाद् यस्तस्य तस्य धनं भवेत् ।
अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥ ॥१८७॥
सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः ।
त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥ ॥१८८॥
अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः ।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ ॥१८९॥

बाप, दादा और परदादा इन तीन को जल और पिण्डदान होता। पिण्ड देनेवाला चौथा होता है-पाँचवें का सम्बन्ध नहीं है। जो सपिण्डों में अधिक समीप हो, उसका धन होता है। वह न हो तो कुलपुरुष, वह भी न हो तो आचार्य, वह भी न हो तो शिष्य अधिकारी होता है। यह सब भी न हो तो धन ब्राह्मण पाते हैं, परन्तु वह ब्राह्मण तीनों वेदों के ज्ञाता, भीतर-बाहर से पवित्र जितेन्द्रिय होने चाहिए, जिससे श्राद्धादि कर्मों में हानि नहीं पहुँचे । कोई लेने वाला न भी हो, तब भी ब्राह्मण का धन राजा को नहीं लेना चाहिए धर्ममर्यादा है। परन्तु दूसरे वर्णों का धन, कोई लेनेवाला न हो तो राजा ले सकता है ॥१८६-१८९॥

संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात् पुत्रमाहरेत् ॥
तत्र यद् रिक्थजातं स्यात् तत् तस्मिन् प्रतिपादयेत् । ॥१९०॥
द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने ।
तयोर्यद् यस्य पित्र्यं स्यात् तत् स गृह्णीत नैतरः ॥ ॥१९१॥
जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।
भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥ ॥१९२॥
यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ।
मातामह्या धनात् किं चित् प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ ॥१९३॥

कोई पुत्रहीन मर जाय तो उसके सगोत्र में सें पुत्र ले कर उस पुरुष के धन हो, उसे सौंप देना चाहिए। एक स्त्री में दो पुरुषों से पैदा 'दो पुत्र, औरस-पौनर्भव यदि धन के लिए विवाद करें तो, जिसके पिता का जो धन हो उसको वही लेना चाहिए, दूसरा को वह धन नहीं मिलना चाहिए । माता के मरने पर सभी सहोदर भाई और कुमारी बहनों को माता के धन को एक समान बाँट लेना चाहिए र उन लड़कियों की जो अविवाहित हों उनको नानी के धन में से कुछ प्रसन्नता पूर्र्वक दे देना चाहिए ॥१९०-१९३॥

स्त्रीधन आदि

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि ।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड् विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ ॥१९४॥
अन्वाधेयं च यद् दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत् ।
पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद् धनं भवेत् ॥ ॥१९५॥
ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद् वसु ।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरिव तदिष्यते ॥ ॥१९६॥
यत् त्वस्याः स्याद् धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।
अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ ॥१९७॥

विवाह काल में अग्नि के समीप पिता आदि का दिया, ससुराल में पाया हुआ आभूषण इत्यादि, पति का दिया, पिता का दिया, भाई का दिया और माता से पाया ये छः प्रकार के स्त्रीधन कहे हैं। विवाह में पति की तरफ से मिला धन और खुशी से पति का दिया धन, पति के जीते स्त्री मर जाय तो वह धन उसके पुत्र का होता है। ब्राह्म, देव, आर्ष, गान्धर्व और प्राजापत्यनामक विवाहों में स्त्रियों को जो धन मिलता है वह स्त्री सन्तानहीन मर जाय तो उसके पति का होता है। और

आसुरादि विवाहों में जो स्त्री को धन मिले वह स्त्री सन्तानहीन मर जाय तो उसके माता-पिता का होता है ॥ १९४-१९७॥

स्त्रियां तु यद् भवेद् वित्तं पित्रा दत्तं कथं चन ।
ब्राह्मणी तद् हरेत् कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥ ॥१९८॥
न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद् बहुमध्यगात् ।
स्वकादपि च वित्ताद् हि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥ ॥१९९॥
पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन् दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥ ॥२००॥
अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च के चिन्निरिन्द्रियाः ॥ ॥२०१॥
सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा ।
ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद् भवेत् ॥ ॥२०२॥

स्त्री के पास किसी भी प्रकार का धन जो पिता का दिया हो, वह उसकी ब्राह्मणी कन्या को ग्रहण करना चाहिए अथवा उसकी सन्तान को ग्रहण करना चाहिए। बहुत कुटुम्बवाले परिवार में स्त्री धन संचय नहीं करना चाहिए और पति की आज्ञा बिना अपने धन में से भी आभूषण इत्यादि भी नहीं बनवाने चाहिए। पति के जीते स्त्रियों का जो गहना हो, उसको हिस्सेदार न बांटे-ऐसा करने वाले पतित हो जाते हैं । नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, बधिर, उन्मत्त, जड़, मूक, और जो जन्म से निरिन्द्रिय हो, यह सभी पिता, के धन में भाग नहीं होते। इन सबको जीवनभर यथाशक्ति भोजन वस्त्र इत्यादि जीवन निर्वाह खर्च देना चाहिए, न देने से पतित होता है ॥ १९८-२०२॥

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात् क्लीबादीनां कथं चन ।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ ॥२०३॥

यत् किं चित् पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति ।
भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिनः ॥ ॥२०४॥
अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद् धनं भवेत् ।
समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥ ॥२०५॥

यदि नपुंसक आदि के किसी प्रकार विवाह से क्षेत्रज सन्तान पैदा हों तो उनके सन्तान धन के भागी होते हैं। पिता की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ पुत्र धन मिलना चाहिए यदि छोटा भाई विद्वान् हो तो उस में भी उसका भाग होता है। सभी भाइयों का यदि व्यापार आदि से कमाया संयुक्त धन हो तो उसमें पिता का धन छोड़कर समान भाग करना चाहिए, यह धर्मशास्त्र को मर्यादा है ॥२०३-२०५॥

विद्याधनं तु यद्यस्य तत् तस्यैव धनं भवेत् ।
मैत्र्यमोद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ ॥२०६॥
भ्रातॄणां यस्तु नैहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा ।
स निर्भाज्यः स्वकादंशात् किं चिद् दत्त्वोपजीवनम् ॥ ॥२०७॥
अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् ।
स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ ॥२०८॥
पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।
न तत् पुत्रैर्भजेत् सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥ ॥२०९॥
विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन् पुनर्यदि ।
समस्तत्र विभागः स्याज् ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥ ॥२१०॥
येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः ।
म्रियेतान्यतरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते ॥ ॥२११॥
सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् ।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ ॥२१२॥
यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद् भ्रातॄन् यवीयसः ।

सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥ ॥२१३॥

जिसको जो धन विद्या से प्राप्त हो वह उसी का है। मित्र से, विवाह में और मधुपर्क में जो धन जिसको मिले वह उसी का है। जो अपने पुरुषार्थ से धन कमा सकता है और भाइयों के साधारण धन को न चाहता हो उसको कुछ निर्वाह योग्य देकर अलग कर देना चाहिए। पिता के धन को हानि न पहुँचाकर, अपने परिश्रम से जो धन प्राप्त हो यदि उसमे इच्छा न हो तो भाइयों को भाग नहीं देना चाहिए। पिता के पिता का धन जिसको कोई नहीं पा सका हो उसको पिता को प्राप्त करना चाहिए यदि इच्छा न उअका बंटवारा नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह उसने स्वयं प्राप्त किया है। भाई एक बार अलग होकर फिर साथ रहें और दुबारा बंटवारा करना चाहे तो समान भाग करना चाहिए, उस समय बड़े भाई का भाग अधिक नहीं होना चाहिए। जिन भाइयों में बड़ा वा छोटा भाई बंटवारे के समय संन्यासी हो गया हो अथवा मर गया हो तो भी उसका भाग नष्ट नहीं होता। यादे उसके पुत्र, पुत्री, स्त्री, माता-पिता न हो तो सगे भाई या सहोदर बहनों को आपस में विभाग कर लेना चाहिए। यदि बड़ा भाई, छोटे भाई को लोभ से धोखा दे तो उसको बड़ा नहीं मानना चाहिए, अधिक भाग नहीं देना चाहिए और राजा को उसको दण्ड देना चाहिए। ॥२०६-२१३ ॥

सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् ।
न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत योतकम् ॥ ॥२१४॥
भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत् सह ।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात् कथं चन ॥ ॥२१५॥
ऊर्ध्वं विभागात्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद् धनम् ।
संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥ ॥२१६॥

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद् धनम् ॥ ॥२१७॥
ऋणे धने च सर्वस्मिन् प्रविभक्ते यथाविधि ।
पश्चाद् दृश्येत यत् किं चित् तत् सर्वं समतां नयेत् ॥ ॥२१८॥
वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः ।
योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ ॥२१९॥
अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः ।
क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥ ॥२२०॥

भाई यदि विरुद्ध कुकर्म में पड़े हों तो वह धन प्राप्त करने योग्य नहीं होता। बड़े भाई हो छोटे भाई का भाग बिना दिये स्वामी नहीं बनना चाहिए। भाई बाँटकर अलग न हुए हों और सभी साथ रहकर व्यापारादि करते हो तो पिता को पुत्रों को न्यूनाधिक भाग कभी नहीं देना चाहिए। यदि अपने जीवन में ही पिता विभाग कर दे और दूसरा पुत्र उत्पन्न हो जाय तो वह पिता के ही धन का अधिकारी होता है अथवा जो पिता के साथ रहते हो उनसे साथ विभाग करना चाहिए। पुत्र का पुत्र' मर जाय और उसकी स्त्री न हो तो धाय माता को धन प्राप्त करना चाहिए और माता भी न रहे तो पिता की माता को वह भाग प्राप्त होना चाहिए। माता-पिता के धन और ऋण का यथाविधि विभाग कर लेने पर यदि कुछ दूसरी सम्पत्ति का पता लगे तो उसको सभी को समान रूप से बांट लेना चाहिए। वस्त्र, सवारी, गहने आभूषण, पकवान, जल, दासी, मंत्री, पुरोहित और गौ चरने का स्थान इनका विभाग धर्मशास्त्री नहीं करते अर्थात् जो जिसके काम में आए वही उसको रखना चाहिए। इस प्रकार विभाग और क्षेत्रज आदि पुत्र उत्पन्न करने की रीति क्रम से कही गई है । अब द्युत – जुए की व्यवस्था सुनो ॥ २१४-२२० ॥

द्युत – जुआ

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ।
राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ ॥२२१॥
प्रकाशमेतत् तास्कर्यं यद् देवनसमाह्वयौ ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान् भवेत् ॥ ॥२२२॥
अप्राणिभिर्यत् क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ ॥२२३॥
द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात् कारयेत वा ।
तान् सर्वान् घातयेद् राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ ॥२२४॥
कितवान् कुशीलवान् क्रूरान् पाषण्डस्थांश्च मानवान् ।
विकर्मस्थान् शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत् पुरात् ॥ ॥२२५॥
एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ ॥२२६॥
द्यूतमेतत् पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ ॥२२७॥

राजा को अपने देश में जुआ और समाह्वय को दूर करना चाहिए क्योंकि ये दोनों दोष राजा के राज्य का नाश करने वाले होते हैं । जुआ और समाह्वय प्रत्यक्ष लूट हैं, इस कारण राजा को इन दोनों के नाश का यत्न करना चाहिए। जो रुपया-पैसा-कौड़ी आदि निर्जीव से खेला जाय उसको जुआ कहते हैं और तीतर, बटेर आदि जीवों पर जो बाजी लगाई जाती है उसको ' समाहृय' कहते हैं। जो पुरुष जुआ और समाहृय करें या करावें उन सब को और ब्राह्मण वेषधारी शूद्रों को राजा को खूब पिटवना चाहिए। जुआरी, धूर्त, क्रूरकर्मा, पाखण्डी, मर्यादा के खिलाफ़ चलनेवाले और शराबी को राजा अपने नगर से

निकलवा देना चाहिए। क्योंकि राजा के राज्य में यह सभी छिपे चोर के समान हैं अपने कुकर्म से प्रजा को दुःख देते हैं। यह जुआ, पहले कल्प में बड़ा वैर बढ़ानेवाला देखा गया है। इस कारण बुद्धिमान मनुष्यों को हँसी के लिए भी जुआ नहीं खेलना चाहिए ॥२२१-२२७॥

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद् यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ ॥२२८॥
क्षत्रविद् शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन् ।
आनृण्यं कर्मणा गच्छेद् विप्रो दद्यात्शनैः शनैः ॥ ॥२२९॥
स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम् ।
शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यात्नृपतिर्दमम् ॥ ॥२३०॥
ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् ।
धनौष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान् कारयेन्नृपः ॥ ॥२३१॥
कूटशासनकर्तृंश्च प्रकृतीनां च दूषकान् ।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद् द्विष् सेविनस्तथा ॥ ॥२३२॥
तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्व चन यद् भवेत् ।
कृतं तद् धर्मतो विद्यान्न तद् भूयो निवर्तयेत् ॥ ॥२३३॥

जो कोई छिपकर अथवा प्रकटरीति से जुआ खेले उसे राजा को इच्छानुसार दण्ड देना चाहिए। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र दण्ड न दे सकता हो तो उसको मज़दूरी करके दण्ड चुकाना चाहिए और ब्राह्मण को धीरे धीरे दण्ड चुका देना चाहिए। स्त्री, बालक, पागल, बूढा, निर्धन और रोगियों को चाबुक, बेंत और रस्सी से शिक्षा देनी चाहिए। जिन कर्मचारियों को राज्यकार्य सौंपा हो, वह यदि धन के अहंकार से लोगों के काम बिगाड़े तो राजा को उनके समस्त धन हरण कर लेना चाहिए। राजा की तरफ से बनावटी आज्ञा करने वाले, मंत्रियों में भेद करानेवाले, स्त्री, बालक, ब्राह्मण और घातक शत्रु से

मिलनेवाले को राजा को दण्ड देना चाहिए। जिस मामले का न्यायानुसार दण्ड तक निर्णय हो चुका हो उसको पूरा समझ कर पुन: नहीं दोहराना चाहिए ॥२२८-२३३॥

चोर-दुष्टों का निग्रह

अमात्यः प्राग्विवाको वा यत् कुर्युः कार्यमन्यथा ।
तत् स्वयं नृपतिः कुर्यात् तान् सहस्रं च दण्डयेत् ॥ ॥२३४॥
ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः।
एते सर्वे पृथग् ज्ञेया महापातकिनो नराः ॥ ॥२३५॥

मन्त्री और न्यायाधीश जिस मुकदमे को अनदेखा करें उसको राजा को स्वयं देखना और अपराध साबित होने पर उन पर हज़ार पण दण्ड करना चाहिए। ब्रह्मघाती, मद्यप, चोर और गुरुपत्नी से समागम करने वाला इन सबको महापातकी मनुष्य जानना चाहिए ॥२३४-२३५॥

चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् ।
शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ ॥२३६॥
गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः।
स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥ ॥२३७॥
असंभोज्या ह्यसंयाज्या असम्पाठ्याऽविवाहिनः।
चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥ ॥२३८॥
ज्ञातिसंबन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः ।
निर्दया निर्नमस्कारास्तन् मनोरनुशासनम् ॥ ॥२३९॥
प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा यथोदितम् ।
नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् ॥ ॥२४०॥

आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः ।
विवास्यो वा भवेद् राष्ट्रात् सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥ ॥२४१॥
इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः ।
सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ ॥२४२॥
नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम् ।
आददानस्तु तल्लोभात् तेन दोषेण लिप्यते ॥ ॥२४३॥

ये चारों यदि प्रायश्चित्त न करें तो राजा को धर्मानुसार शारीरिक शिक्षा और धन-दण्ड भी करना चाहिए। गुरुपत्नी-गामी के मस्तक में भग-चिह्न, शराबी के मस्तक में मद्यपात्र के आकार का चिन्ह, चोर के कुत्ते के पैर का चिह्न और ब्रह्मघाती के मस्तक में सिरहीन धड़ का चिह्न अंकित करना चाहिए। ऐसे मनुष्य सहभोजन, यज्ञ, वेदाध्ययन और विवाह-सम्वन्ध के अयोग्य होते हैं और इनका श्रौत स्मार्त कर्मों से बहिष्कृत हो, निर्धन पृथिवी पर विचारना ही उचित है। इन चिह्नवाले पातकियों को सम्बन्धि और जातिवालों को त्याग देना चाहिए। उन पर दया नहीं करनी चाहिए, नमस्कार नहीं करना चाहिए, यही मनुजी की आज्ञा है । परन्तु जो महापातकी प्रायश्चित्त कर लें उन के मस्तक में चिह्न अंकित नहीं करके, केवल उत्तम साहस दण्ड करना चाहिए। इन अपराधों में ब्राह्मण को भी 'मध्यम साहस' दण्ड करना चाहिए अथवा धन-परिवार के साथ राज्य से बाहर निकाल देना चाहिए और दूसरे लोग हन पापों को अज्ञानता वश करें तो उनका सर्वस्व छीन लेना चाहिए और यदि जान समझ कर करें तो देश से निकाल देना चाहिए। धार्मिक राजा को महापातकी का धन ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि लोभ से ग्रहण करे तो राजा उस पाप से लिप्त हो जाता है। ॥२३६-२४३॥

अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत् ।

श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥ ॥२४४॥
ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः ।
ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ ॥२४५॥
यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भ्यो धनागमम् ।
तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥ ॥२४६॥
निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक् ।
बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं च न जायते ॥ ॥२४७॥

महापातकी के दण्ड-धन को राजा जल में डालकर वरुण को अर्पण कर देना चाहिए अथवा वेदज्ञ-सदाचारी ब्राह्मण को दे देना चाहिए। पातकी के दण्ड का स्वामी वरुण है क्योंकि वह राजाओं को भी दण्ड देनेवाला है और वेदज्ञ ब्राह्मण सारे जगत् का प्रभु है। जिस देश में राजा पापियों का दण्ड लेकर उसका भोग नहीं करता उस देश में मनुष्य दीर्घजीवी होते हैं और प्रजाओं के धान्य ठीक ठीक पैदा होते हैं, बालक नहीं मरते और उस राज्य मे कोई विकार नहीं होता। ॥२४४-२४७॥

ब्राह्मणान् बाधमानं तु कामादवरवर्णजम् ।
हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥ ॥२४८॥
यावानवध्यस्य वधे तावान् वध्यस्य मोक्षणे ।
अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ ॥२४९॥
उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ ॥२५०॥
एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक् कुर्वन् महीपतिः ।
देशानलब्धान्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥ ॥२५१॥

जानकर ब्राह्मण को कष्ट देनेवाले, नीचजाति के पुरुष को राजा अनेक उपायों ले शारीरिक दण्ड़ देवे । अदण्ड्य को दण्ड देने से राजा को जितना अधर्म होता है उतना ही अपराधी को छोड़ने से होता है। न्यायकारी को धर्म प्राप्त होता है । अठारह प्रकार के दावों में प्रत्येक के परस्पर-विवाद का निर्णय विस्तार से कहा गया है । राजा इस प्रकार सव कार्यों का धर्मानुसार निर्णय करे।' अप्राप्त देशों को लेना और प्राप्त देशों की रक्षा करना, राजा का धर्म है ॥ २४८-२५१॥

सम्यग्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद् यत्नमुत्तमम् ॥ ॥२५२॥
रक्षनादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥ ॥२५३॥
अशासंस्तस्करान् यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ ॥२५४॥
निर्भयं तु भवेद् यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।
तस्य तद् वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥ ॥२५५॥
द्विविधांस्तस्करान् विद्यात् परद्रव्यापहारकान् ।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥ ॥२५६॥
प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ।
प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥ ॥२५७॥
उत्कोचकाश्चोपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा ।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चैक्षणिकैः सह ॥ ॥२५८॥
असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।
शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥ ॥२५९॥

अच्छे प्रकार देश बसाने वाला और शास्त्रानुसार किला बनाने वाले राजा को नित्य चोरों के नाश का पूरा उपाय करना चाहिए।

प्रजापालक राजा सदाचारियों की रक्षा और दुष्टों को दण्ड करने से स्वर्ग गामी होता है। जो राजा चोरों को दण्ड न देकर प्रजा से कर लेता है उसकी प्रजा अप्रसन्न रहती है और वह स्वर्ग से पतित होता है। जिस राजा का देश निर्भय होता है वह देश जल से सींचे वृक्ष की भांति नित्य उन्नति करता है। चार-दूतरूपी आँखवाले राजा दो प्रकार के परद्रव्य हरने वाले चोरों को जानना चाहिए। एक प्रकट, दूसरे अप्रकट। उन में अनेकों प्रकार के व्यापार वाले प्रत्यक्ष चोर हैं और वन में रहने वाले छिपे चोर हैं। रिश्वतखोर, भय दिखाकर धन लेनेवाले, ठग, जुआरी, तुमको धन मिलेगा ऐसी मीठी बातों से बहकानेवाले, ऊपर धार्मिक हृदय में पापी, हाथरेखा देखनेवाले, राजकर्मचारी, धूर्त वैद्य, कारीगर इत्यादि और वेश्या ॥२५२-२५६॥

एवमादीन् विजानीयात् प्रकाशांल्लोककण्टकान् ।
निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥ ॥२६०॥
तान् विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः ।
चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ ॥२६१॥
तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।
कुर्वीत शासनं राजा सम्यक् सारापराधतः ॥ ॥२६२॥
न हि दण्डाद् ऋते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः । स्ते
नानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥ ॥२६३॥
सभाप्रपाऽपूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।
चतुष्पथांश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ ॥२६४॥
जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।
शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥ ॥२६५॥
एवंविधान्नृपो देशान् गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ ॥२६६॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः । विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ ॥२६७॥

इस तरह के इन प्रत्यक्ष ठगों को राजा दूत द्वारा जाने और ब्राह्मणवेश में छिपे फिरनेवाले शूद्रों पर भी दृष्टि रखनी चाहिए। गुप्त, प्रकट, अनेक वेष, और चालाकी से दूतलोग चोरों को पकड़ना चाहिए। राजा सब के अपराधों को जगत् में प्रकट करके उनको उचित दण्ड देना चाहिए। बिना दण्ड के पाप को रोकना असंभव है, पापियों को वश में नहीं रख सकते। सभा, प्याऊ, हलवाई की दुकान, रण्डी का घर, कलाल का घर, अन्न बिकने का स्थान, चौराहा, प्रसिद्ध वृक्ष, समाज, नाच, गान और नाटक के स्थान, पुराने बगीचे, जंगल, कारीगर के घर, खण्डहर, वन और उपवन ऐसे स्थानों की जांच दूतों द्वारा सदा राजा को करवानी चाहिए। चोरों के सहायक, उनका कर्म करनेवाले, चोरी के कामों को जानने वाले और पुराने चोर ऐसे चतुर दूतों से चोरों को पकड़वाकर दण्ड देना चाहिए ॥२६०-२६७॥

भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः।
शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ ॥२६८॥
ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये ।
तान् प्रसह्य नृपो हन्यात् समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥ ॥२६९॥
न होढेन विना चौरं घातयेद् धार्मिको नृपः।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥ ॥२७०॥
ग्रामेष्वपि च ये के चिच्चौराणां भक्तदायकाः।
भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत् ॥ ॥२७१॥
राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान् सामन्तांश्चैव चोदितान् ।
अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ् शिष्याच्चौरानिव द्रुतम् ॥ ॥२७२॥
यश्चापि धर्मसमयात् प्रच्युतो धर्मजीवनः ।

दण्डेनैव तमप्योषेत् स्वकाद् धर्माद् हि विच्युतम् ॥ ॥२७३॥
ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने ।
शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥ ॥२७४॥
राज्ञः कोशापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ।
घातयेद् विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥ ॥२७५॥

दूतो को उन चोरों को खाने-पीने के बहाने, ब्राह्मण दर्शन के उपाय से और वीरता के काम के ढंग से राजद्वार में लाकर पकडवा देना चाहिए। जो वहां पकड़े जाने की डर से न जाएँ और गुप्त राजदूतों के साथ चालाकी करके अपने को बचाते हों, उनको राजा बल पूर्वक पकड़ कर मित्र-जाति भाइयों सहित वध कर देना चाहिए। गांवों में भी जो चोरों का भोजन, उनको ठहरने का स्थान देते हैं अथवा चोरी का माल रखते हैं उनको भी राजा को दण्ड देना चाहिए। चोरों के उपद्रवों में देश और सीमा के रक्षक उदासीन रहें तो उनको भी दण्ड करे देना चाहिए। दान या यज्ञ से निर्वाह करनेवाला ब्राह्मण, मर्यादा से भ्रष्ट हो जाएँ तो उसको भी राजा को दण्ड देना चाहिए। ग्राम लुटता हो, पौ तोड़ी जाती हो, मार्ग में चोर देखने में आयें, उस समय रक्षावाले सिपाही आदि अपराधियों के पकड़ने की चेष्टा न करें तो उनका सर्वस्व छीन कर देश से निकाल देना चाहिए। राजा के खजाना में चोरी करनेवाले, राजा की आज्ञा भंग करनेवाले, शत्रुत्रों में मिले हुए मनुष्यों के हाथ-पैर कटवा कर अनेक कठोर दण्ड देना चाहिए। ॥२६८-२७५॥

संधिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः ।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् ॥ ॥२७६॥
अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत् प्रथमे ग्रहे ।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥ ॥२७७॥

अग्निदान् भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् ।
संनिधातृंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ ॥२७८॥
तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा ।
यद् वाऽपि प्रतिसंस्कुर्याद् दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ ॥२७९॥

जो चोर रात को सेंध लगाकर चोरी करते हैं उनका हाथ कटवा कर तीखी शूलों पर चढवा देना चाहिए। जेब तराश पहली बार पकड़ जावे तो उसकी अंगुली कटवा देना चाहिए। दूसरी बार हाथ-पैर कटवा देना चाहिए। तीसरी बार में वध की आज्ञा दे देनी चाहिए। चोरों को आग, भोजन, शस्त्र और ठहरने का स्थान देनेवाले को और चोरी का माल रखने वाले को चोर की भांति दण्ड देना चाहिए। जो तालाब बिगाड़े उसको जल में डूबवा देना चाहिए अथवा प्रत्यक्ष मरवा देना चाहिए अथवा उससे फिर तालाब बनवाना चाहिए और एक हज़ार पण दण्ड करना चाहिए ॥२७६-२७६॥

कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ।
हस्त्यश्वरथहर्तृंश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ ॥२८०॥
यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् ।
आगमं वाऽप्यपां भिन्द्यात् स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ ॥२८१॥
समुत्सृजेद् राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥ ॥२८२॥
आपद्गतोऽथ वा वृद्धा गर्भिणी बाल एव वा ।
परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥ ॥२८३॥

राजा का अन्न भण्डार, शस्त्रशाला और देवमंदिर तोड़नेवाले को और हाथी, घोड़ा, रथ चुरानेवाले को बिना विचार मृत्युदंड दे देना चाहिए। जो पूर्व से सब के काम में आनेवाले, जलाशय के जल को अपने वश

में कर लेना चाहिए अथवा जल के प्रवाह को रोकना चाहे उसपर ढाई सौ पण दण्ड करना चाहिए। जो नीरोग होकर भी मुख्य सड़कों पर मल आदि अपवित्र वस्तु डाले उस पर दो कार्षापण दण्ड करना चाहिए और वह मल उसी से उठवाना चाहिए। परन्तु रोगी, बूढा, गर्भिणी, बालक ऐसा करे तो उनको मना कर देना चाहिए और वह स्थान शुद्ध करवाना चाहिए, यही मर्यादा है ॥२८०-२८३॥

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्याप्रचरतां दमः ।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ ॥२८४॥
सङ्क्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः ।
प्रतिकुर्याच्च तत् सर्वं पञ्च दद्यात्शतानि च ॥ ॥२८५॥
अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा ।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ ॥२८६॥
समैर्हि विषमं यस्तु चरेद् वै मूल्यतोऽपि वा ।
समाप्नुयाद् दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥ ॥२८७॥
बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत् ।
दुःखिता यत्र दृश्येरन् विकृताः पापकारिणः ॥ ॥२८८॥
प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।
द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ ॥२८९॥
अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः ।
मूलकर्मणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च ॥ ॥२९०॥
अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टा तथैव च ।
मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद् वधम् ॥ ॥२९१॥

चिकित्सा करनेवाले उलटी चिकित्सा करें तो पशु आदि के विषय में ढाई सौ पण और मनुष्यों के विषय में पांच सौ पण दण्ड करना चाहिए। नदी के पुल का काठ, राज पताका का डंडा और मर्तियों

को तोड़ने वाले को उन सबको फिर बनवा देना चाहिए और पांच सौ पण दण्ड देना चाहिए। अच्छी वस्तु को दूषित करने, तोड़ने और मणियों के बुरा बेधने में, ढाई सौ पण दण्ड करना चाहिए। जो समान-मूल्य की वस्तुओं से न्यूनाधिक मूल्य की वस्तुओं का व्यवहार करे, ऐसे मनुष्य को पूर्व अथवा मध्यम साहस का दण्ड देना चाहिए। राजा को मार्ग में बंदीघर बनवाना चाहिए, जिससे दुःखी और पापी सबको दिखाई देने चाहिए। परकोटे को तोड़नेवाले और उसकी खाई को भरनेवाले और राजद्वारों को तोड़नेवालों को तुरंत देश से निकाल देना चाहिए। सब तरह के अभिचारों मारण आदि जिस के ऊपर किया गया हो और वह न मरे, और वशीकरण, उच्चाटन आदि से भी कोई काम न सिद्ध होता हो तो उस पर दो सौ पण दण्ड करना चाहिए। खराब बीजों को बेंचनेवाला या अच्छे में बुरे मिलाकर बेचनेवाला और हद तोड़नेवाले को अंगच्छेद का दण्ड देना चाहिए। ॥२८४-२९१॥

सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः ।
प्रवर्तमानमन्याये छेदयेत्लवशः क्षुरैः ॥ ॥२९२॥
सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ॥२९३॥

सब चोरों में महापापी सुनार यदि कोई दुराचार करे तो राजा को उसको टुकड़े टुकड़े करवा देना चाहिए। खेती के हल, कुदाल आदि शस्त्र और पौधे चुराने पर राजा को देश काल के अनुसार दण्ड देना चाहिए ॥२९२-२९३॥

स्वाम्य्ऽमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत् तथा ।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ ॥२९४॥

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद् व्यसनं महत् ॥ ॥२९५॥
सप्ताङ्गस्यैह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किं चिदतिरिच्यते ॥ ॥२९६॥
तेषु तेषु तु कृत्येषु तत् तदङ्गं विशिष्यते ।
येन यत् साध्यते कार्यं तत् तस्मिंश्रेष्ठमुच्यते ॥ ॥२९७॥
चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम् ।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः॥ ॥२९८॥
पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च ।
आरभेत ततः कार्यं सञ्चिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ ॥२९९॥

राजा, मन्त्री, राज्य, देश, खजाना, दण्ड और मित्र, राज्य शक्ति ये सात प्रकृतियों में क्रम से पहली से अगली श्रेष्ठ है । इसलिए पहले अङ्ग की हानि होने से आगे के अङ्ग पर बड़ा दुःख आ पड़ता है। जैसे तीन दण्ड, एक दूसरे के आधार पर रुके रहते हैं, वैसे सातअंग वाला राज्य भी प्रत्येक अंग के आधार पर टिका रहता है। प्रत्येक अंग अपनी विशेषता से समान हैं। जिससे जो काम सधता है, उसमें वही श्रेष्ठ कहा जाता है। राजा को नित्य दूतों के द्वारा सेना को उत्साह देना चाहिए, सभी कार्यों को ठीक रखना चाहिए और अपने शत्रु की शक्ति को जानना चाहिए । सभी प्रकार की पीड़ा और व्यसनों के उंच नीच पर करके कार्य का प्रारम्भ करना चाहिए। ॥२९४-२९९॥

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ॥३००॥
कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ ॥३०१॥
कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम् ।

कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ॥३०२॥
इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च ।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥ ॥३०३॥

राजा को राज्यवृद्धि के कार्यों को धीरे धीरे करते ही रहना चाहिए क्योंकि कर्म करनेवाले को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग, सभी राजा के कार्यों पर ही आधार रखते हैं क्योकि राजा ही भले-बुरे समय का कारण है: युगस्वरुप है। जब राजा आलस्य, निद्रा में समय बिताता है तो कलियुग, जब "सावधानी से राज्य करता है तो द्वापर, जब अपने कार्यों में लगा रहता है तब त्रेता और जब शास्त्रानुसार कर्मों का संपादन करता है तब सतयुग होता है । इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और पृथ्वी के तेजोमय-प्रकाशमान आचरणों से राजा को जगत में व्यवहार करना चाहिए ॥३००-३०३॥

वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति ।
तथाऽभिवर्षेत् स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ॥३०४॥
अष्टौ मासान् यथाऽदित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥ ॥३०५॥
प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद् हि मारुतम् ॥ ॥३०६॥
यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद् हि यमव्रतम् ॥ ॥३०७॥

जैसे इन्द्र वर्षाऋतु के चार मास जल वर्षा करके प्रजा का मनोरथ पूर्ण फरता है वैसे ही राजा को इन्द्र के आचरण से अपने देश की प्रजा को सन्तुष्ट रखना चाहिए। जैसे आठ मास सूर्य अपने तेज से

पृथ्वी का जल खींच लेता है, वैसे राजा को सूर्य की भांति आचरण करके प्रजा को दुःख न देते हुए राज्य करना चाहिए। जैसे वायु प्राणरूप से सब प्राणियों में विचरण करता है वैसे ही राजा को भी दूतों से अपने देश का समाचार लेते रहना चाहिए। जैसे यम समय पर मित्र-शत्रु सबको शिक्षा देता है, वैसे राजा को यम के समान सारी प्रजा पर शासन करना चाहिए ॥ ३०४-३०७॥

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद् हि वारुणम् ॥ ॥३०८॥
परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन् स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥ ॥३०९॥
प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात् पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ॥३१०॥
यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ॥३११॥
एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः । स्ते
नान् राजा निगृह्णीयात् स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ॥३१२॥

जैसे वरुण अपराधियों को अपने पाशों से बाँधता है, वैसे राजा को वरुण होकर पापियों को दण्ड देना चाहिए। जैसे मनुष्य पूर्ण चन्द्रविम्ब को देखकर खुश होते हैं, वैसे प्रजामण्डल जिस राजा को देख कर खुश होता हो तो उस राजा को चन्द्रव्रतधारी मानना चाहिए। पापियों पर अग्नि के समान प्रताप रखना, दुष्ट मन्त्रियों को मरवा देना यह अग्निव्रत है। जैसे पृथ्वी समस्त प्राणियों को समभाव से धारण करती है, वैसे ही राजा को भी समभाव से प्राणियों का पालन करना चाहिए। इन सभी और दूसरे भी उपायों से राजा को व्यवहार करते

हुए स्वराज्य अथवा परराज्य के चोरों को दण्ड देना चाहिए ॥३०८-३१२॥

ब्राह्मण माहात्म्य

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् ।
ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥ ॥३१३॥
यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः ।
क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत् प्रकोप्य तान् ॥ ॥३१४॥
लोकानन्यान् सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः ।
देवान् कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान् समृध्नुयात् ॥ ॥३१५॥

कोषक्षय आदि बड़ी विपत्ति में पड़कर भी राजा को ब्राह्मणों को कष्ट नहीं देना चाहिए क्योंकि वह लोग कुपित होकर राजा और राज्य का नाश कर देते हैं। जिन ब्राह्मणों ने कुपित होकर अग्नि को सर्वभक्षक, समुद्र को न पीने योग्य और चन्द्रमा को क्षयरोगी कर दिया उन ब्राह्मणों को कुपित करके कौन नष्ट न हो जायगा ? जो ब्राह्मण रुष्ट होकर दूसरे लोक और लोकपालों को रच सकते हैं और देवताओं को शाप देकर नीचयोनि में डाल सकते है उन को दुःख देकर कौन उन्नति कर सकता है ? ॥ ३१३-३१५ ॥'

यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा ।
ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात् ताञ्जिजीविषुः ॥ ॥३१६॥
अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाऽग्निर्दैवतं महत् ॥ ॥३१७॥
श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥ ॥३१८॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ ॥३१९॥

स्वर्गादि लोक और देवता, जिनके आश्रय से टिके रहते हैं और वेद ही जिन का धन है उन ब्राह्मणों को जीने की इच्छा रखने वाला कौन दुखी करेगा? जैसे अग्नि चाहे वेदमन्त्रों से चाहे दूसरे प्रकार से प्रकट हो पर महान् देवता है, वैसे ब्राह्मण विद्वान् या मूर्ख हो महान् देवता है। तेजस्वी अग्नि श्मशान में भी दूषित नहीं होता किन्तु यज्ञ में हवन किया हुआ फिर वृद्धि को प्राप्त होता है। इसी प्रकार ब्राह्मण सब निंदित कर्मों के करने पर भी सर्वथा पूज्य हैं, महान् देवता है। ॥३१६-३१९॥

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान् प्रति सर्वशः ।
ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात् क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ॥३२०॥
अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ॥३२१॥
नाब्रह्म क्षत्रं ऋध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ।
ब्रह्म क्षत्रं च सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ॥३२२॥
दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् ।
पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥ ॥३२३॥

क्षत्रिय यदि ब्राह्मण को दुःख दे तो ब्राह्मणों को ही उनको किसी उपाय से अपने वश में रखना चाहिए क्योंकि ब्राह्मणों से ही क्षत्रिय उत्पन्न हुए हैं। जल से अग्नि, ब्राह्मण से क्षत्रिय, पत्थर ले लोहा पैदा हुआ है । इनको पैदा करनेवाला व्यापक तेज अपने कारण में शान्त हो जाता है। ब्राह्मण की सहायता के बिना क्षत्रिय वृद्धि को प्राप्त नहीं होता और क्षत्रिय की सहायता बिना ब्राह्मण की उन्नति नहीं होती इसलिये

दोनों मिलकर रहें तभी लोक-परलोक में वृद्धि पाते हैं। राजा को दण्ड का सम्पूर्ण धन ब्राह्मणों को देकर और पुत्र को राज्य समर्पण करके रण में प्राण त्यागने चाहिए। ॥३२०-३२३॥

एवं चरन् सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः ।
हितेषु चैव लोकस्य सर्वान् भृत्यान्नियोजयेत्॥ ॥३२४॥
एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ।
इमं कर्मविधिं विद्यात् क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ॥३२५॥

इस प्रकार राजा सदा आचरण कर राजधर्मों का पालन करना चाहिए और लोकहित के कामों में सभी सव कर्मचारियों को नियुक्त करना चाहिए। यह सभी राजा का सनातन-कर्तव्य कहा गया है, अब वैश्य और शूद्र के कर्तव्यों को क्रम से सुनो ॥ ३२४-३२५।।

वैश्य-शूद्रकर्तव्य

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ।
वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात् पशूनां चैव रक्षणे ॥ ॥३२६॥
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् ।
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥ ॥३२७॥
न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथं चन ॥ ॥३२८॥
मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च ।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥ ॥३२९॥
बीजानामुप्तिविद् च स्यात् क्षेत्रदोषगुणस्य च ।
मानयोगं च जानीयात् तुलायोगांश्च सर्वशः ॥ ॥३३०॥

वैश्य को यज्ञोपवीत संस्कार के बाद विवाह करके नित्य व्यापार और पशुरक्षा में तत्पर रहना चाहिए। प्रजापति ने पशुओं की सृष्टि करके उनकी रक्षा का भार वैश्यों को सौंपा और ब्राह्मण, क्षत्रिय को प्रजा का भार सौंपा। इसलिए पशुपालन न करने की इच्छा वैश्य को नहीं करनी चाहिए, जब तक वैश्य पशु पालन करे, तब तक दूसरे वर्ण को पशुपालन कभी नहीं करना चाहिए । मणि, मोती, मूंगा, लोहा, सूत की वस्तु, कपूर और मीठा, घी आदि रसपदार्थों का भाव पर वैश्य को सदा विचार करना चाहिए । सभी बीजों के बोने की विधि, खेतों के गुण-दोष और सब तरह की नाप-तौल को भी जानना चाहिए। ॥३२६-३३०॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् ।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ ॥३३१॥
भृत्यानां च भृतिं विद्याद् भाषाश्च विविधा नृणाम् । द्र
व्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥ ॥३३२॥
धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद् यत्नमुत्तमम् ।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ॥३३३॥
विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् ।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥ ॥३३४॥
शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहङ्कृतः ।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ॥३३५॥
एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः ।
आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ॥३३६॥

व्यापर के अच्छे-बुरे का हाल, देशों में पदार्थों का भाव, गुण आदि, समय में खरीदने, बेचने में मुनाफा इत्यादि और पशुओं के बढ़ने की,रीति वैश्य को जाननी चाहिए। नौकरों की नौकरी का परिमाण,

अनेक भाषा, माल ठीक रखने रहने की विधि, खरीदने-बेचने का ढंग भी जानना चाहिए। धर्मानुसार धन बढ़ाने में परमयत्न करना चाहिए और सभी प्राणियों को अन्न देना, यह सब वैश्यों का कर्तव्य है। वेदविशारद विद्वान्, गृहस्थ, यशस्वी ब्राह्मण आदि की सेवा ही शूद्र का परम सुखदायी धर्म है। जो शूद्र भीतर बाहर से पवित्र, उत्तमजाति का सेवक, मधुरभाषी, निरहंकार और ब्राह्मणों के आश्रय में रहता है, वह क्रम से उत्तम जाति को प्राप्त करता है। इस प्रकार सुख के समय में चारों वर्षों के कर्तव्य शुभकर्म कहे गये हैं। अब आपत्तिकाल में चारों वर्गों का व्यवहार कहा जाता है। ॥ ३३१-३३६॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां स्मृतौ नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥९॥

॥महर्षि भृगु द्वारा प्रवचित मानव धर्म शास्त्र स्मृति का नवां अध्याय समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥ मनुस्मृति ॥

॥अथ दशमोऽध्यायः दसवां अध्याय ॥

संकीर्ण-जातिभेद

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥ ॥१॥
सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद् वृत्त्युपायान् यथाविधि ।
प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ ॥२॥
वैशेष्यात् प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात् ।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ॥३॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ ॥४॥

अपने अपने धर्म कर्मों के अनुसार रहकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को वेदों को पढना चाहिए। इन में ब्राह्मण को सब को पढ़ना चाहिए और क्षत्रिय, वैश्य को पड़ना चाहिए, पढ़ाना नहीं चाहिए, यह निर्णय है । ब्राह्मण को सब वर्गों को उनकी जीविका के उपायों को बताना चाहिए और स्वयं भी अपने कर्तव्यों को जानना चाहिए। जाति की विशेषता, परमात्मा के मुख से उत्पत्ति, नियमों का धारण और जातकर्मादि संस्कारों की विशेषता से ब्राह्मण सभी वर्णों का स्वामी है

। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन द्विजाति कहलाते हैं और चौथा शूद एकजाति कहलाता है । पाँचवा वर्ण: कोई नहीं है ॥ १-४॥

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु ।
आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥ ॥५॥
स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान् सुतान् ।
सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ॥६॥
अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः ।
व्द्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ॥७॥

ब्राह्मणादि वर्णों की अक्षतयोनि स्त्रियों में क्रम से जो पुत्र पैदा हो, उनको उसी जाति का मानना चाहिए। ब्राह्मणादि के अपने से एक श्रेणी नीचे जाति की स्त्री में पैदा हुए पुत्र, माता के दोष से निन्दित, पिता के समान ही माने जाते हैं। अपने से एक एक श्रेणी नीचे की जाति में उत्पन्न पुत्रों की यह सनातन विधि है और अपने से दो दो जाति नीचे की स्त्रियों में पैदा पुत्रों की विधि इसप्रकार है:-॥५-७॥

ब्राह्मणाद् वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते ।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ॥८॥
क्षत्रियात्शूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान् ।
क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते ॥ ॥९॥
विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः ।
वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन् षडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥ ॥१०॥
क्षत्रियाद् विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः ।
वैश्यान् मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ ॥११॥
शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम् ।

वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसङ्करः ॥ ॥१२॥

ब्राह्मण से वैश्य कन्या में 'अम्बष्ट' जाति का पुत्र होता है और शूद्रकन्या में निषाद ओर पारशव कहा जाता है। क्षत्रिय से शुद्रकन्या में क्रूर आचारवाला पुत्र 'उग्र' जाति का कहलाता है, क्योंकि उसका शरीर क्षत्रिय और शूद्रा से हुआ है। ब्राह्मण के क्षत्रिय वैश्य-शूद्र जाति की कन्या से, क्षत्रिय के वैश्य-शूद्र कन्या से और वैश्य के शूद्र जाति की कन्या से उत्पन्न हुए पुत्र 'अपसद' कहलाते हैं। क्षत्रिय से ब्राह्मणकन्या में पैदा हुआ पुत्र जाति से 'सूत' होता है। वैश्य से ब्राह्मणी में 'वैदेह' जाति का और वैश्य से क्षत्रिया में 'मागध' जाति का होता है। शूद्र से वैश्या, क्षत्रिया ओर ब्राह्मणो में क्रम से से 'अयोगव', 'क्षत्ता' और 'चांडाल' जाति के पुत्र उत्पन्न होते हैं और वे मनुष्यों में अधम-वर्णसङ्कर कहलाते हैं। ॥८-१२॥

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ ।
क्षत्तृवैदेहकौ तद्वत् प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥ ॥१३॥
पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम् ।
ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात् प्रचक्षते ॥ ॥१४॥
ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते ।
आभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यां तु धिग्वणः ॥ ॥१५॥

एक एक जाति के अन्तर से अर्थात् ब्राह्मण से वैश्या में अनुलोम से उत्पन्न पुत्र जैसे अम्बष्ट और उन कहे हैं वैसे प्रतिलोम से अर्थात् शुद्ध से क्षत्रिया में उत्पन्न पुत्र क्षत्ता और वैदेह कहलाते हैं। द्विजों के नीचे जाति की स्त्री में माता के दोष से उत्पन्न पुत्र 'अनन्तर' कहलाते हैं। ब्राह्मण से उनकी कन्या में 'आवृत' जाति का अम्बष्ठकन्या में 'आमीर'

जाति का औरआयोगवी में 'धिन्वण' जाति का पुत्र कहलाता है ॥ १३-१५ ॥

आयोगवश्च क्षत्ता च चण्डालश्चाधमो नृणाम् ।
प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥ ॥१६॥
वैश्यान् मागधवैदेहौ क्षत्रियात् सूत एव तु ।
प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास्त्रयः ॥ ॥१७॥
जातो निषादात्शूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः।
शूद्राज् जातो निषाद्यां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥ ॥१८॥
क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते।
वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्यामुत्पन्नो वेण उच्यते ॥ ॥१९॥
द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान् ।
तान् सावित्रीपरिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥ ॥२०॥
व्रात्यात् तु जायते विप्रात् पापात्मा भूर्जकण्टकः।
आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥ ॥२१॥
झल्लो मल्लश्च राजन्याद् व्रात्यात्निच्छिविरेव च ।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥ ॥२२॥
वैश्यात् तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाऽचार्य एव च ।
कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च ॥ ॥२३॥

आयोगव, क्षत्ता और चाण्डाल में शूद्र से प्रतिलोम भाव से पैदा तीन मनुष्यों में अधम हैं, अपसद हैं। वैश्य से मागध और वैदेह और क्षत्रिय से सूत, ये तीन भी प्रतिलोम भाव से पैदा होते हैं इसलिए अपसद हैं। निषाद से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र 'पुक्कस जाति का और शूद्र से निषादकन्या में 'कुककुटक' जाति का पुत्र होता है। इसी प्रकार क्षत्ता से उग्रकन्या से 'श्वपाक' और वैदेह से अम्बष्ठी में 'वेण' कहलाता है। द्विजाति अपनी सवर्णा स्त्री में उत्पन्न पुत्रों का संस्कार जो न करें तो

वे गायत्रीभ्रष्ट 'व्रात् ' कहलाते हैं । व्रात्य ब्राह्मण से पापी 'भूर्जकंटक' उत्पन्न होते हैं, उन को देशभेद से आवन्त्य, वाटवान पुष्पव और शैल भी कहा जाता है। व्रात्य -क्षत्रिय से उत्पन्न पुत्र 'झल्ल', 'मल्ल', 'निच्छिवि', 'नट', 'करण', 'खस' और द्रविद्व कहलाते हैं। व्रात्य वैश्य से उत्पन्न पुत्र 'सुधन्वाचार्य', 'कारुष', 'विजन्मा', 'मैत्र' और 'सात्वत' कहलाते हैं ॥ १६-२३ ॥

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ।
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः ॥ ॥२४॥
सङ्कीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः ।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान् प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ॥२५॥
सूतो वैदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः ।
मागधः तथाऽयोगव एव च क्षत्रजातिश्च ॥ ॥२६॥
एते षट् सद्दशान् वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु ।
मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवारासु च योनिषु ॥ ॥२७॥
यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्माऽस्य जायते ।
आनन्तर्यात् स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात् ॥ ॥२८॥

ब्राह्मणादि वर्गों में आपस के व्यभिचार से, अपने सगोत्रा के साथ विवाह न करने से और अपने वर्णाश्रम धर्मों को छोड़ने से वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं । जो सङ्कीर्णयोनि, प्रतिलोम और अनुलोम के परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं उनको विशेषरीति से कहते हैं। सूत, वैदेह, चाण्डाल, मागध, क्षत्ता और प्रायोगव यह छह पुरुष अपनी माता की जाति में और अपने से ऊंची जाति में जो सन्तान पैदा करें वे अपनी जाति की होती हैं। जैसे ब्राह्मण का तीनों वर्णों में से क्षत्रिय और वैश्यकन्या में और अपनी जाति की कन्या में पैदा पुत्र द्विज कहा

जाता है, वैसे क्षत्रिय से ब्राह्मणी, वैश्य से क्षत्रिया और ब्राह्मणी कन्या में उत्पन्न पुत्र उत्तम माने जाते हैं। ॥२५-२८॥

ते चापि बाह्यान् सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान् ।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ ॥२९॥
यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते ।
तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ॥३०॥
प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्या बाह्यतरान् पुनः ।
हीना हीनान् प्रसूयन्ते वर्णान् पञ्चदशैव तु ॥ ॥३१॥

आयोगव आदि छः प्रतिलोम पुत्र परस्पर में अपने से अधम जाति के पुत्रों को पैदा करते हैं। जैसे शूद्र ब्राह्मण की कन्या में वर्णसंकर चाण्डाल पुत्र पैदा करता है वैसे चाण्डाल चारों वर्ण की कन्याओं में अपने से भी नीच-जाति के पुत्रों को उत्पन्न करता है। चाण्डाल इत्यादि अपनी दूसरी पाँच प्रतिलोम जातियों में अति अधम पुत्रों को उत्पन्न करते हैं और प्रतिलोम जाति के वर्ण संकर अपने से उत्तम जाति की कन्या में हीन जाति के पन्द्रह पुत्रों को उत्पन्न करता है। अर्थात् चारों वर्ण को स्त्रियों में तीन अधमों के तीन तीन पुत्र बारह हुए और उनके पिता तीन अधम मिलकर १५ होते हैं ॥२९-३१॥

प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् ।
सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ॥३२॥
मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं सम्प्रसूयते ।
नृन् प्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये ॥ ॥३३॥
निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीविनम् ।
कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥ ॥३४॥
मृतवस्त्रभृत्स्वनारीषु गर्हितान्नाशनासु च ।

भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥ ॥३५॥
कारावरो निषादात् तु चर्मकारः प्रसूयते ।
वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥ ॥३६॥
चण्डालात् पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् ।
आहिण्डिको निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ॥३७॥
चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान् ।
पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥ ॥३८॥
निषादस्त्री तु चण्डालात् पुत्रमन्त्यावसायिनम् ।
श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥ ॥३९॥

दस्यु से आयोगवी में 'सैरिन्ध्र 'जाति का पुत्र होता है। वह दास न होकर भी केश सँभालना हाथ-पैर दबाना इत्यादि काम कर सकता है और जाल से मृग इत्यादि को पकड़ सकता है। वैदेह से आयोगवी स्त्री में 'मैत्रेयक' जाति का पुत्र होता है । उस मधुरभाषी को सूर्योदय के समय घंटा श्रादि का शब्द करके राजा आदि भद्र पुरुषों की प्रशंसा का काम करना चाहिए। निषाद, आयोगवी में मार्गाव जाति का पुत्र पैदा करता है वह दास भी कहलाता है, नौका से जीविका चलाता है और आर्यावर्त देश निवासी उसको 'कैवर्त' भी कहते हैं। इसी प्रकार मृत मनुष्य के वस्त्र पहनने वाली, क्रूर स्वभाव, जूठन खाने वाली आयोगवी में अपने पिता के भेद से अधम जातीय सरिन्ध्र, मैत्रेय और मार्गावजाति के तीन पुत्र पैदा होते हैं। निषाद से वैदेही कन्या में चर्मकार जाति का पुत्र होता है, उसको मोची का काम करना चाहिए। वैदेहिक से वैदेही में अंध्र और मेदजाति के पुत्र होते हैं, उनको गांव के बाहर रहना चाहिए। चाण्डाल से वैदेही में 'पाण्डुसोपाक' पैदा होता है, उसको वृक्षों की छाल से पंखा, सूप इत्यादि बनाने का कार्य करना चाहिए। निषाद से वैदेही में 'आहिणडक', चाण्डाल से पुक्कली में, 'सोपाक' और चांडाल से

निषादत्री में 'अत्यावसायी' जाति के पुत्र होते हैं। इन सभी को जल्लाद वृत्ति से जीविका करनी चाहिए अथवा मरघट मे निवास, मरघट से ही वृत्ति करनी चाहिए। यह सभी महादूषित होते हैं ॥ ३२-३६ ॥

सङ्करे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः ।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥ ॥४०॥
स्वजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः ।
शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ ॥४१॥
तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ॥४२॥
शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ॥४३॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदापह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ ॥४४॥
मुखबाहूरुपद्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ ॥ ४५॥
ये द्विजानामपसदा ये चापध्वंसजाः स्मृताः ।
ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥ ॥४६॥
सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम् ।
वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः ॥ ॥४७॥

इस प्रकार वर्णसंकरों की जातियां उनके माता-पिता के साथ कही गई है। इन में छिपी या प्रकट जातियों को उनके कर्मों से जानना चाहिए । अपनी जाति और पिछली जाति की स्त्री में द्विज के पैदा किए छः पुत्र उपनयन संस्कार के योग्य होते हैं। और प्रतिलोम से उत्पन्न हुए सभी शुद्र के समान माने जाते हैं। तप के प्रभाव से (विश्वामित्र) और बीज के प्रभाव से (ऋष्यशृङ्ग) सब युगों में

मनुष्यजन्म की ऊँचाई और निचाई को प्राप्त होते हैं। पुंड, उड्र, द्रविड, कम्बोज, यवन, शक, पारद, अपहव, चीन, किरात, दरद और रूसदेश के क्षत्रियगण धीरे धीरे धर्म क्रियाओं को छोड़ देने से और धर्मोपदेशक ब्राह्मणों का संग न करने से वृषल-म्लेच्छपने को प्राप्त हो गये। इस जगत् में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति के पुरुष जो क्रिया के लोप से पतित जाति के हो गए हों, वे आर्य भाषा बोलें अथवा म्लेच्छभाषा, उन सभी को 'दस्यु' चोर समझना चाहिए। द्विजों में जिनको अपसद वा वर्णसंकर कहा है उनको द्विजों के ही दूषित कामों से जीविका चलानी चाहिए । सूतों का काम, घोड़े का सारथि होना, अम्बष्ठों का चिकित्सा, वैदहों का अन्तःपुर का काम और मागधों का कर्म व्यापार है ॥४०-४७॥

मत्स्यघातो निषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च ।
मेदान्ध्रचुञ्चुमद्‌गूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥ ॥४८॥
क्षत्र्युग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधबन्धनम् ।
धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भाण्डवादनम् ॥ ॥४९॥
चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च ।
वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ॥५०॥
चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात् प्रतिश्रयः ।
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥ ॥५१॥
वासांसि मृतचैलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् ।
कार्ष्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥ ॥५२॥
न तैः समयमन्विच्छेत् पुरुषो धर्ममाचरन् ।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥ ॥५३॥
अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद् भिन्नभाजने ।
रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ॥५४॥

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः । अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ॥५५॥

निषादों का काम मछली मारना, आयोगव का लकड़ी काटना, मेद, अंध्र,'चंचु और मद्‌गु का वनपशुओं को मारना, क्षत्ता, उग्र और पुक्कस का बिलों में रहनेवाले साँप, नेवला इत्यादि को मारना अथवा पकड़ना। धिग्ववणों का मोची का काम और वेणों का बाजा बनाने का काम है। क्षत्ता आदि जातिवाले गाँव के पास प्रसिद्ध वृक्ष के नीचे, श्मशान में, पर्वत पर, बगीचे में रहकर अपनी अपनी जीविका चलानी चाहिए। चाण्डाल और श्वपच को गाँव के बाहर रहना चाहिए, इनके पात्रों को कभी काम में नहीं लाना चाहिए। कुत्ता, गधा आदि इनके धन हैं। मृत मनुष्यों के वस्त्र, फूटे पात्रों में भोजन करना, लोहे के गहने पहनाना और गावों में घूमना, यह इन्क्का स्वाभाव अथवा चिन्ह है। पुरुष को धर्माचरण के समय इन चाण्डालों का दर्शन भी नहीं करना चाहिए, इनका व्यवहार और विवाह समान जातिवालों में ही होना चाहिए। इनका भोजन पराधीन होना चाहिए , इनको फुटे पात्रों में खाने को अन्न देना चाहिए और इन लोगो को लोग रात में गाँव अथवा नगर में घूमने नहीं देना चाहिए। वह राजा की आज्ञा से चिन्ह पाए हुए काम के लिए दिन में घूमें और लावारिस मुरदों को ले जाएँ, यही मर्यादा है। ॥४८-५५॥

वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया ।
वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥ ॥५६॥
वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ॥५७॥
अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।

पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ॥५८॥
पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।
न कथं चन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ ॥५९॥
कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद् योनिसङ्करः ।
संश्रयत्येव तत्शीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ॥६०॥
यत्र त्वेते परिध्वंसाज् जायन्ते वर्णदूषकाः ।
राष्ट्रिकैः सह तद् राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ॥६१॥
ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः ।
स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ ॥६२॥

जिनको राजाज्ञा से फाँसी का दण्ड हुआ हो उनको शास्त्रानुसार मृत्युदण्ड देना चाहिए और उनके वस्त्र, शय्या, आभूषणों को ले लेना चाहिए। जातिभ्रष्ट, वर्णसङ्कर, अपरिचित और आर्य मालूम होनेवाला ऐसे अनार्यों को उनके कर्मों से पहचाना चाहिए। असभ्यता, कठोरपन, क्रूरता और अनाचार से लोक में पुरुष की वर्णसंकरता प्रकट होती है। वर्णसंकर अपने पिता का या माता का अथवा दोनों के स्वभाव को प्राप्त करता है। वह अपने स्वभाव-शील को किसी भांति छिपा नहीं सकता। वर्णसंकर उत्तम कुल में पैदा होने पर भी अपने उत्पादक के स्वभाव को कुछ न कुछ पाता ही है। जिस देश में ये वर्णदूषक सन्तान होते हैं वह देश प्रजा के साथ जल्द ही नष्ट हो जाता है । ब्राह्मण, गौ, स्त्री और बालरक्षा के लिए निष्कामभाव से प्राण छोड़ने से प्रतिलोमजों को उत्तम जाति में जन्म मिलता है। ॥५६-६२॥

चारों वर्णों के धर्म-कर्म-जीविका आदि

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन् मनुः ॥ ॥६३॥

अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, पवित्रता और इन्द्रिय-निग्रह यह चारों वर्णों का संक्षिप्त-धर्म मनुजी ने कहा है। ॥६३॥

शूद्रायां ब्राह्मणाज् जातः श्रेयसा चेत् प्रजायते ।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्या सप्तमाद् युगात् ॥ ॥६४॥
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज् जातमेवं तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च ॥ ॥६५॥
अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात् तु यदृच्छया ।
ब्राह्मण्यामप्यनार्यात् तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद् भवेत् ॥६६॥
जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद् गुणैः ।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥ ॥६७॥
तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः ।
वैगुण्याज् जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥ ॥६८॥

ब्राह्मण से शुद्रा में कन्या हो, वह कन्या ब्राह्मण को विवाहित हो, उसके भी कन्या हो और वह भी ब्राह्मण को दी जाय, इस प्रकार सातवीं पुश्त में जो पुरुष उत्पन्न होगा, उसका पूर्वज पारशव होने पर भी वह पुरुष ब्राह्मण माना जाता है। शुद्र जैसे ब्राह्मणता को पाता है वैसे ही ब्राह्मण शुद्रता को पाता है। ऐसे ही क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र छठी पीढ़ी में शूद्र होता है और वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न पांचवीं पीढ़ी में शूद्र होता है। ब्राह्मण से शुद्रा में और शूद्र से ब्राह्मणी में देवेच्छा से पुत्र पैदा हो, उनमें श्रेष्ठता इस प्रकार है ब्राह्मण से शुद्रा में उत्पन्न पुत्र यज्ञादि कर्म करता हो तो 'आर्य' कहलाता है। और शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ, 'अनार्य' कहलाता है। पहला नीच जाति में होने से

और दूसरा प्रतिलोम होने से दोनों संस्कार के अयोग्य हैं। यह धर्म की मर्यादा है ॥६४-६८॥

सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं सम्पद्यते यथा।
तथाऽर्याज् जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥ ॥६९॥
बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः।
बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रैयं तु व्यवस्थितिः ॥ ॥७०॥
अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति।
अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥ ॥७१॥

अच्छा बीज अच्छे खेत में बोने से जैसे अच्छा होता है, वैसे आर्य से आर्या में पैदा हुआ पुत्र सभी संस्कारों के योग्य होता है। कोई विद्वान् बीज की प्रशंसा करते हैं, कोई क्षेत्र की प्रशंसा करते हैं, कोई बीज और क्षेत्र दोनों की प्रशंसा करते हैं, उसमें व्यवस्था इस प्रकार है, ऊसर में बोया बीज बीच में ही नष्ट हो जाता है और बिना बीज के खेत कोरा-सपाट पड़ा रहता है ॥६९-७१॥

यस्माद् बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्।
पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद् बीजं प्रशस्यते ॥ ॥७२॥
अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम्।
सम्प्रधार्याब्रवीद् धाता न समौ नासमाविति ॥ ॥७३॥
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः।
ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम् ॥ ॥७४॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ ॥७५॥
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।

याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ॥७६॥
त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात् क्षत्रियं प्रति ।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ॥७७॥
वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः ।
न तौ प्रति हि तान् धर्मान् मनुराह प्रजापतिः ॥ ॥७८॥
शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विषः ।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ ॥७९॥

क्योंकि बीज के ही प्रभाव से हरिणी आदि में ऋष्यङ्ग उत्पन्न हुए और माननीय-पूज्य हुए इसलिए बीज उत्तम माना जाता है। शुद्ध द्विज का कर्म और द्विज शुद्र का कर्म करता हो तो दोनों की तुलना करके ब्रह्मा ने कहा है- शूद्र द्विज कर्म में अनधिकारी होने से और ब्राह्मण निषिद्ध आचरण करने से समान नहीं है। क्योंकि गुण स्वभाव के बिना केवल कर्म से अनार्य, आर्य नहीं हो सकते । जो ब्रह्मयोनिज ब्राह्मण हैं, वे अच्छे प्रकार इन छः कर्मों का अनुष्ठान करें पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। ब्राह्मण के ये छः कर्म है । इनमें यज्ञ कराना, पढ़ाना और शुद्धदान लेना ये तीन कर्म जीविका हैं। ब्राह्मण के धर्मों से क्षत्रिय के तीन धर्म छूटे हैं पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना अर्थात् इन कामों को क्षत्रिय को नहीं करना चाहिए और वैश्य भी नहीं करना चाहिए, यही शास्त्रमर्यादा है। क्योंकि प्रजापति ने क्षत्रिय, वैश्य के लिए यह धर्म नहीं कहे हैं। शस्त्र, अस्त्र धारण करना क्षत्रिय की और व्यापार, पशुपालन, खेती वैश्य की आजीविका के लिए हैं और दान देना, वेद पढ़ना, यज्ञ कराना, इन दोनों का धर्म है। ॥७२-७६ ॥

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् ।
वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ ॥८०॥

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।
जीवेत् क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥ ॥८१॥
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद् भवेत् ।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद् वैश्यस्य जीविकाम् ॥ ॥८२॥
वैश्यवृत्त्याऽपि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा ।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥ ॥८३॥
कृषिं साधुइति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिताः ।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥ ॥८४॥
इदं तु वृत्तिवैकल्यात् त्यजतो धर्मनैपुणम् ।
विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ॥८५॥
सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह ।
अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः ॥ ॥८६॥
सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च ।
अपि चेत् स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥ ॥८७॥

ब्राह्मण का वेदाभ्यास करना, क्षत्रिय का रक्षा करना और वैश्य का व्यापार करना यह अपने अपने कर्मों में विशेष कर्म हैं। ब्राह्मण यदि वेद पढ़ाकर अपनी जीविका न कर सके तो क्षत्रिय के कर्म से जीविका कर सकता है। यदि ब्राह्मण, अपने और क्षत्रिय दोनों के कर्मों से जीविका न कर सके तो खेती, गोरक्षा आदि वैश्यजीविका से निर्वाह कर सकता है। ब्राह्मण को क्षत्रिय और वैश्य जीविका से निर्वाह करता हुए भी खेती कभी नहीं करनी चाहिए। कोई खेती को अच्छी मानते हैं, पर यह सत्पुरुषों में निन्दित है । क्योंकि इसमें हल से जीव हिंसा, अवर्षा सूखा आदि का डर है और यह पराधीन कर्म है। ब्राह्मण और क्षत्रिय की जीविका अपने कर्मों से न चले तो निन्दित कर्मों को छोड़कर, उनको वैश्य वृत्ति, व्यापार इत्यादि का आश्रय ले लेना चाहिए। ब्राह्मण को सभी प्रकार के रस, लव अन्न, तिल, पत्थर,

नमक, पशुओं को नहीं बेचना चाहिए । सभी प्रकार के लाल वस्त्र, सन-अलसी-ऊन के बिना रंगे वस्त्र, फल, कंद, औषधों को भी नहीं बेचना चाहिए ॥८०-८७ ॥

अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः ।
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ॥८८॥
आरण्यांश्च पशून् सर्वान् दंष्ट्रिणश्च वयांसि च ।
मद्यं नीलिं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥ ॥८९॥
काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः ।
विक्रीणीत तिलांशूद्रान् धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥ ॥९०॥
भोजनाभ्यञ्जनाद् दानाद् यदन्यत् कुरुते तिलैः ।
कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ॥९१॥
सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ॥९२॥
इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः ।
ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥ ॥९३॥

जल, हथियार, विष, मांस, सोमरस, सब तरह की सुगन्धि, दूध, शहद, दही, घी, तेल, मद्य, गुड़, कुश, जंगली पशु, दाढ़वाले पशु, पक्षी, मांग, गांजा, नील, लाख और एक खुरके पशु, इन सबका व्यापार नही नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण किसान ने खेती करके तिल पैदा किये हो तो उसको यज्ञादि के लिए बेच देना चाहिए। जो पुरुष भोजन, दान और स्नान के सिवा, दूसरे कामों में तिल का उपयोग करता है वह कीड़ा होकर पितरों के साथ कुत्ते की विष्टा में डूबता है। मांस, बाख और नमक बेचने से ब्राह्मण तुरंत पतित हो जाता है और दूध बेचने से तीन दिन में शुद्र हो जाता है। ॥८८-९३॥

रसा रसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः ।
कृतान्नं च कृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥ ॥९४॥
जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः ।
न त्वेव ज्यायंसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हि चित् ॥ ॥९५॥

ऊपर बताये गए पदार्थों को छोड़कर, दूसरे शास्त्र में निषिद्ध पदार्थों को यदि ब्राह्मण इच्छा से बेचता है, तो वह सात रात्रि के बाद, वैश्य हो जाता है। गुड़ आदि रस का, घी आदि रसों से बदला करे, किन्तु नमक का रसों से बदला नहीं करना चाहिए। पका अन्न, कच्चा अन्न से और तिल दूसरे अन्न से बदल लेने चाहिए। इन विधियों से आपत्ति में पड़ा क्षत्रिय भी वैश्यवृत्ति से जीवन निर्वाह कर सकता है परन्तु क्षत्रिय को ब्राह्मण की जीविका से कभी जीविका नहीं करनी चाहिए ॥ ९४-९५ ॥

यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ ॥९६॥
वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥ ॥९७॥
वैश्योऽजीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्याऽपि वर्तयेत् ।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥ ॥९८॥
अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः ॥ ॥९९॥
यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥ ॥१००॥
वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन् ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ।

अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ ॥१०१॥
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद् धर्मतो नोपपद्यते ॥ ॥१०२॥
नाध्यापनाद् याजनाद् वा गर्हिताद् वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥ ॥१०३॥

जो नीचजाति का पुरुष लोभ से, उत्तम जाति के कर्म से जीविका करे, उसका धन छीनकर राजा देश से निकाल देना चाहिए। अपना धर्म किसी अंश में न्यून हो तो भी अच्छा है परन्तु दूसरे का धर्म सर्वांग पूर्ण होने पर भी अच्छा नहीं होता। क्योंकि दूसरे के धर्म से जीविका करने वाला तत्काल जाति से भ्रष्ट हो जाता है। यदि वैश्य अपनी वृत्ति से जीविका न कर सके तो शूद्रवृत्ति से भी निर्वाह कर सकता है। पर वैश्य को जूठा खाना आदि नहीं खाना चाहिए और दुःख के दिन बीत जाने पर उसको छोड़ देना चाहिए। यदि शूद्र द्विजों की सेवा न कर सके और उसके पुत्र, स्त्री भूखों मरते हों तो शिल्प कार्य से जीविका करना चाहिए। जिन कार्यों के करने से द्विजातियों की सेवा के लिए, अवकाश मिल सके, ऐसे शिल्प कार्यों को करना चाहिए। यदि ब्राह्मण धर्म भार्ग में स्थित, जीविका की कमी से दुःखी हो तो सब से दान ले लेना चाहिए क्योंकि पवित्र दान दूषित होता हो, यह धर्म से सिद्ध नहीं होता। आपत्तिकाल में, निन्दित को वेद पढ़ाने, यज्ञ कराने और उनसे दान लेने से ब्राह्मणों को दोष नहीं लगता क्योंकि वह अग्नि और जल के समान पवित्र हैं ॥९६-९०३ ॥

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति ततस्ततः ।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥ ॥१०४॥
अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद् बुभुक्षितः ।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ ॥१०५॥

श्वमांसमिच्छनार्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः ।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ ॥१०६॥
भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने ।
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥ ॥१०७॥
क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद् विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ ॥१०८॥

प्राणान्त को प्राप्त हुआ जो पुरुष मनमाना अन्न खाता है, वह कीचड से आकाश के समान, पाप से लिप्त नहीं होता। भूख से दुःखी अजीगर्त ऋषि अपने पुत्र मारने को तैयार हुआ पर उन्हें दोष नहीं लगा। धर्माधर्म के ज्ञाता वामदेव ऋषि क्षुधा से प्राणरक्षार्थ कुत्ते का मांस खाना की इच्छा करता हुआ पाप से लिप्त नहीं हुआ था। महातपस्वी भरद्वाज पुत्र सहित निर्जन वन में क्षुधा से पीड़ित होकर, वृधु नामक बढ़ई की बहुत सी गायों को ग्रहण किया था। धर्माधर्म के ज्ञाता, विश्वामित्र भूख से दुःखी होकर, चाण्डाल के हाथ से कुत्ते की जाँघ लेकर, खाने को उद्यत हुए थे। ॥ १०४-१०८॥

प्रतिग्रहाद् याजनाद् वा तथैवाध्यापनादपि ।
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥ ॥१०९॥
याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् ।
प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ॥११०॥
जपहोमैरपेत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।
प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥ ॥१११॥

दान लेना, यज्ञ कराना और वेद पढ़ाना इनमें दान लेना अधम है और ब्राह्मण को मृत्यु के बाद परलोक में दुःख देता है। क्योंकि याजन और अध्यापन संस्कार वालों को कराये जाते हैं और प्रतिग्रह शूद्र से भी

लिया जाता है। अनुचित याजन और अध्यापन का पाप जप, होम से दूर होता है और प्रतिग्रह का पाप वस्तु के त्याग से अथवा तप से दूर होता है। ॥१०९-१११॥

शिलौञ्छमप्यााददीत विप्रोऽजीवन् यतस्ततः ।
प्रतिग्रहात् शिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥ ॥११२॥
सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धने वा पृथिवीपतिः ।
याच्यः स्यात् स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥ ॥११३॥
अकृतं च कृतात् क्षेत्राद् गौरजाविकमेव च ।
हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ ॥११४॥
सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ॥११५॥
विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः । धृ
तिर्भैक्षं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥ ॥११६॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् ।
कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात् पापीयसेऽल्पिकाम् ॥ ॥११७॥
चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि ।
प्रजा रक्षन् परं शक्त्या किल्बिषात् प्रतिमुच्यते ॥ ॥११८॥
स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात् पराङ्मुखः ।
शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद् बलिम् ॥ ॥११९॥

किसी उपाय से जीविका न कर सके, तो ब्राह्मण, शिलोंछों को भी ग्रहण कर लेना चाहिए क्योंकि प्रतिग्रह से शिल श्रेष्ठ है और उञ्छ उससे भी श्रेष्ठ माना जाता है। जो स्नातक ब्राह्मण निर्धनता से दुःख भोगता हो यह राजा से अन्न, वस्त्र अथवा धन मांगे परन्तु यदि राजा न दे तो उसको त्याग देना चाहिए। बिना जोता खेत, गौ, बकरा, मेढ़ा, सोना, कच्चा और अन्न इनमें अगले दे पहले पहले निर्दोष माने जाते

है। धर्म से प्राप्त यह सात प्रकार की धन की प्राप्ति धर्मानुकूल है: पहला दायभाग का दावा आदि से मिला धन, दूसरा भूमि आदि में दबा धन मिलना, तीसरा बेचने से मिला धन, चौथा विजय से मिला धन, पांचवां ब्याज में मिला धन, छठा परिश्रम से मिला धन और सातवाँ सत्पुरुषों से दान मे मिला धन। यह दस जीविका के साधन हैं विद्या, कारीगरी, नौकरी, सेवा, पशुपालन, व्यापार, खेती, सन्तोष, भिक्षा और ब्याज। ब्राहाण और क्षत्रिय को आपत्ति काल में भी ब्याज पर धन नहीं देना चाहिए परन्तु धर्मार्थ किसान वगैरह को थोड़े ब्याज पर कुछ द्रव्य दे देना चाहिए। राजा आपत्ति काल में भी चौथा भाग लेकर यदि पूरी प्रजा की रक्षा करे तो पातक से छूट जाता है। युद्ध करना क्षत्रिय का स्वधर्म है, इसलिए युद्ध से क्षत्रिय को युद्ध से पीठ नहीं दिखानी चाहिए। वैश्यों की शस्त्र से रक्षा करके, अपने राजकीय-कर को ग्रहण करना चाहिए। ॥११२-११६॥

धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षापणावरम् ।
कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥ ॥१२०॥
शूद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्क्षन् क्षत्रमाराधयेद् यदि ।
धनिनं वाऽप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत् ॥ ॥१२१॥
स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत् तु सः ।
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ ॥१२२॥
विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ।
यदतोऽन्यद् हि कुरुते तद् भवत्यस्य निष्फलम् ॥ ॥१२३॥
प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद् यथार्हतः ।
शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥ ॥१२४॥
उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च ।
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥ ॥१२५॥

न शूद्रे पातकं किं चिन्न च संस्कारमर्हति । नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात् प्रतिषेधनम् ॥ ॥१२६॥

राजा को वैश्यों से अन्न का आठवां भाग लेना चाहिए और कार्षापण तक सर्राफ के लाभ पर बीसवां भाग लेना चाहिए और शुद्र मज़दूर, कारीगरों से केवल काम करा लेना चाहिए। ब्राह्मण की सेवा से शुद्र जीविका न कर सके तो क्षत्रिय अथवा धनी वैश्य की सेवा करके, जीविका करना चाहिए। परन्तु लोक परलोक दोनों में सुख चाहनेवाला शूद्र ब्राह्मण की सेवा करनी चाहिए। अमुक शूद्र अमुक ब्राह्मण का आश्रित है, ऐसा कहलाने से ही शुद्र कृतार्थ होता है। ब्राह्मण सेवा ही शूद्र का प्रधान कर्म है। इसके सिवा उसके कर्म निष्फल है। ब्राह्मण सेवकों की काम करने की शक्ति, बुद्धिमानी और परिवार को देखकर योग्यतानुसार अन्न, वस्त्र, पुराने ओढ़ने, बिछौने इत्यादि दे देनी चाहिए। सेवक शूद्र को दीजों के घर का कोई पातक नहीं लगता क्योंकि न तो उन द्विजों के धर्म में इसको अधिकार है और न अपने धर्म से इसको निषेध है ॥१२०-१२६॥

धर्मैप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः
मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ ॥१२७॥
यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।
तथा तथैमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥ ॥१२८॥
शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसञ्चयः ।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥ ॥१२९॥
एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः ।
यान् सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमं गतिम् ॥ ॥१३०॥
एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥ ॥१३१॥

धर्मज्ञ शुद्ध धर्म संपादन की इच्छा से मन्त्र के बिना सत्पुरुषों के प्राचरण करते हुए दोष नहीं किन्तु प्रशंसा को प्राप्त होते हैं। शूद्र जसे जैसे सदाचार का पालन करता है वैसे वैसे लोक में प्रशंसा प्राप्त करता है और मरकर उत्तम लोक का भागी होता है। समर्थ शूद्र को भी धनसंग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि शद्र धन पाकर ब्राह्मणों फो दुःख देता है । इस प्रकार यह सब चारों वर्गों के आपत्काल के धर्म कहे गए हैं। जो अपने अपने धर्म का भलीभांति सेवन फरते हैं वह परमगति को प्राप्त करते हैं । यह चारों वर्णों की धर्मविधि पूरी हुई। अब प्रायश्चित्त की विधि कहेंगे। ॥१२७-१३१॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां स्मृतौ दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥१०॥

॥महर्षि भृगु द्वारा प्रवचित मानव धर्म शास्त्र स्मृति का दसवां अध्याय समाप्त॥

॥ श्री हरि ॥

॥ मनुस्मृति ॥

॥अथ एकादशोऽध्यायः ग्यारहवां अध्याय ॥

धर्म-भिक्षुक

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सार्ववेदसम् ।
गुर्वर्थं पितृमात्र्यर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनः ॥ ॥१॥
न वै तान् स्नातकान् विद्याद् ब्राह्मणान् धर्मभिक्षुकान् ।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ ॥२॥
एतेभ्यो हि द्विजाग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् ।
इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥ ॥३॥
सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणान् वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ॥४॥
कृतदारोऽपरान् दारान् भिक्षित्वा योऽधिगच्छति ।
रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु संततिः ॥ ॥५॥
धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ॥६॥
यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।
अधिकं वाऽपि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ॥७॥

सन्तानार्थ विवाह करनेवाला, यज्ञ करने की इच्छावाला, मार्ग चलनेवाला, यज्ञ में सर्वस्व दक्षिणा देनेवाला, गुरु, माता और पिता के लिए धन का अर्थी, विद्यार्थी और रोगी इन नौ स्नातक ब्राह्मणों को

धर्मभिक्षुक जानना चाहिए । ये सब निर्धन हो तो विद्या के अनुसार इनको दान देना चाहिए। इन ब्राह्मणों को दक्षिणा के साथ अन्न देना और दूसरों को यज्ञ वेदी के बाहर पकाया अन्न देना चाहिए। राजा को यज्ञ -दक्षिणा में उत्तम वस्तुओं को योग्यता के अनुसार देना चाहिए। जो विवाहित पुरुष भीख मांगकर दूसरा विवाह करता है उसको रतिमात्र फल है और उसकी सन्तान द्रव्य देने वाले की होती है। जो लोग विरक्त- वेदज्ञ ब्राह्मणों को यथाशक्ति दक्षिणा देते हैं, वह स्वर्गगामी होते हैं। जिस के पास कुटुम्बियों के निर्वाहार्थ तीन साल तक का अथवा अधिक अन्न हो, वह सोमयाग करने योग्य होता है ॥१-७॥

अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः ।
स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥ ॥८॥
शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि ।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥ ॥९॥
भृत्यानामुपरोधेन यत् करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।
तद् भवत्यसुखौदर्कं जीवतश्च मृतस्य च ॥ ॥१०॥
यज्ञश्चेत् प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेन धार्मिके सति राजनि ॥ ॥११॥
यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात् तस्य तद् द्रव्यमाहरेद् यज्ञसिद्धये ॥ ॥१२॥
आहरेत् त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः ।
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥ ॥१३॥

इससे कम द्रव्य होने पर जो द्विज सोमयाग करता है उसका पहला सोमयज्ञ भी नहीं पूरा पड़ता । इसलिए दूसरा सोमयज्ञ कभी नहीं करना चाहिए। जो कुटुम्ब को दुःखी होते दूसरों को धन देता है, वह

पहले तो अच्छा लगता है, परन्तु परिणाम में विष के स्वाद सा भयानक मालूम होता है। वह केवल धर्म का झूठारूप है । कुटुम्बियों को दुःख देकर, जो पुरुष परलोक के लिए दानादि करता है, वह लोक-परलोक में उत्तरोतर दुःख देने वाला है। धार्मिक राजा के होते हुए क्षत्रिया आदि यजमानों का विशेष करके ब्राह्मण का यज्ञ किसी प्रसंग से रुका हो तो धनी वैश्य से जो सोमयज्ञ से रहित हो, उसके धन से मदद ले लेनी चाहिए। यज्ञ में दो अथवा तीन अंग अधूरे हो और वैश्य से उतना धन न मिले तो शुद्र के घर से यथेच्छ धन ले लेना चाहिए, क्योकि शूद्र का यज्ञ से कोई सम्बन्ध नहीं होता ॥८-१३॥

योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ ॥१४॥
आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः ।
तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते ॥ ॥१५॥
तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ ॥१६॥

जो अग्निहोत्री नहीं है और सौ गौ का धन रखता है और जिसने यज्ञ न किया हो, पर हज़ार गौ का धन हो, उन दोनों के घर से भी बिना विचार धन ले लेना चाहिए। जो ब्राह्मण नित्य दान लेता हो पर दान देता न हो, वह भी यज्ञार्थ धन दे तो ले लेना चाहिए। इस कर्म से उसका यश और धर्म बढ़ता है। जिसने तीन दिन तक भोजन न किया हो वह सातवीं खुराक धर्महीन पुरुष से भी अन्न ले लेने में कोई दोष नहीं है ॥ १४-१६ ॥

खलात् क्षेत्रादगाराद् वा यतो वाऽप्युपलभ्यते ।
आख्यातव्यं तु तत् तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥ ॥१७॥

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदा चन ।
दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन् हर्तुमर्हति ॥ ॥१८॥
योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति ।
स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ ॥१९॥
यद् धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद् विदुर्बुधाः ।
अयज्वनां तु यद् वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ ॥२०॥
न तस्मिन् धारयेद् दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
क्षत्रियस्य हि बालिश्याद् ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥ ॥२१॥
तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान् महीपतिः ।
श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥ ॥२२॥
कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः ।
राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात् प्राप्नोति रक्षितात् ॥ ॥२३॥
न यज्ञार्थं धनं शूद्राद् विप्रो भिक्षेत कर्हि चित् ।
यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥ ॥२४॥

सल (खलिहान) खेत या घर से अथवा कहीं से भी अन्न ले लेना चाहिए और उसका स्वामी पूछे तो उससे सत्य बात कह देनी चाहिए। क्षत्रिय को ब्राह्मण का धन कभी न छीनना चाहिए। यदि निर्वाह न हो सके तो क्षुधित क्षत्रिय को निष्क्रिय और दस्यु का लेना योग्य है। जो पुरुष असाधुओं से धन लेकर धर्माचारी सत्पुरुषों को देता है वह अपने को नौका बनाकर उन दोनों को तार देता है । यज्ञादि करनेवालों के धन को देवधन कहते हैं और यज्ञादि धर्म-कर्म न करनेवालों का धन आसुरी धन कहलाता है। ब्राह्मण निर्वाह के लिए कोई दोष भी करे तो भी उसको राजा को दण्ड नहीं देना चाहिए क्योंकि राजा के ही दोषों से ब्राह्मण भूख से दुःख उठाते हैं। ब्राह्मण के परिवार, विद्या, शील आदि को जानकर राजा धर्मार्थ जीविका का प्रबंध कर देना चाहिए और चोर इत्यादि दुष्टों से रक्षा करनी चाहिए क्योंकि उसके

धर्म का छठा भाग राजा पाता है। ब्राह्मण यज्ञ के लिए शुद्र से धन कभी नहीं माँगना चाहिए क्योंकि शुद्र भिक्षा से यज्ञ करनेवाला मरकर चण्डाल होता है ॥१७-२४॥

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति ।
स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥ ॥२५॥
देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः ।
स पापात्मा परे लोके गृध्रौच्छिष्टेन जीवति ॥ ॥२६॥
इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।
कॢप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसंभवे ॥ ॥२७॥
आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः ।
स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ ॥२८॥
विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
आपत्सु मरणाद् भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ ॥२९॥

जो ब्राह्मण यज्ञ के लिए धन मांगकर यज्ञ में नहीं लगाता वह मरकर सौ वर्ष भास अथवा कौवा की योनि में जन्म लेता है। जो देवार्पण या ब्रह्मार्पण किये धन को लोभ से खा जाता है वह पापात्मा परलोक में गीध की जूठन से जीता है। पशुयाग या सोमयाग न हो सके तो उस दोष को शान्ति के लिए ब्राह्मण को शूद्र से भी धन लेकर प्रायश्चित 'वैश्वानरी इष्टि' करनी चाहिए। जो द्विज आपत्काल के न होते आपत्काल के धर्म से बर्ताव करता है उसे परलोक में उसका फल प्राप्त नहीं होता। विश्वेदेव, साध्यदेव, महर्षि और ब्राह्मणों ने मृत्यु से डरकर, आपातकाल मे मुख्य विधि के स्थान में प्रतिनिधि आपद्धर्म की कल्पना की है ॥२५-२६॥

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।

न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ॥३०॥
न ब्राह्मणो वेदयेत किंचिद् राजनि धर्मवित् ।
स्ववीर्येणैव तांशिष्यान् मानवानपकारिणः ॥ ॥३१॥
स्ववीर्याद् राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ।
तस्मात् स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन् द्विजः ॥ ॥३२॥

मुख्य विधि की शक्ति होने पर भी जो पुरुष प्रतिनिधि से कर्म करता है उस दुर्बुद्धि को उस धर्म का फल परलोक में नहीं मिलता। धर्मज्ञ ब्राह्मण को अपने थोड़े नुकसान को राजा से नहीं कहना चाहिए। उन अपकारियों को अपने सामर्थ्य से ही दण्ड देना चाहिए। तपशक्ति और राजशक्ति में अपनी तपशक्ति अधिक प्रभावशाली है। इसलिए द्विजों को अपनी ही शक्ति से शत्रु दमन करना चाहिए ॥३०-३२॥

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् ।
वाक्षस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः ॥ ॥३३॥
क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ।
धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ॥३४॥
विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥ ॥३५॥
न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥ ॥३६॥
नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत् ।
तस्माद् वैतानकुशलो होता स्याद् वेदपारगः ॥ ॥३७॥

ब्राह्मण अथर्ववेद के अंगिरस मन्त्रों को पढ़कर अभिचार करे। मन्त्रोचारण ही ब्राह्मण का शस्त्र है । उसी से द्विज को शत्रुओं का नाश करना चाहिए। क्षत्रिय अपने भुजबल से, वैश्य और शूद्र धन से

और ब्राह्मण मन्त्र जप, हवन से आपत्ति को दूर करना चाहिए। ब्राह्मण विहित कर्मों का अनुष्ठान करनेवाला, पुत्र-शिष्यों का शासन करनेवाला, प्रायश्चित्तादि को बतानेवाला और सब का मित्र कहा गया है। उसको कोई बुरी बात या रूखी बात नहीं कहनी चाहिए। कन्या, युवती, थोड़ा पढ़ा, मूर्ख, रोगी और यज्ञोपवीत-संस्काररहित पुरुष को अग्निहोत्र का होता नहीं होना चाहिए। यदि यह सब होता किये जायें तो खुद और जिसका अग्निहोत्र हो वह दोनों नरकगामी होते हैं। इस कारण श्रोतकर्म में प्रवीण, वेदविशारद को ही अग्निहोत्र का होता बन सकता है ॥३३-३७॥

प्राजापत्यमदत्त्वाऽश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम् ।
अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ॥३८॥
पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथं चन ॥ ॥३९॥
इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून् ।
हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥ ॥४०॥

जो ब्राह्मण वैभव होने पर अग्न्याधान स्वीकार करके प्रजापति देवतावाले अश्व और अग्नन्याधान का दान नहीं करता वह ब्राह्मण अनाहिताग्नि हो जाता है अर्थात उसको आधान का फल प्राप्त नहीं होता। श्रद्धावान्, जितेन्द्रिय पुरुष, को पुण्य कर्मों को तो करना चाहिए, परन्तु न्यून दक्षिणा देकर कोई यज्ञ नहीं करना चाहिए अर्थात् 'बिना पूरी दक्षिणा दिए यज्ञ नहीं करना चाहिए। कम दक्षिणा देकर यज्ञ कराने से यज्ञ इन्द्रियाँ, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्ति, प्रजा और पशुओं का नाश करती है। इस कारण थोड़े धनवाला यज्ञ नहीं करना चाहिए ॥३८-४०॥

अग्निहोत्र्यपविद्याग्नीन् ब्राह्मणः कामकारतः ।
चान्द्रायणं चरेन् मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ॥४१॥
ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते ।
ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ॥४२॥
तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् ।
पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ॥४३॥
अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चैन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ॥४४॥
अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ॥४५॥
अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति ।
कामतस्तु कृतं मोहात् प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ॥४६॥

अग्निहोत्री ब्राह्मण यदि जान-बूझकर दोनों काल हवन न करे तो एक मास चान्द्रायण व्रत करना चाहिए। क्योंकि अग्निहोत्र का होम लोप करना पुत्रहत्या के समान पाप है। जो ब्राह्मण शूद्र से धन लेकर अग्निहोत्र की उपासना करते हैं वे शूद्र ऋत्विज हैं और वेदपाठियों में निंदित होते हैं। शूद्र धन से अग्नि उपासना करने वाले मूर्ख वालों के मस्तक पर धनदाता-शूद्र पैर रखकर परलोक में संकटों को तर जाता है। शास्त्रोक्त कर्मों को न करने और दूषित कर्मों को करने से और विषयों में आसक्ति से मनुष्य प्रायश्चित्त लायक होता है। अनजान में पाप करने पर विद्वानों ने प्रायश्चित्त कहा है। कोई अतिप्रमाण से जानकर पाप करने पर प्रायश्चित्त का विधान कहते हैं। अज्ञान से किया पाप वेदाभ्यास से शुद्ध होता है और ज्ञान से किया पाप विविध प्रायश्चित्तों से शुद्ध होता है ॥४१-४६॥

विविध-प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात् पूर्वकृतेन वा ।
न संसर्गं व्रजेत् सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥ ॥४७॥
इह दुश्चरितैः के चित् के चित् पूर्वकृतैस्तथा ।
प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ ॥४८॥

दैववश अथवा पूर्वजन्म के पाप से द्विज प्रायश्चित्त योग्य होकर बिना प्रायश्चित्त किये सज्जनों के साथ संसर्ग नहीं करना चाहिए। कोई यहां के कोई पूर्वजन्म के दुराचार से दुष्टात्मा मनुष्य, विविधरूप विकारों को पाते हैं ॥ ४७-४८॥

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम् ।
ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥ ॥४९॥
पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम् ।
धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरैक्यं तु मिश्रकः ॥ ॥५०॥
अन्नहर्ताऽमयावित्वं मौक्यं वागपहारकः ।
वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं पङ्गुतामश्वहारकः ॥ ॥५१॥
दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापको भवेत् ।
हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगित्वमसिया ॥ ॥५२॥
एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः ।
जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥५३॥

सोने का चोर, बुरे नखों वाला, शराबी, काले दातों वाला, ब्रह्म हत्यारा, क्षयरोगी और गुरु स्त्री-गामी चर्मरोगी होता है । चुगल की नाक सड़ती है, झूठे निंदक का मुख दुर्गन्धयुक्त होता है। अन्नचोर अंगहीन और अन्न में मिलावट करनेवाला अधिकांग होता है । पक्वान्न चोर को

मन्दाग्नि, विद्याचोर गूंगा, वस्त्रचोर श्वेतकुष्ठी, और घोड़े का चोर लूला होता है । दीप चुरानेवाला अंधा, दीप बुझानेवाला-काना, हिंसा से अधिक रोगी और अहिंसा से नीरोग होता है। इस प्रकार अनेक पापकर्मों से मनुष्य जड़बुद्धि, गूंगे, अंधे, बहिरे और कुरूप हो जाते हैं ॥४९-५३॥

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।
निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतेनसः ॥ ॥५४॥
ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ॥५५॥
अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ॥५६॥

इसलिए पापशुद्धि के लिये नित्य प्रायश्चित्त करना चाहिए । जो लोग नहीं करते वे दूषित लक्षणयुक्त हो जाते हैं। ब्रह्महत्या, मद्यपान, सुवर्ण की चोरी, गुरुस्त्री से व्यभिचार और इन महापापों के करनेवाले का संसर्ग, यह सभी महापातक कहते हैं। अपनी बड़ाई में झूठ कहना, राजा से किसी की चुगली करना और गुरु को झूठा दोष लगाना-यह पाप ब्रह्महत्या के समान हैं। ॥५४-५६॥

ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ।
गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ ॥५७॥
निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च ।
भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ॥५८॥
रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ॥५९॥
गोवधोऽयाज्यसंयाज्यं पारदार्यात्मविक्रयः ।

गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥ ॥६०॥
परिवित्तिताऽनुजेऽनूढे परिवेदनमेव च ।
तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥ ॥६१॥
कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम् ।
तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ॥६२॥
व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च ।
भृत्या चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥ ॥६३॥
सर्वाकारेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम् ।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च ॥ ॥६४॥

वेद को भूल जाना, वेद की निंदा करता, झूठी गवाही देना, मित्र का वध करना और अभक्ष्य को खाना, ये छः मद्यपान के समान हैं। धरोहर का मारना, मनुष्य, घोड़ा, चांदी, भूमि, हीरा और मणि चुराना सुवर्णचोरी के समान हैं। सहोदर बहन, कुमारी कन्या, चाण्डालिनी, मित्र और पुत्र की स्त्री से समागम करना गुरुपत्नी के साथ समागम के समान हैं। गौहत्या करना, व्रात्य, शूद्रों को यज्ञ कराना, परस्त्री से व्यभिचार, अपने को दास रूप से बेचना, योग्य गुरु को त्यागना, निर्दोष माता-पिता को त्यागना, स्वाध्याय न करना, स्मार्त्ताग्नि को छोड़ना यह सभी उप पातक हैं। छोटा भाई पहले विवाह करके अग्निहोत्र धारण करे तो बड़ा भाई 'परिवित्ति' कहाता है, उस बड़े और छोटे भाई को कन्या देना, उनको ऋत्विज बनाना, कन्या को दूषण लगाना, शास्त्रमर्यादा से ब्याज अधिक लेना, व्रत को तोड़ना, तालाब, बगीचा, स्त्री और सन्तान को बेचना, समय पर संस्कार न करना, बांधवों का पालन न करना, शिष्यों से मासिक लेकर पढ़ाना, नौकरी देकर पढ़ना, न बेचने योग्य घी-दूध आदि को बेचना, सोने की खानों पर राजाज्ञा से अधिकारी होना, बड़े यन्त्रकलों का चलाना, हरी जड़ी

बूटियों को काटना, स्त्री से जीविका करना, अभिचार करना और वशीकरण करना यह सभी उपपातक हैं। ॥५७-६४॥

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् ।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥ ॥६५॥
अनाहिताग्निता स्तेयं ऋणानामनपक्रिया ।
असत्शास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया ॥ ॥६६॥
धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥ ॥६७॥
ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः ।
जैह्म्यं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ॥६८॥
खराश्वोष्ट्रमृगैभानामजाविकवधस्तथा ।
सङ्करीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ॥६९॥
निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ॥७०॥
कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् । फलेधः।
कुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ॥७१॥
एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक् पृथक् ।
यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यग् निबोधत ॥ ॥७२॥

ईधन के लिए हरे वृक्षों को काटना, अपने लिए ही भोजन बनाना, दूषित अन्न को खाना, समर्थ होकर भी अग्निहोत्र न लेना, चोरी करना, ऋणों को न चुकाना, असत् शास्त्रों का पढ़ना, नाच. गान में लगना, धान्य, कुप्य और पशुओं की चोरी, मद्यप स्त्री का संग, स्त्री, शुद्र, वैश्य और क्षत्रिय का वध और नास्तिकता, यह सभी उप-पातक हैं। ब्राह्मण को पीड़ा देना, न सूंघने योग्य वस्तु को और मद्य को सूंघना, कुटिलता और पुरुष से मैथुन, यह सभी जाति से भ्रष्ट करने वाले पाप हैं। गधा,

घोड़ा, ऊंट, मृग, हाथी, बकरा, मेढ़ा, मछली, सांप और भैंस का वध करना, इन कर्मों को 'संकरी करण' पाप कहते हैं। निन्दितों से धन लेना, व्यापार, शूद्रसेवा और असत्य बोलना ये 'अपात्रीकरण' पाप हैं। कृमि, कीट और पक्षियों का वध, मद्य के लाथ भोजन, फल, काठ और फूल चुराना और अधीरता ये 'मलिनीकरण' पाप कहते हैं। ये सब ब्रह्म हत्यादि पाप जो अलग अलग कहे गये हैं वे जिन जिन व्रतों से नष्ट होते हैं-उनको सावधान होकर सुनो ॥६५-७२॥

ब्रह्महत्या प्रायश्चित्त

ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् ।
भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरो ध्वजम् ॥ ॥७३॥
लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद् विदुषामिच्छयाऽत्मनः ।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ ॥७४॥
यजेत वाऽश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा ।
अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताऽग्निष्टुताऽपि वा ॥ ॥७५॥
जपन् वाऽन्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत् ।
ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्नियतेन्द्रियः ॥ ॥७६॥
सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ।
धनं हि जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥ ॥७७॥
हविष्यभुग् वाऽनुसरेत् प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् ।
जपेद् वा नियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम् ॥ ॥७८॥
कृतवापनो निवसेद् ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।
आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥ ॥७९॥
ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान् परित्यजेत् ।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च ॥ ॥८०॥

ब्रह्महत्या-पातक से निवृत्ति के लिए बारह वर्ष तक वन में कुटी बनाकर रहना चाहिए, भिक्षा मांगकर खाना चाहिए और झोपड़ी में मुरदे की खोपड़ी टांगना चाहिए। अथवा शस्त्रधारियों की इच्छानुसार पातक ज़ाहिर होने का निशान करना चाहिए अथवा जलती आग में नीचा सिर करके तीन बार डालना चाहिए। अथवा अश्वमेध, स्वर्गजित, अभिजित, गोसव, विश्वजित्, त्रिवृत और अग्निष्टुत् इन यज्ञों में से किसी को करना चाहिए। अथवा मिताहारी जितेन्द्रिय होकर, किसी वेद का पाठ करता हुआ सौ योजन तक चले जाना चाहिए अथवा वेदज्ञ ब्राह्मण को अपना सर्वस्व अथवा जीविका योग्य धन, अथवा सब सामग्री सहित घर देना चाहिए। अथवा हविष्य भोजन करता हुआ सरस्वती नदी के सोते की तरफ गमन करना चाहिए अथवा नियमित भोजन करके तीनों वेद संहिताओं का पाठ करना चाहिए अथवा दाढ़ी, मूंछ मुड़ाकर, गांव के बाहर गौ गोष्ठ में, आश्रम में, या वृक्ष की जड़ में रहकर, गो-ब्राह्मण के हितसाधन में लगे रहना चाहिए। अथवा ब्राह्मण और गौ के निमित्त तुरंत प्राण त्याग देने से ब्रह्म हत्या से मुक्त हो जाता है। ॥७३-८०॥

त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा ।
विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥ ॥८१॥
एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः ।
समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ॥८२॥
शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे ।
स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥ ॥८३॥
धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते ।
तस्मात् समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुध्यति ॥ ॥८४॥

कोई चोर ब्राह्मण का धन चुराकर लिये जाता हो तो उस पर तीन बार चढ़ाई करके धन को लौटा देना चाहिए अथवा ऐसा ही यत्न करके चाहे धन लौटा नहीं पाए तो भी ब्रह्म हत्या से छूट जाता है । अथवा जब धन के लिए यह ब्राह्मण युद्ध करके मरने को तैयार हो, तब उतना धन देकर उसका प्राण बचाने से भी ब्रह्महत्या से छूट जाता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य से दृढ़तापूर्वक व्रत करने वाला बारह वर्ष में ब्रह्महत्या से छूट जाता है अथवा अश्वमेध यज्ञ में ब्राह्मण और राजा के सामने अपना पाप कहकर अवभृथ स्नान करने पर ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाता है। ब्राह्मण धर्म का मूल और क्षत्रिय अग्र भाग कहलाता है, इसलिए उनके सामने पाप कहकर शुद्ध हो जाता है। ॥८१-८४ ॥

ब्रह्मणः संभवेनैव देवानामपि दैवतम् ।
प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥ ॥८५॥
तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनः सुनिष्कृतिम् ।
सा तेषां पावनाय स्यात् पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥ ॥८६॥
अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः ।
ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ॥८७॥
हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।
राजन्यवैश्यौ चैजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ॥८८॥

ब्राह्मण जन्म से ही देवों का भी देव है, और उसका उपदेश वेदमूलक होने से लोक में प्रमाण माना जाता है। वेदों में तीन ब्राह्मण जो प्रायश्चित्त पाप का बताते हैं, वह पापियों को पवित्र करता है। क्योंकि ब्राह्मणों की वाणी ही पावन है। इसलिए सावधान होकर कहे प्रायश्चित्तों में कोई भी करने से ब्राह्मण पाप मुक्त होजाता है। अजान में गर्भहत्या, यज्ञ करते क्षत्रिय, वैश्य और गर्भवती स्त्री का वध करके भी इसी ब्रह्महत्या का प्रायश्चित करना चाहिए ॥८५-८८॥

उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा ।
अपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृत्वधम् ॥ ॥८९॥
इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् ।
कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ॥९०॥

साक्षी में झूठ बोलकर, गुरु को भूठा दोष लगाकर, धरोहर मार कर और स्त्री या मित्र का वध करके ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करना चाहिए। अनजाने में द्विज का वध किया हो तो ये प्रायश्चित्त करे परन्तु जानकर हत्या करने पर कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥८९-९०॥

मद्यपान-प्रायश्चित्त

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् ।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात् ततः ॥ ॥९१॥
गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा ।
पयो घृतं वाऽ मरणाद् गोशकृद्रसमेव वा ॥ ॥९२॥
कणान् वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि ।
सुरापानापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥ ॥९३॥
सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते ।
तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ ॥९४॥
गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥ ॥९५॥
यक्षरक्षः।पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ।
तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥ ॥९६॥

यदि द्विज अज्ञानता वश मद्य पी ले तो प्रायश्चित स्वरुप मद्य को आग की तरह तपाकर पुन पीना चाहिए , उस मद्य से शरीर जल जाने पर वह द्विज पाप से छूटता है अथवा गोमूत्र, जल, गौ का दूध, घी, गोबर का रस इनमें किसी पदार्थ को आग के तरह लाल करके मरणान्त पीना चाहिए। अथवा अन्नकण या तिल की खली एक साल तक रात में एक बार खाना चाहिए। कम्बल ओढ़कर, बाल रखकर और मद्यपान का चिह्न धारण करके रहना चाहिए। सुरा अन्न का मल है और मल को पाप कहते हैं। इस कारण ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्यों को मद्य नहीं पीनी चाहिए । गुड़ की, पीठे की, और महुवे की ये तीन प्रकार की मद्य होती हैं । जैसी गुड़ की है, वैसी ही दूसरी भी है इसलिए द्विजों को मद्य नहीं पीनी चाहिए। मद्य यक्षों का, मांस राक्षसों का और सुरा-आसव पिशाचों का भोजन है। देव-हवि खानवाले द्विजों को इनका सेवन कभी नहीं करना चाहिए ॥९१-९६॥

अमेध्ये वा पतेन् मत्तो वैदिकं वाऽप्युदाहरेत् ।
अकार्यमन्यत् कुर्याद् वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ ॥९७॥
यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् ।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥ ॥९८॥
एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥ ॥९९॥

ब्राह्मण मद्यपान करके उसके नशे में अपवित्र स्थान में गिरता है, गोप्य वेदमन्त्र पढ़ता है और अकार्य करता है। जिस ब्राह्मण के शरीर में रहनेवाला वेदज्ञान एक बार भी मद्य से मिल जाता है उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है और वह शूद्रता को प्राप्त हो जाता है। यह सुरापान का विभिन्न प्रकार का प्रायश्चित्त कहा है। अब सोना चुराने का प्रायश्चित्त कहा जायगा ॥९७-९९ ॥

स्वर्ण चोरी का प्रायश्चित्त

सुवर्णस्तेयकृद् विप्रो राजानमभिगम्य तु ।
स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयात्मां भवाननुशास्त्विति ॥ ॥१००॥
गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्ध हन्यात् तु तं स्वयम् ।
वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥ ॥१०१॥
तपसापनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् ।
चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद् ब्रह्महनो व्रतम् ॥ ॥१०२॥
एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।
गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ ॥१०३॥

सुवर्ण चोरी करनेवाला ब्राह्मण राजा के पास जाकर अपने कर्म को प्रकट करना चाहिए और 'मुझे आप शिक्षा दें' ऐसा कहना छी-तब राजा उसके कंधे पर से मूसल लेकर उसको एकबार मारे। चोट मारने से सोना शुद्ध होता है और ब्राह्मण तप से और चोट खाने से शुद्ध हो जाता है। जो तप से शुद्ध होना चाहे उसे चीर पहन कर वन में ब्रह्महत्या का व्रत करना चाहिए। इन मतों से चोरी के पाप को दूर करना चाहिए और गुरुपत्नीगमन के पाप को आगे लिखे व्रतों से दूर करना चाहिए। ॥१००-१०३॥

गुरुपत्नीगमन-प्रायश्चित्त

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये ।
सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन् मृत्युना स विशुध्यति ॥ ॥१०४॥
स्वयं वा शिष्णवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ । नै
ऋतीं दिशमातिष्ठेदा निपातादजिह्मगः ॥ ॥१०५॥

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने ।
प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ ॥१०६॥
चान्द्रायणं वा त्रीन् मासानभ्यस्येन्नियतैन्द्रियः ।
हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ ॥१०७॥
एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम् ।
उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ ॥१०८॥

गुरुपत्नी गामी अपने पाप को कहकर लोहे की जलती हुई शय्या पर सोये अथवा जलती हुई लोहे की बनी स्त्री मूर्ति को लिपट कर मरने से पाप शुद्ध होता है। अथवा खुद ही अपने लिंग और अण्डकोशों को काटकर अंजलि में रखकर मरण' तक नैऋत्य दिशा में चला जाय । या हाथ में खाट का पाया रक्खे, चीथड़े पहने, दाढ़ी मूंछों को बढ़ाकर निर्जन वन में एक वर्ष तक सावधानी से निवास करे और प्राजापत्य व्रत करना चाहिए। अथवा जितेन्द्रिय होकर, हविष्यान्न, जौ की लपसी खाकर तीन मास तक चान्द्रायण व्रत करना चाहिए । इन व्रतों से महापातकी पुरुष को अपने पापों को दूर करना चाहिए और उपपातकी लोग आगे लिखें विविध व्रतों से अपने पापों का नाश करना चाहिए। ॥१०४-१०८॥

उपपातकों का प्रायश्चित्त

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान् पिबेत् ।
कृतवापो वसेद् गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ ॥१०९॥
चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम् ।
गोमूत्रेणाचरेत् स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥ ॥११०॥
दिवाऽनुगच्छेद् गास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत् ।
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥ ॥१११॥

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत् तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् ।
आसीनासु तथाऽसीनो नियतो वीतमत्सरः ॥ ॥११२॥

गोवध करनेवाले को मुण्डन कराकर, गोचर्म ओढ़कर एक साल गौगोष्ठ में रहना चाहिए और जौ की लपसी को चाटना चाहिए। दो मास तक गोमूत्र से स्नान करना चाहिए, जितेन्द्रिय रह कर चौथे काल (दूसरे दिन सायंकाल) बिना नमक का थोड़ा सा भोजन करना चाहिए। दिन में गौओं के पीछे घूमना चाहिए और खड़ा होकर उनके खुर से उड़ी धूल को सहन करना चाहिए। गो-सेवा करनी चाहिए, उनको प्रणाम करना चाहिए, रात में वीरासन से बैठना चाहिए। सदा गौत्रों के बैठने पर बैठना चाहिए और खड़ी होने पर खड़ा होना चाहिए, चलने पर चलना चाहिए और फिर बैठने पर बैठ जाना चाहिए। यह सब प्रेमभाव से करना चाहिए ॥१०६-११२॥

आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।
पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर् विमोचयेत् ॥ ॥११३॥
उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।
न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ॥११४॥
आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रेऽथ वा खले ।
भक्षयन्तीं न कथयेत् पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ ॥११५॥
अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति ।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ॥११६॥
वृषभैकादशा गाश्च दद्यात् सुचरितव्रतः ।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥ ॥११७॥

रोगी, चोर, बाघ के भय से व्याकुल, गिरी हुई, कीचड़ में फंसी हुई गौ को सब उपायों से मुक्त करना चाहिए। धूप में, वर्षा में, शीत में और

आंधी चलने पर भी यथाशक्ति गौ की रक्षा करनी चाहिए और उसके बाद अपनी रक्षा का उपाय करना चाहिए। अपने अथवा दूसरे के घर में, खेत में, खलिहान में चरती गौ को और दूध पीटे बछड़े को किसी से नहीं कहना चाहिए। जो गौवध करने चाला पुरुष इस विधि से गोसेवा करता है वह तीन मास में गौ हत्या के पाप से मुक्त हो जाता है । इस भांति व्रत करनेवाले को एक बैल और दस गौ दान करना चाहिए । यह पास न हो तो वेदज्ञ ब्राह्मण को अपना सर्वस्व अर्पण कर देना चाहिए। ॥११३-११७॥

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ।
अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥ ॥११८॥
अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ।
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ॥११९॥
हुत्वाऽग्नौ विधिवद् होमानन्ततश्च समित्यृचा ।
वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात् सर्पिषाऽहुतीः ॥ ॥१२०॥

अवकीर्णी को छोड़कर दूसरे उपपातकी द्विज अपनी शुद्धि के लिए इसी व्रत को अथवा चान्द्रायण व्रत को करना चाहिए। परस्त्री से ब्रह्मचर्य खण्डित करनेवाला अवकीर्णी होता है । उसको रात को काने गधे पर चढ़कर चौराहे में जाकर पाकयज्ञ के विधान से निऋति देवता का यज्ञ करना चाहिए। अग्नि में विधि से होम करके "सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः। सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया व धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे' इत्यादि ऋचासे, मरुत, इन्द्र, गुरु और अग्नि को घृत की आहुति देनी चाहिए ॥ ११८-१२० ॥

कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः ।
अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ ॥१२१॥

मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च ।
चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥ ॥१२२॥
एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् ।
सप्तागारांश्चरेद् भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ ॥१२३॥
तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्वब्देन स विशुध्यति ॥ ॥१२४॥
जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वाऽन्यतममिच्छया ।
चरेत् सांतपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ ॥१२५॥
सङ्करापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ।
मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद् यावकैस्त्र्यहम् ॥ ॥१२६॥
तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः ।
वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥ ॥१२७॥
अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ।
वृषभैकसहस्रा गा दद्यात् सुचरितव्रतः ॥ ॥१२८॥

व्रत धारी इच्छा से वीर्यपात करे तो उसका व्रत भंग हो जाता है, यह धर्मज्ञ ब्रह्मवादियों का मत है। व्रत भंग से उसका तेज वायु, इंद्र, ब्रहस्पति और अग्नि इन चार व्रतधारियों को प्राप्त होता है। इस प्रकार व्रत भंग का पाप लगे तो गधे का चमड़ा प्रोढ़कर अपने कर्म को प्रसिद्ध करते हुए सात घरों से भीख मांगनी चाहिए और उस भिक्षा से एक बार भोजन निर्वाह कर दिन में तीन बार स्नान करना चाहिए। इस प्रकार प्रायश्चित करने से पातकी एक वर्ष में शुद्ध होता है। जानकर कोई जातिभ्रंश पाप करे तो ‘सान्तपन व्रत’ और अनजान में करे तो 'प्राजापत्य व्रत’ करना चाहिए। संकर और अपात्र करनेवाले कर्मों में एक मास चान्द्रायण मन शुद्ध करता है। और मलिनीकरण कर्मों में तीन दिन जो की अपनी जौ की लपसी खाने से शुद्ध होता है। सदाचारी क्षत्रिय के वध में ब्रह्महत्या का चौथाई, वैश्य वध में

आठवां हिस्सा और शूद्रवध में सोलहवां हिस्सा - प्रायश्चित्त जानना चाहिए। यदि श्रेष्ठ द्विज अज्ञानवश क्षत्रिय का वध करे तो विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करने के पश्च्यात एक हजार गौ और एक बल का दान करना चाहिए ॥१२१-१२८ ॥

त्र्यब्दं चरेद् वा नियतो जटी ब्रह्महनो व्रतम् ।
वसन् दूरतरे ग्रामाद् वृक्षमूलनिकेतनः ॥ ॥१२९॥
एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ।
प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥ ॥१३०॥
एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासांशूद्रहा चरेत्।
वृषभेकादशा वाऽपि दद्याद् विप्राय गाः सिताः ॥ ॥१३१॥
मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च ।
श्वगोधौलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ ॥१३२॥
पयः पिबेत् त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत् ।
उपस्पृशेत् स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाऽब्।दैवतं जपेत् ॥ ॥१३३॥
अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात् सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः ।
पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैकमाषकम् ॥ ॥१३४॥
घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ ।
शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायनम् ॥ ॥१३५॥
हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च ।
वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद् ब्राह्मणाय गाम् ॥ ॥१३६॥

अथवा वउस पुरुष को ग्राम से दूर वृक्ष के नीचे जटा रखकर एक वर्ष तक ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करना चाहिए। और यहीं प्रायश्चित्त - अजान में सदाचारी वैश्य के वध में भी करना चाहिए और एक सौ गौ का दान करना चाहिए । शूद्रवध में भी यही सब प्रायश्चित्त छः मास तक करना दस श्वेत गौ और एक बैल दान करना चाहिए। बिलाव,

नेवला, पपीहा, मेंढक, कुत्ता छिपकली, उल्लू और कौआ को अनजान में मारकर शुद्रहत्या का व्रत करना चाहिए। अथवा तीन रात तक दूध पीकर करना चाहिए अथवा एक योजन तक मार्ग चलना अथवा तीन बार नदी में स्नान करना चाहिए अथवा 'आपोहिष्टा' इत्यादि वरुणसूक्त का पाठ करना चाहिए। द्विज सर्प का वध करे तो उसे तीखे नोक का-लोहे का दण्डा दान करना चाहिए। नपुंसक का वध करने पर एक भार धान के सूखे डंठल अथवा एक माषा सीसा देना चाहिए। सूअर के वध में घी भरा घड़ा , तीतर मारने पर एक द्रोण तेल, तोता की हत्या में दो वर्ष का बछड़ा, क्रौञ्च वध में तीन वर्ष का बछड़ा दान करना चाहिए। हंस, बगली, बगला, मोर, वानर, बाज और भास इन एक्षियों को मारकर ब्राह्मण को गो 'दान करना चाहिए तभी पाप से शुद्ध होता है ॥ १२६-१३६॥

वासो दद्याद् हयं हत्वा पञ्च नीलान् वृषान् गजम् ।
अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ ॥१३७॥
क्रव्यादांस्तु मृगान् हत्वा धेनुं दद्यात् पयस्विनीम् ।
अक्रव्यादान् वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥ ॥१३८॥

घोड़े की हत्या में वस्त्र, हाथी की हत्या में पांच नीले बैल, बकरा और मेढ़ा के लिए सांड़ और गर्दभ के वध में एक वर्ष का बछड़ा दान करना चाहिए । मांसाहारी पशुओं की हत्या में दूध देनेवाली गौ, मांस न खानेवाले पशुओं की हिंसा में बछड़ी और ऊंट की हिंसा में रत्तीभर सोने का दान करना चाहिए ॥ १३७-१३८ ॥

जीनकार्मुकबस्तावीन् पृथग् दद्याद् विशुद्धये ।
चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥ ॥१३९॥

दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन् ।
एकैकशश्चरेत् कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥ ॥१४०॥
अस्थिमतां तु सत्त्वानां सहस्रस्य प्रमापणे ।
पूर्णे चानस्यनस्थ्नां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ ॥१४१॥
किं चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे ।
अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुध्यति ॥ ॥१४२॥
फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृच्श्तम् ।
गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥ ॥१४३॥
अन्नाद्यजानां सत्त्वानां रसजानां च सर्वशः ।
फलपुष्पोद्भवानां च घृतप्राशो विशोधनम् ॥ ॥१४४॥

चारों वर्ण की व्यभिचारिणो स्त्रियों की हत्या होने पर क्रम से मृगचर्म, धनुष, चकरा और मेढ़े का दान करना चाहिए । पूर्व कहे हुए सर्प आदि के प्रायश्चित्तों को न कर सके तो एक एक कृच्छ व्रत करना चाहिए। हजार हड्डीवाले जीवों की हत्या और विना हड्डीवाले गाड़ी भर जीवों की हत्या में शुद्रहत्या का प्रायश्चित्त करना चाहिए। अस्थि-हड्डी वाले प्राणियों की हत्या में ब्राह्मण को कुछ दक्षिणा देनी चाहिए और अस्थि रहितों की हत्या में प्राणी प्रणायाम से शुद्ध होता है। फल देनेवाले वृक्ष, गुल्म, बेल, लता और फूलवाले पौधों को व्यर्थ काटने पर सौ ऋचाओं का पाठ करना चाहिए। सब प्रकार के अन्न, रस,फल-पुष्पादि में पैदा हुए जीवों के वध में 'घृत-प्राशन' शुद्ध करता है ॥ १३६-१४४ ॥

कृष्तजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने ।
वृथालम्भेऽनुगच्छेद् गां दिनमेकं पयोव्रतः ॥ ॥१४५॥
एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम् । ज्ञा
नाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे ॥ ॥१४६॥

खेत में या वन में स्वयं उत्पन्न औषधियों को व्यर्थ काटने पर एक दिन दूध पीकर गौ के पीछे घूमना चाहिए। जानकर अथवा अजाने में हिंसा से हुए सभी पाप इन व्रतो से नष्ट हो जाते हैं । अब अभक्ष्य-भक्षण का प्रायश्चित्त सुनो ॥१४५-३४६ ॥

अभक्ष्य भक्षण प्रायश्चित्त

अज्ञानाद् वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुध्यति ।
मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥ ॥१४७॥
अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा ।
पञ्चरात्रं पिबेत् पीत्वा शङ्खपुष्पीशृतं पयः ॥ ॥१४८॥
स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत् प्रतिगृह्य च ।
शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वाऽपः कुशवारि पिबेत् त्र्यहम् ॥ ॥१४९॥
ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः ।
प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ ॥१५०॥
अज्ञानात् प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च ।
पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ ॥१५१॥
वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च ।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि ॥ ॥१५२॥

अज्ञान में मद्यपान करने पर संस्कार से शुद्धि होती है और इच्छा पूर्वक पीने पर कोई प्रायश्चित नहीं कहा है। केवल मृत्यु उपरांत शुद्धि होती है - यही मर्यादा है। जिसने सुरा और मद्य के पात्र का जल पिया हो उसको पांच दिन शंखपुष्पि का काढ़ा पीना चाहिए। मद्य छूकर, देकर और और विधि से ग्रहण करके और शूद्र का झूठा जल पीकर तीन दिन कुश का उबला जल पीना चाहिए। सोमपान करने वाला,

मद्यप के मुख गंध को सूंघकर तीन प्राणायाम जल का और घृतप्राशन करने से शुद्ध होता है। अज्ञान से विष्ठा, मूत्र और मद्य स्पर्श हुआ पदार्थ पाकर द्विजों का पुनः संस्कार होना ही उचित है। द्वितीय बार संस्कार में द्विजातियों को मुण्डन, मेखला, दण्ड, भिक्षा और व्रत धारण नहीं करना होता ॥१४७-२५२॥

अभोज्यानां तु भुक्त्वाऽन्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च ।
जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान् पिबेत् ॥ ॥१५३॥
शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वा मेध्यान्यपि द्विजः । ता
वद् भवत्यप्रयतो यावत् तन्न व्रजत्यधः ॥ ॥१५४॥
विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः ।
प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ ॥१५५॥
शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च ।
अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ ॥१५६॥
क्रव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे ।
नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ ॥१५७॥
मासिकान्नं तु योऽश्नीयादसमावर्तको द्विजः । स
त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् ॥ ॥१५८॥
ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान् मधु मांसं कथं चन ।
स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥ ॥१५९॥
बिडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च ।
केशकीटावपन्नं च पिबेद् ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥ ॥१६०॥

अभोज्यों का अन्न, स्त्री और शूद्र का जूठन खाकर और अभक्ष्य मांस खाकर सात रात जौ की लपसी खानी चाहिए। सिरका इत्यादि सड़ी भोज्य वस्तु और काढ़ा पीकर बिना वमन किये द्विज शुद्ध नहीं होता। गांव का सुअर, गधा, ऊंट, सियार, वानर और कौत्रा का मूत्र और

विष्ठा खा जाने पर, चान्द्रायण व्रत करना चाहिए। सूखा मांस, ज़मीन के फूल, अज्ञात और कसाईखाने का मांस खाकर भी चान्द्रायण व्रत ही करना चाहिए। कच्चा मांस खानेवाले, सुअर, ऊंट, मुरगा, मनुष्य, कौआ और गधे का मांस खाने में आ जाय तो तप्तकृच्छ से शुद्ध होता है। बिना समावर्तन के जो ब्रह्मचारी द्विज, मासिक श्राद्ध का अन्न खाता है उसे तीन दिन उपवास करना चाहिए और एक दिन जल में बैठेना चाहिए। जो ब्रह्मचारी भी किसी प्रकार मांस का सेवन कर ले, उसको प्राजापत्य व्रत करना चाहिए और बाकी बचे ब्रह्मचर्य को समाप्त कर देना चाहिए। बिल्ली, कौआ, चूहा, कुत्ता और नेवले का जूठा और दाल, कीड़ा पड़ा अन्न खाकर 'ब्रह्मसुवर्चला' का काढ़ा पीना चाहिए ॥१५३-१६०॥

अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता ।
अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाऽप्याशु शोधनैः ॥ ॥१६१॥
एषोऽनाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः ।
स्तेयदोषापहर्तॄणां व्रतानां श्रूयतां विधिः ॥ ॥१६२॥
धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद् द्विजोत्तमः ।
स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुध्यति ॥ ॥१६३॥
मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च ।
कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ ॥१६४॥
द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेश्मतः ।
चरेत् सांतपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥ ॥१६५॥
भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्याऽऽसनस्य च ।
पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥ ॥१६६॥
तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च ।
चेलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥ ॥१६७॥

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च । अयः।कांस्यौपलानां च द्वादशाहं कणान्नता ॥ ॥१६८॥

अपनी शुद्धि चाहनेवाला पुरुष को अभोज्य अन्न नहीं खाना चाहिए और अज्ञान से खाया हुआ वमन कर देना चाहिए। यह न कर सके तो शीघ्र प्रायश्चित्तों से शुद्धि करना चाहिए। यह सब अभक्ष्य भक्षण व्रतों की अनेक प्रकार की विधि कही । अब चोरी के पाप को नाश करनेवाले व्रतों को सुनो । ब्राह्मण यदि-जानकर अपने सजातीय के घर से अन्न, पक्कान और धन चुरावे तो एक वर्ष प्राजापत्य करने से शुद्ध होता है। मनुष्य, स्त्री, खेत, घर, कूप और बावड़ी के जल की चोरी करने पर चान्द्रायण व्रत करना चाहिये। कम कीमत के पदार्थ दूसरे के घर से चुराने पर सान्तपन व्रत करना चाहिए और वह पदार्थ लौटा देना चाहिए। लड्डू श्रादि भक्ष्य, खीर वगैरह भोज्य, सवारी, शय्या, आसन, फूल, मूल और फल की चोरी में पंचगव्य से शुद्धि होती है | तुण, काठ, वृक्ष, सुखा अन्न, गुड़, वस्त्र, चर्म और मांस चुराने पर तीन दिन उपवास करना चाहिए। मणि, मोती, मूंगा, तांबा, चांदी, लोहा, कांसा और पत्थर चुराने पर बारह दिन चावल की कनकी खानी चाहिए ॥१६१-१६८॥

कार्पासकीटजोर्णानां द्विशफेकशफस्य च ।
पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥ ॥१६९॥
एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।
अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ ॥१७०॥
गुरुतल्पव्रतं कुर्याद् रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु ।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥ ॥१७१॥
पैतृस्वसेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च ।
मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ ॥१७२॥

एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत् तु बुद्धिमान् ।
ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः ॥ ॥१७३॥

कपास, रेशम, ऊन दो और एक खुर के पशु, पक्षी, सुगन्ध, द्रव्य, औषध, रस्सी की चोरी करने पर तीन दिन पानी पीकर बिताना चाहिए। द्विजों को इन व्रतों से चोरी के पाप को दूर करना चाहिए। अगम्या स्त्री के गमन का पाप इन व्रतों से दूर करे-संगी, बहन, मित्र और पुत्र की स्त्री, कुमारी और चाण्डाली के साथ गमन में गुरुपत्नी-गमन का प्रायश्चित्त करना चाहिए। बुआ की बेटी, मौसी की बेटी और मामा की बेटी इन तीन बहनों से गमन करके चन्द्रायण व्रत करना चाहिए। बुद्धिमान् पुरुष को इन तीनों को स्त्रीरूप से स्वीकार नहीं करना चाहिए, यह सभी समान जाति की होने से अगम्या हैं इनसे गमन करने से मनुष्य नरकगामी होता है। ॥१६६-१७३॥

अमानुषीषू पुरुष उदक्यायामयोनिषु ।
रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् ॥ ॥१७४॥
मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः । गो
यानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥ ॥१७५॥
चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात् साम्यं तु गच्छति ॥ ॥१७६॥

अमानुषी योनि, रजस्वला और जल में वीर्यपात करके सान्तपन व्रत करना चाहिए। द्विज पुरुष-स्त्री को बैलगाड़ी में, जल में और दिन में, मैथुन करके वस्त्र सहित स्नान करना चाहिए। ब्राह्मण अज्ञान से चाण्डाल, मेलच्छ स्त्री से गमन करके, उनका यहाँ भोजन करके, उनसे दान लेकर पतित होता है और जानकर ऐसा कर्म करने पर उनके समान हो जाता है ॥१७४-१७६॥

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि ।
यत् पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद् व्रतम् ॥ ॥१७७॥
सा चेत् पुनः प्रदुष्येत् तु सदृशेनोपमन्त्रिता ।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥ ॥१७८॥
यत् करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद् द्विजः ।
तद् भैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥ ॥१७९॥
एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः ।
पतितैः सम्प्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥ ॥१८०॥

दुराचारी स्त्री को, उसके पति को एक घर में बन्द कर देना चाहिए और जो पुरुष को परस्त्रीगमन में प्रायश्चित्त है, वही उससे करवाना चाहिए। किसी जातीय पुरुष के बहकाने पर यदि कह फिर बिगड़ जाए तो उसको चन्द्रायण व्रत करवाना चाहिए। एक रात चांडाली के साथ समागम करने से जो पाप द्विज करता है वह तीन वर्ष तक भिक्षा अन्न खाकर गायत्री जप से दूर होता है। यह सब पाप करनेवाले चारो वर्ण की शुद्धि कही है। अब पतितों के संसर्ग का प्रायश्चित्त सुनो ॥ १७७-१८० ॥

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।
याजनाध्यापनाद् यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥ ॥१८१॥
यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।
स तस्यैव व्रतं कुर्यात् तत्संसर्गविशुद्धये ॥ ॥१८२॥
पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः ।
निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञातिर्त्विग्गुरुसंनिधौ ॥ ॥१८३॥
दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत् प्रेतवत् पदा ।
अहोरात्रमुपासीरन्नशौचं बान्धवैः सह ॥ ॥१८४॥

एक वर्ष तक पतितों के साथ एक सवारी वा आसन पर बैठने से और एक पंक्ति में भोजन करने से उनको यज्ञकर्म कराने, वेद पढ़ाने और विवाहसम्बन्ध करने से पतित हो जाता है। जो मनुष्य, इन पतितो के साथ जो संसर्ग करता है वह उस संसर्ग की शुद्धि के लिए वही व्रत करना चाहिए। पतित प्रायश्चित्त न करे तो उसके सपिण्ड और ममेरे-फुफेरे भाई आदि निदित तिथि को सायंकाल, गाँव के बाहर जाति-पुरोहित-गुरुजनों के सामने जलदान करना चाहिए। बासी जल भरे पुराने घड़े को प्रेत के समान पैर से ठोकर देकर फोड़ दे, और सपिण्ड बान्धवों के साथ एक दिन-रात का प्रायश्चित्त मानना चाहिए ॥१८१-१८४॥

निवर्तेरंश्च तस्मात् तु संभाषणसहासने ।
दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ ॥१८५॥
ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद् धनम् । ज्ये
ष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान् गुणतोऽधिकः ॥ ॥१८६॥
प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवम् ।
तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥ ॥१८७॥
स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम् ।
सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥ ॥१८८॥
एतदेव विधिं कुर्याद् योषित्सु पतितास्वपि ।
वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ ॥१८९॥

सपिण्डो को उनके साथ बोल-चाल उठना-बैठना छोड़ देना चाहिए। पिता के धन में उसको भाग नहीं देना चाहिए और लौकिक व्यवहार भी नहीं करना चाहिए। पतित की ज्येष्ठता और उसके भाग का धन जाता रहता है । इसलिये यह भाग छोटों में जो गुणी हो उनको देना

चाहिये । परन्तु वह प्रायश्चित्त करे तो सपिण्ड-बान्धव साथ ही पवित्र जलाशय में स्नान करना चाहिए और जल भरा घड़ा उस जलाशय में डालना चाहिए। तथा घर में आकर जाति के सब काम पूर्ववत् करने चाहिए। पतित स्त्रियों के विषय में भी यही विधि करनी चाहिए। परन्तु उनको अन्न, वस्त्र, जल देना चाहिए और घर के पास में रहना चाहिए ॥ १८५-१८९॥

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किं चित् सहाचरेत् ।
कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हि चित् ॥ ॥१९०॥
बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः ।
शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥ ॥१९१॥
येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ।
तांश्चारयित्वा त्रीन् कृच्छ्रान् यथाविध्योपनाययेत् ॥ ॥१९२॥

प्रायश्चित्त न करनेवाले पातकियों के साथ दान आदि का कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए और प्रायश्चित्त करनेवालों की पुन: निन्दा भी नहीं करनी चाहिए। बालहत्यावाले, कृतघ्न, शरणागत को मारने वाले और स्त्रियों की हत्या करनेवाले, प्रायश्चित कर भी लें, तब भी उनका संसर्ग नहीं करना चाहिए। जिन द्विजों का शास्त्रोक्त समय में यज्ञोपवीत न हुआ हो उनको तीन प्राजापत्य व्रत कराकर विधि पूर्वक यज्ञोपवीत करवाना चाहिए ॥१९०-१९२॥

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः ।
ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥ ॥१९३॥
यद् गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् ।
तस्योत्सर्गेण शुध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥ ॥१९४॥
जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः ।

मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ ॥१९५॥
उपवासकृशं तं तु गोव्रजात् पुनरागतम् ।
प्रणतं प्रति पृच्छेयुः साम्यं सौम्यैच्छसीति किम् ॥ ॥१९६॥
सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद् यवसं गवाम् ।
गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥ ॥१९७॥
व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च ।
अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ ॥१९८॥
शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः ।
संवत्सरं यवाहारस्तत् पापमपसेधति ॥ ॥१९९॥
श्वशृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च ।
नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुध्यति ॥ ॥२००॥

विरुद्ध कर्म करनेवाले और वेद न पढ़े हुए द्विज प्रायश्चित्त करना चाहें तो उनको भी यही तीन कृच्छ का प्रायश्चित्त बताना चाहिए। जो ब्राह्मण निंदित कर्मों से धन कमाते हैं वह उसको छोड़ने और जप-तप से शुद्ध होते हैं। एकाग्रचित्त से तीन हजार गायत्री का जप करके एक महीना गोष्ठ में दुग्धाहार करके, बुरे दान लेने के पाप से छूटता है। उस 'उपवास से कश, गौष्ठ से आए विनीत ब्राह्मण से पूछे कि “हे सौम्य ! "क्या तू हमारे समान रहने की प्रतिज्ञा करना चाहता है ?" उन ब्राह्मणों से 'अब असत् दान न लूंगा' यह सत्यवचन कहे और गौवों को चारा देवे फिर गौवों से पवित्र किए स्थान (जहां गौ जल पीती हों) में वे ब्राह्मण उसके साथ व्यवहार प्रारम्भ करें। व्रात्यों को यज्ञ कराकर माता, पिता और गुरु से अन्य का प्रेतकर्म करा कर मारणकर्म और 'अहीन' नामक यज्ञ करके तीन प्राजापत्य व्रत करने से शुद्ध होता है। शरणागत को छोड़कर अनधिकारी को वेद पढ़ाकर एक वर्ष जौ खाने से पाप से छुटकारा पाता है। गांव के रहनेवाले कोई जीव कुत्ता, सियार, गदहा, मांसाहारी जीव, मनुष्य, घोड़ा, ऊंट

और सूअर काट लें अथवा स्पर्श करलें तो प्राणायाम से शुद्ध होता है ॥१९३-२००॥

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा ।
होमाश्च सकला नित्यमपाङ्क्त्यानां विशोधनम् ॥ ॥२०१॥
उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः ।
स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुध्यति ॥ ॥२०२॥
विनाऽद्भिरप्सु वाऽप्यार्तः शारीरं संनिषेव्य च ।
सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुध्यति ॥ ॥२०३॥
वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ ॥२०४॥
हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः ।
स्नात्वाऽनश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥ ॥२०५॥
ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वाऽबध्य वाससा ।
विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥ ॥२०६॥
अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्रमभिहत्य च ।
जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥ ॥२०७॥
शोणितं यावतः पांसून् सङ्गृह्णाति महीतले ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥ ॥२०८॥

एक मास तक दो दिन के बाद तीसरे दिन सायंकाल को भोजन, वेदसंहिता का पाठ और साकल मन्त्रों से होम, पंक्ति बाह्य को शुद्ध करता है । ब्राह्मण जानकर ऊंट या गधे की सवारी में बैठे या नंगा होकर स्नान करे तो प्राणायाम से शुद्ध होता है। मल, मूत्र के वेग से आतुर पुरुष बिना जल के अथवा जल में मल मूत्र त्याग करें तो गाँव के बाहर सवस्त्र स्नान कर और गौ का स्पर्श करके शुद्ध होता है। वेदोक्त नित्यकर्मों का और स्नातक के व्रत का लोप होने पर उपवास

करना प्रायश्चित्त है। ब्राह्मण को हुंकार (चुप रह आदि) और बड़े को (तू) इत्यादि न कहकर स्नान करके भोजन करा कर और प्रणाम करके उनको प्रसन्न करना चाहिए। ब्राह्मण को तिनके से भी नहीं मारना चाहिए, वस्त्र से नहीं बांधना चाहिए और विवाद से कभी भी नहीं जीतकर, उनको प्रणाम करके, उनको प्रसन्न करना चाहिए। ब्राह्मण को मारने की इच्छा से दण्डा उठाने पर मनुष्य सौ वर्ष और मारकर हजार वर्ष नरक में गिरता है । पीटे गए ब्राह्मण के देह से गिरा रुधिर धूल के जितने कणों को भिगोता है मारनेवाला उतने हजार वर्ष नरक में व्यतीत करता है ॥२०१-२०८ ॥

अवगूर्य चरेत् कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥ ॥२०९॥
अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ।
शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ ॥२१०॥
यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति ।
तान् वोऽभ्युपायान् वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥ ॥२११॥
त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात् प्राजापत्यं चरन् द्विजः ॥ ॥२१२॥
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतम् ॥ ॥२१३॥
एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः ॥ ॥२१४॥
तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् ।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान् सकृत्स्नायी समाहितः ॥ ॥२१५॥
यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः ॥ ॥२१६॥

ब्राह्मण के ऊपर मारने के लिए लकड़ी उठाकर प्राजापत्य, मारने पर अतिकृच्छ्र और रुधिर निकलने पर कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत करना चाहिए। जिन दोषों का प्रायश्चित्त नहीं कहा है उनका शक्ति और पाप विचार कर प्रायश्चित्त नियत करना चाहिए। मनुष्य जिन उपायों से पाप नष्ट करता है उन देवर्षि और पितरों के सेवित उपायों को तुम से कहता हूं । प्राजापत्य व्रत करनेवाले द्विज को तीन दिन प्रातः काल और तीन दिन सायंकाल और तीन दिन बिना मांगा अन्न खाना चाहिए और तीन दिन व्रत करना चाहिए करे इस प्रकार बारह दिन का व्रत होता है । एक दिन गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुश का जल मिलाकर खाय और एक रात्रि को उपवास करे तब 'कृच्छ-सान्तपन' होता है। तीन दिन प्रातकाल एक एक ग्रास खाए, दूसरे दिन सायंकाल को एक एक ग्रास खाए, तीसरे दिन बिना मांगा एक एक ग्रास खाय और अन्त के तीन दिन उपवास करे यह 'अतिकृच्छ' कहलाता है। तप्तकृच्छ करनेवाला द्विज एक बार स्नान करे और तीन दिन गरम जल तीन दिन गरम दूध, तीन दिन गरम घी, और तीन दिन वायु का सेवन करना चाहिए। जितेन्द्रिय होकर बारह दिन भोजन न करना 'पराक' नामक कृच्छ है। यह सभी पापों को दूर कर देता है। ॥२०९-२१६॥

एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतत्चाण्ड्रायणं स्मृतम् ॥ ॥२१७॥
एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद् यवमध्यमे ।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ ॥२१८॥
अष्टावष्टौ समश्नीयात् पिण्डान् मध्यंदिने स्थिते ।
नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन् ॥ ॥२१९॥
चतुरः प्रातरश्नीयात् पिण्डान् विप्रः समाहितः ।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ ॥२२०॥

यथा कथं चित् पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः ।
मासेनाश्नन् हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥ ॥२२१॥
एतद् रुद्रास्तथाऽदित्या वसवश्चाचरन् व्रतम् ।
सर्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥ ॥२२२॥
महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् ।
अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ ॥२२३॥
त्रिरह्नस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ।
स्त्री शूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हि चित् ॥ ॥२२४॥

तीन समय स्नान करे, कृष्णपक्ष में एक एक ग्रास घटावे, शुक्लपक्ष में एक एक ग्रास बढ़ावे यह चान्द्रायण व्रत कहलाता है। 'यवमध्यम' व्रत में शुक्लपक्ष से नियमपूर्वक चान्द्रायण व्रत करता हुआ इन्हीं सब विधियों को करना चाहिए। 'यतिचान्द्रायण' करनेवाले को नित्य दोपहर में हविष्यान के आठ आठ ग्रास खाने चाहिए और नियम से रहना चाहिए। चार ग्रास प्रातःकाल और चार ग्रास सूर्यास्त में खाना चाहिए, यह 'शिशुचान्द्रायण ' व्रत है। एक मास में हविष्य अन्न के दो सौ चालीस २४० ग्रास खाने से चन्द्र लोक प्राप्त होता है। रुद्र, आदित्य, वसु, मरत और महर्षियों ने सब पापों के नाशार्थ इस व्रत को किया था। यह व्रत करनेवाले पुरुष को प्रतिदिन स्वयं महाव्याहृतियों से हवन करना चाहिए और अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोध त्याग और सरलता का व्यवहार करना चाहिए। तीन बार दिन में और तीन बार रात में सवस्त्र स्नान करना चाहिए। स्त्री, शूद्र और पतितों से कभी भी वार्तालाप नहीं करनी चाहिए ॥ २१७-२२४ ॥

स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा ।
ब्रह्मचारी व्रती च स्याद् गुरुदेवद्विजार्चकः ॥ ॥२२५॥
सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।

सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ ॥२२६॥
एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतेनसः ।
अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥ ॥२२७॥
ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च ।
पापकृत्मुच्यते पापात् तथा दानेन चापदि ॥ ॥२२८॥
यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते ।
तथा तथा त्वचैवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ ॥२२९॥
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।
तथा तथा शरीरं तत् तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ ॥२३०॥
कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात् पापात् प्रमुच्यते ।
नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ ॥२३१॥
एवं सञ्चिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् ।
मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥ ॥२३२॥

आसन पर उठना बैठना चाहिए, यदि अशक्त हो तो भूमि पर सोना चाहिए और ब्रह्मचारी, व्रती, गुरु, देवता और द्विजों का पूजन करना चाहिए। नित्य यथाशाक्त गायत्री और अघमर्पणादि पवित्र मन्त्रों का जप करना चाहिए। प्रायश्चित्त के सभी व्रतों में यही विधि मान्य है। पापी द्विजों को इन व्रतों से अपने आप को शुद्ध करना चाहिए और गुप्त पापियों को ब्राह्मण सभा, मन्त्र जप और होम कराकर शुद्ध करना चाहिए। पाप करनेवाला पाप प्रकट करने, पश्चात्ताप करने और तप स्वाध्याय करने से और आपत्ति में दान देने से ही पाप से मुक्त होता है। मनुष्य जैसे जैसे अपने अधर्म को प्रकट करता है वैसे वैसे ही उससे मुक्त होता जाता है जैसे सांप केंचुली से अलग हो जाता है। जैसे जैसे उसका मन दुष्कृत-कर्म की निंदा करता है वैसे वैसे उसका शरीर अधर्म से मुक्त होता है। पाप करने के बाद संताप करके उससे मुक्त होता है और फिर ऐसा न करूंगा-इस संकल्प से

पवित्र होता है । परलोक में कर्म फल मिलता है, ऐसा मन से विचार कर नित्य मन, वाणी और शरीर से शुभकर्म करना चाहिए। ॥ २२५-२३२ ॥

अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानात् कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद् विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ॥ ॥२३३॥
यस्मिन् कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ।
तस्मिंस्तावत् तपः कुर्याद् यावत् तुष्टिकरं भवेत् ॥ ॥२३४॥
तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम् ।
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥ ॥२३५॥
ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥ ॥२३६॥
ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः ।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ॥२३७॥
औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः ।
तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥ ॥२३८॥
यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ ॥२३९॥
महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः ।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात् ततः ॥ ॥२४०॥

अज्ञानतावश अथवा न जान समझ कर निंदित कर्म करके उससे छुटकारा चाहने वाले को पुन: दूसरा पापकर्म नहीं करना चाहिए। पापी के मन में यदि प्रायश्चित्त से संतोष न हो तो जब तक सन्तोष हो तब तक तप करना चाहिए। देवलोक और मनुष्यलोक के सभी सुख तपो मूलक हैं। तप से ही मध्य में और अन्त में सुख मिलता है, ऐसा ऋषियों का मत है। ब्राह्मण का ज्ञान तप है, क्षत्रिय का तप रक्षा है,

वैश्य का तप व्यापार है और शूद्र का तप सेवा है। संयमी फल, मूल, पवन का आहार करनेवाले ऋषि तप से ही चराचर विश्व को प्रत्यक्ष देखते हैं। रसायन, औषध, ब्रह्मविद्या और स्वर्गादि लोक में निवास यह सभी तप से ही सिद्ध होते हैं। उनका साधन तप ही हैं। जो दुस्तर है, दुर्लभ है, दुर्गम है, दुष्कर है, वह सब तप से सिद्ध हो जाता है। क्योंकि तप की शक्ति अलंघ्य है। महापातकी और उपपातकी सभी तप करने से ही उस पाप से मुक्त हो जाते हैं। ॥२३३-२४०॥

कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च ।
स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् ॥ ॥२४१॥
यत् किं चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः ।
तत् सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥ ॥२४२॥
तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः ।
इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान् संवर्धयन्ति च ॥ ॥२४३॥
प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत् प्रभुः ।
तथैव वेदान् ऋषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ ॥२४४॥
इत्येतत् तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते ।
सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥ ॥२४५॥
वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥ ॥२४६॥
यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ ॥२४७॥

कीट, सर्प, पतंग, पशु, पक्षी और स्थावर प्राणी भी तपोबल से स्वर्ग को जाते हैं। मनुष्य मन, वाणी और शरीर से जो कुछ पाप करते हैं उन सभी को तपोधन ऋषि तप से शीघ्र ही भस्म कर देते हैं। तप से शुद्ध ब्राह्मण के यश बलि को देवता ग्रहण करते हैं और कामनाओं

को पूर्ण करते हैं। तपोबल से ही प्रजापति ने इस शास्त्र को रचा था और ऋषियों ने वेद भी तप से ही प्राप्त किया था। सब प्राणियों का तप से उत्तम योनि में जन्म होता है यह देख कर देवगण तप का माहात्म्य करते हैं। प्रतिदिन वेदाध्ययन, पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान, अपराध सहन यह महापातक के भी पापों का शीघ्र नाश कर देते हैं। जैसे अग्नि तेज से ईधन को जला देता है वैसे वेदविशारद, ज्ञानरूपी अग्नि से सभी पापों को जला देता है। ॥२४१-२४७॥

इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि ।
अत ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ ॥२४८॥
सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश ।
अपि भ्रूणहनं मासात् पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ ॥२४९॥
कौत्सं जप्त्वाऽप इत्येतद् वसिष्ठं च प्रतीत्य् ऋचम् ।
माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुध्यति ॥ ॥२५०॥
सकृत्जप्त्वाऽस्यवामीयं शिवसङ्कल्पमेव च ।
अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद् भवति निर्मलः ॥ ॥२५१॥
हविष्पान्तीयमभ्यस्य न तमं ह इतीति च ।
जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः । ॥२५२॥
एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् ।
अवेत्यर्चं जपेदब्दं यत् किं चेदमितीति वा ॥ ॥२५३॥
प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् ।
जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहात् ॥ ॥२५४॥

इस प्रकार पापों का यथाविधि प्रायश्चित्त कहा गया है। अब गुप्त पापों का प्रायश्चित्त सुनो। एक मास तक ओमकार और व्याहृति के साथ सोलह प्राणायाम करने से भ्रूणहत्या के पाप से से मनुष्य मुक्त हो जाता है। अपनःशुशोचदधम्' इत्यादि ऋग्वेद का कौत्ससूक्त और

प्रतिस्तोमेतिरुषसंवशिष्ठा०' इत्यादि वाशिष्ठमंत्र, 'महित्रीणाम्' इत्यादि सूक्त और 'शुद्धवत्य० ' इत्यादि ऋचाओं का पाठ करने से सुरापान दोष से मुक्त हो जाता है । अस्य वा मस्य० ' इत्यादि ऋचा के सूक्त और 'शिवसंकल्प' इत्यादि सूक्त के पाठ से, सुवर्णचोरी के पाप से तुरंत छूट जाता है। 'हविण्याडामाजरं०' इत्यादि उन्नीस ऋचा, 'नतमहोन दुरितं." इत्यादि पाठ ऋचा और पुरुषसूक्त का एक मास. नित्य पाठ' करने से गुरुपत्नी संभोग का पाप दूर हो जाता है। महापातक और उपपातकों को दूर करने के लिए 'अब ते हेष्ट वरुण' इत्यादि ऋचा, अथवा 'यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जने' इत्यादि ऋचा का एक वर्ष तक जप करना चाहिए। प्रतिग्रह के अयोग्य का लेने और निंदित अन्न के भोजन का पाप, 'तरत्समरिधावत्तिक ' इत्यादि चार मंत्र का पाठ तीन दिन करने से दूर होता है ॥२४८-२५४॥

सोमारौद्रं तु बह्वेनाः मासमभ्यस्य शुध्यति ।
स्रवन्त्यामाचरन् स्नानमर्यम्णामिति च तृचम् ॥ ॥२५५॥
अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत् ।
अप्रशस्तं तु कृत्वाऽप्सु मासमासीत भैक्षभुक् ॥ ॥२५६॥
मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः ।
सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम् ॥ ॥२५७॥
महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद् गाः समाहितः ।
अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुध्यति ॥ ॥२५८॥
अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् ।
मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥ ॥२५९॥
त्र्यहं तूपवसेद् युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः ।
मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥ ॥२६०॥

अधिक पाप करनेवाला नदी में स्नान करके 'सोमा रुद्रा धारयेथा०.' इत्यादि और अर्यमणं वरुणं मित्रं०' इत्यादि तीन ऋचाओंका एक मास तक नित्य पाठ करे तो शुद्ध होता है। पापी पुरुष को छह मास तक, 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निः इत्यादि सात 'ऋचा का-नित्य पाठ करना चाहिए और जल में मल-मूत्र डालनेवाले को एक मास तक भीख मांगकर निर्वाह करना चाहिए। द्विज, 'देवकृतस्य.' इत्यादि शाकल होम के मन्त्रों से, एक वर्ष तक घी का होम करना चाहिए। अथवा 'नम इन्द्रश्च०' इत्यादि मन्त्र का एक वर्ष तक पाठ करे तो महापाप से भी छूट जाता है । महापातकी एक वर्षतक भीख मांगकर खाना चाहिए, सावधानी से नित्य गौओं के पीछे घूमना चाहिए और पवमान देवता के सूत्रों का पाठ करके शुद्ध होता है। पूर्वोक्त तीन पराक प्रतों से शुद्ध, जितेन्द्रिय होकर, वन मे वेदसंहिता का तीन बार पाठ करने पर सभी पापों से मुक्त हो जाता है। तीन दिन उपवास कर, तीनों समय में स्नान कर और अघमर्षण सूक्त का पाठ करने पर सभी पापों से मुक्त हो जाता है। ॥२५५-२६० ॥

यथाऽश्वमेधः क्रतुराड् सर्वपापापनोदनः ।
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ ॥२६१॥
हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः ।
ऋग्वेदं धारयन् विप्रो नैनः प्राप्नोति किं चन ॥ ॥२६२॥
ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः ।
साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ॥२६३॥
यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥ ॥२६४॥
ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥ ॥२६५॥
आद्यं यत् त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।

स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ॥२६६॥

जैसे यज्ञों का राजा अश्वमेध सभी पापों का नाशक है, वैसे अघमर्षण-सूक्त सभी पापों का नाशक है। ऋग्वेद को धारण करने वाला ब्राह्मण चाहे तीनों लोकों का संहार करे अतवा मनमाने अन्न को ग्रहण करे तो भी उसको पातक नहीं लगता। जो द्विज सावधानी से ऋक्संहिता या यजुःसंहिता अथवा सामसंहिता की ब्राह्मण-उपनिषदों के सहित तीन बार आवृत्ति करे तो सभी पापों से मुक्त हो जाता है। जैसे बड़ी नदी में डाला हुआ ढेला डूब जाता है वैसे ही सभी पाप तीन आवृत्ति वेद में डूब जाते हैं। ऋक, यजु और सामः वेद और विविध मन्त्रों को त्रिवृत् वेदः जानना चाहिए। जो इनको जानता है वही वेदवेत्ता है। सब वेदों में प्रधान तीन अक्षर का-जिसमें तीनों वेद अन्तर्गत हैं, वह गोपनीय प्रणव 'ॐ' कार, दूसरा त्रिवृत् वेद है। जो उसके स्वरूप और अर्थ को जानता है वही वेदविशारद हैं ॥२६१-२६६॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां स्मृतौ एकादशोऽध्यायः समाप्तः ॥११॥

॥महर्षि भृगु द्वारा प्रवचित मानव धर्म शास्त्र स्मृति का ग्यारहवां अध्याय समाप्त॥

॥ मनुस्मृति ॥

॥अथ द्वादशोऽध्यायः बारहवां अध्याय ॥

कर्मफल-निर्णय।

चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयाऽनघः ।
कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ॥ ॥१॥
स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन् मानवो भृगुः ।
अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ ॥२॥
शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमः ॥ ॥३॥
तस्यैह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात् प्रवर्तकम् ॥ ॥४॥
परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ॥५॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ॥६॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ॥७॥

हे पापरहित ! यह चारों वर्णों का संपूर्ण धर्म आपने कहा, अब शुभाशुभ कर्मों के दूसरे जन्म में होनेवाले फलों को यथार्थरूप से हम से कहिये! इस प्रकार महर्षियों ने भृगु से पूछा। यह सुनकर मनुपुत्र-

धर्मात्मा भृगु ने ऋषियों से कहा इस सम्पूर्ण कर्मयोग के निर्णय को सुनोः

मन, वाणी और शरीर से होनेवाला कर्म शुभ, अशुभ फल देता है और उसी कर्म के अनुसार मनुष्यों का उत्तम-मध्यम और अधम योनि में जन्म होता है। उस देही के उत्तम-मध्यम-अधम और मन-वाणी-शरीर के आश्रित फल देने वाले तीन प्रकार के दस लक्षणयुक्त धर्म का "मनप्रवर्तक-चलाने वाला है। अन्याय से परधन हरने का विचार, दूसरे का बुरा चाहना और परलोक में अश्रद्धा ये तीन प्रकार के मानस पाप कर्म हैं। कठोर वचन कहना, झूठ बोलना, सभी प्रकार की चुगली और व्यर्थ की बातें करना यह चार वाणी के पापकर्म हैं। बिना दी हुई वस्तु लेना, शास्त्रविरुद्ध हिंसा और परस्त्री-गमन यह तीन शरीर के पापकर्म है ॥१-७॥

मानसं मनसेवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनेव च कायिकम् ॥ ॥८॥
शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ॥९॥
वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ ॥१०॥
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ॥११॥
योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥ ॥१२॥
जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ ॥१३॥
तावुभौ भूतसम्पृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च ।

उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ ॥१४॥

मनुष्य मन से किए शुभाशुभ कर्मफल को मन से ही, वाणी से किये, वाणी ही और शरीर से किए कर्म का शरीर से ही फल भोगता है। मनुष्य शारीरक कर्मदोषों से वृक्षादियोनि, वाणी के कर्मदोषों से पक्षी और मृग की योनि और मानसिक कर्मदोषों से चाण्डाल आदि हीन योनियों में जन्म पाता है। वाणी को नियम में रचना वाग्दंड, मन को वश में रखना मनोदण्ड और शरीर को वश में रखना कायदण्ड ये तीनों जिसकी बुद्धि में स्थित हैं वह पुरुष 'त्रिदण्डी' कहलाता है। मनुष्य संपूर्ण जीवों पर इन तीनों दण्डो को स्थापित करने और काम-क्रोध को वश में रखने से, सिद्धि-कृतार्थता को पाता है। जो इस शरीर को कर्म में प्रेरित करता है उसको क्षेत्र' कहते हैं। और जो कर्म करता है उसे 'भूतात्मा' कहते हैं। जीव नामक दूसरा अन्तरांत्मा (सूक्ष्म शरीर) समस्त शरीरधारी क्षत्रों के साथ पैदा होता है। जिससे जन्मों में सम्पूर्ण सुख-दुःख जाना जाता है। वे दोनों महान-सूक्ष्म शरीर और क्षेत्रज्ञ -जीवात्मा पञ्चभूतों के साथ मिलकर ऊंचे-नीचे प्राणियों में स्थित होकर परमात्मा के आश्रय से रहते हैं। ॥५-१४॥

असङ्ख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः ।
उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥ ॥१५॥
पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् ।
शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ ॥१६॥
तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणैह यातनाः ।
तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥ ॥१७॥
सोऽनुभूयासुखोदर्कान् दोषान् विषयसङ्गजान् ।
व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥ ॥१८॥
तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह ।

याभ्यां प्राप्नोति सम्पृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥ ॥१९॥
यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः ।
तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते ॥ ॥२०॥
यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः ।
तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥ ॥२१॥
यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः ।
तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ ॥२२॥

उस परमात्मा के शरीर से क्षेत्रज्ञ नामक असंख्य जीव उत्पन्न होते हैं, जो उत्तम-अधम प्राणियों से निरन्तर कर्म कराते हैं। पापी मनुष्यों का शरीर यम यातना के लिए, दूसरा सूक्ष्म-पञ्चतमात्रा से उत्पन्न होता है। वह पापी उस शरीर से यमयातना को भोगकर फिर उन पञ्चभूतो की मात्राओं में विभाग के अनुसार लीन हो जाता है। वह सूक्ष्म शरीरी जीव, दुःखों को भोग चुकने पर पापरहित होकर महान् और क्षेत्रज्ञ का आश्रय करता है। वह महान और क्षेत्रज्ञ साथ में उस प्राणी के पाप-पुण्य का विचार करते हैं, जिनसे मिला हुआ यहां और परलोक में सुख-दुःख भोगता है। मनुष्य जन्म में यदि वह धर्म अधिक और अधर्म थोड़ा किए रहता हैं तो उन्हीं पञ्चभूतों से युक्त होकर स्वर्ग मे सुख भोगता है। यदि अधर्म अधिक रहता है तो मरकर यमयातना भोगता हैं। उन यातनाओं को भोगने के बाद निष्पाप होकर वह जीव फिर विभाग के अनुसार पञ्चभूतों का आश्रय लेकर जन्म लेता है ॥ ३५-२२ ॥

गुणों का प्रभाव

एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा ।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात् सदा मनः ॥ ॥२३॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्यैमान् स्थितो भावान् महान् सर्वानशेषतः ॥ ॥२४॥
यो यदेषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ ॥२५॥
सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ ॥२६॥
तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं किं चिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ ॥२७॥
यत् तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद् रजो प्रतीपं विद्यात् सततं हारि देहिनाम् ॥ ॥२८॥
यत् तु स्यान् मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ॥२९॥
त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ॥३०॥

इन जीवगतियों का जोकि धर्म-अधर्म से होनेवाली हैं, अपने मन से विचार करके पुरुष को सदा धर्म में मन लगाना चाहिए। सत्य, रज और तम ये तीनों आत्मा प्रकृति के गुण हैं। इन्हीं गुणों से व्याप्त महत्तत्व, सारे विश्व में स्थित है। इन गुणों में जो गुण जब देह में अधिक होता है तब उस प्राणी को अपने भाव के समान कर डालता है। वस्तु का वास्तविक ज्ञान सत्व गुण का उलटा ज्ञान तमोगुण का और राग-द्वेष रजोगुण का लक्षण है। सभी प्राणियों के शरीर इन्हीं के प्रभावों से व्यात हो रहे हैं। जिस से आत्मा को सुख का ज्ञान हो शान्त शुद्ध और प्रकाश भाव पैदा हो वह सत्वगुण है। आत्मा को अप्रीतिकर दुःख से मिला विषयों में खींचनेवाला रजोगुण होता है। जो मोह-युक्त हो, प्रकट न हो, विषयी हो और तर्क या बुद्धि से न जाना जाय वह

तमोगुण है । इन तीनों गुणों का जो उत्तम-मध्यम-अधम फल होता है वह सब आगे कहा जाता है ॥ २३-३०॥

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियाऽत्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ ॥३१॥
आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ॥३२॥
लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ॥३३॥
त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ॥३४॥
यत् कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज् ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ॥३५॥
येनास्मिन् कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसम्पत्तौ तद् विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ॥३६॥
यत् सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्माऽस्य तत् सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ॥३७॥
तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ॥३८॥

वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रियों का निग्रह, धर्म, कर्म और आत्मचिन्तन ये सब सत्त्वगुण के काम हैं। आरम्भ में रुचि होना, फिर अधैर्य, बुरे कामों में फंसना और विषय भोग ये रजोगुण के काम हैं । लोभ, नींद, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, अनाचार, मांगने की आदत और प्रमाद यह तमो गुण के काम है। इन तीनों गुणों का संक्षेप से लक्षण इस प्रकार है:

जिस कर्म को करते करते हुए या आगे करने में लज्जा आती है वह तमोगुण का लक्षण है।
जिस कर्म से लोक में प्रसिद्धि चाहे, पर फल न होने पर शोक न पैदा हो, वह रजोगुण का लक्षण है।
जिससे ज्ञान प्राप्त करना चाहे, जिसको करने में लज्जा न आये और जिस कर्म से मन प्रसन्न सन्तुष्ट रहे, उसको सत्त्वगुण का लक्षण जानना चाहिए।

तम का काम, रज का अर्थ और सत्व का धर्म ये मुख्य लक्षण हैं। इनमें क्रम से अगला अगला श्रेष्ठ माना जाता है ।।३१-३८॥

येन यस्तु गुणेनैषां संसरान् प्रतिपद्यते ।
तान् समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ॥३९॥
देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ॥४०॥
त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ।
अधमा मध्यमाग्र्या च कर्मविद्याविशेषतः ॥ ॥४१॥
स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः ।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥ ॥४२॥
हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः ।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥ ॥४३॥
चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥ ॥४४॥
झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥ ॥४५॥
राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।

वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ॥४६॥

इन गुणों में जिस गुण से जीव जिन जिन गतियों को पाता है, उन गतियों को संक्षेप से कहता हूँ - सात्त्विक गुणवाले देव भाव, रजोगुणी मनुष्यत्व और तमोगुणी पक्षीपन को पाते है: यह तीन प्रकार की गति है। सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से होनेवाली गति, कर्म और विद्या के अनुसार, उत्तम-मध्यम-अधम होती है । वृक्षादि स्थावर, कृमि, कीट, मछली, साँप, कछुआ, पशु और मृग,ये तमोगुणी अधम गति है। हाथी, घोड़ा, शूद्र, म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र और शूकर ये तमोगुणी मध्यमगति है। चारण-भाँट गरुडादि पक्षी, पाखंडी पुरुष, राक्षस और पिशाच ये तमोगुण की उत्तम गति जाननी चाहिए। भल्ल, मल्ल, नट, शस्त्र से जीनेवाले, जुआ-मद्यपान में आसक्त पुरुष ये रजोगुण की अधमगति है । राजा, क्षत्रिय, राजपुरोहित, विवाद करनेवाले ये रजोगुणी मध्यमगति है ॥३६-४६॥

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये ।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ ॥४७॥
तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥ ॥४८॥
यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥ ॥४९॥
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ॥५०॥
एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः ।
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥ ॥५१॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च ।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ॥५२॥

यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनैह कर्मणा ।
क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस्तत् तत् सर्वं निबोधत ॥ ॥५३॥
बहून् वर्षगणान् घोरान्नरकान् प्राप्य तत्क्षयात् ।
संसारान् प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥ ॥५४॥

गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, विद्याधर और अप्सरा ये रजोगुणी उत्तमगति है। वानप्रस्थ, संन्यासी, ब्राह्मण, विमानचारी देवता; नक्षत्र और दैत्य ये सत्त्वगुण की अधमगति है। यजमान, ऋषि, देवता, वेद, ज्योति, वर्ष, पितर और साध्यदेव यह सत्वगुण की मध्यमगति है । ब्रह्मा, प्रजापति, धर्म, महत्तत्त्व और प्रधान इसको सत्वगुण की उत्तमगति विद्वान् लोग कहते हैं । इस प्रकार मन, वाणी और शरीर के तीन प्रकार के कर्मों से होने पाली, त्रिगुणमयी, उत्तम-मध्यम-अधम तीन प्रकार की सब प्राणियों की गति कही गई है। इन्द्रियों में आसक्ति और धर्माचरण न करने से मूर्ख-अधम मनुष्य पापयोनि को प्राप्त होते हैं। इस लोक में यह जीव जिस जिस कर्म से जिस जिस योनि में जन्म लेता है, उन सब को क्रम से सुनो-महापातकी पुरुष बहुत वर्षों तक भयानक नरको में पड़कर, पाप कट जाने पर बाकी भोग भोगने के लिए इन नीच योनियों में जन्मता है । ॥४७-५४॥

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोऽजाविमृगपक्षिणाम् ।
चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ॥५५॥
कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम् ।
हिंस्राणां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ ॥५६॥
ताऽहिसरटानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् ।
हिंस्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥ ॥५७॥
तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि ।
क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ॥५८॥

हिंस्रा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽमेध्यभक्षिणः ।
परस्परादिनः स्तेनाः प्रेत्यान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ॥५९॥
संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् ।
अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ॥६०॥
मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः ।
विविधाणि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥ ॥६१॥
धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः ।
मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥ ॥६२॥

ब्रह्महत्या करनेवाला, कुत्ता, सुअर, गधा, ऊँट, बैल, बकरा, मेंढा, मृग, पक्षी, चाण्डाल और पुक्कस की जाति में, जन्म लेता है। मद्यपान करनेवाला ब्राह्मण कृमि, कीड़ा, पतंग, मैला खानेवाले, पक्षी और हिंसक प्राणियों की जाति में जन्म लेता है । सोना चुरानेवाला ब्राह्मण मकड़ी, सांप, गिरगट, जलचर पक्षी, हिंसक जीव और पिशाच की योनि में जन्मता है। गुरुपत्नी-गामी पुरुष सैकड़ों बार घास, गुल्म, लता, कच्चा मांस खानेवाले, दाढ़वाले ओर क्रूर कर्मियों की योनि में जन्म लेता है। हिंसक मनुष्य कच्चा मांस खानेवाले, कृमि और अभक्ष्य-भक्षी होते हैं । चोर एक दूसरे को खानवाले प्राणी होते हैं । चाण्डाली से संयोग करनेवाले प्रेत होते हैं। पतितों से संसर्ग, परस्त्री और ब्राह्मण धन हरने वाला, ब्रह्मराक्षस होता है। मणि, मोती, मूंगा और विविध रत्ना को 'चुराकर, हेमकार पक्षियों में जन्मता है। अन्न चुराकर चूहा, कांसे की चोरी से हंस, जल चुराने से मेंढ़क, मधु चुराने से मक्खी, दूध की चोरी से कौआ, रस चुराने से कुत्ता और घी चुराने से नेवला होता है। ॥५५-६२ ॥

मांसं गृध्रो वपां मद्गुस्तैलं तैलपकः खगः ।
चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्दधि ॥ ॥६३॥

कौशेयं तित्तिरिर्हत्वा क्षौमं हत्वा तु दर्दुरः ।
कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम् ॥ ॥६४॥
छुच्छुन्दरिः शुभान् गन्धान् पत्रशाकं तु बर्हिणः ।
श्वावित् कृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ॥ ॥६५॥
बको भवति हत्वाऽग्निं गृहकारी ह्युपस्करम् ।
रक्तानि हत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥ ॥६६॥
वृको मृगैभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः । स्त्रीं
ऋक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥ ॥६७॥
यद् वा तद् वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः ।
अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥ ॥६८॥
स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हत्वा दोषमवाप्नुयुः ।
एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥ ॥६९॥
स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि ।
पापान् संसृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥ ॥७०॥

मांस चुराने से गिद्ध, चरबी चुराने से जलकाक, तेल की चोरी से तिलचट्टा, नमक चुराने से झींगुर और दही की चोरी से बगुला होता है। रेशम चुराने, से तीतर, अलसी के कपड़ों की चोरी से मेंढक, कपास वस्त्र चुराने से सारस गौ चुराने से गोह और गुड़ चुराने से वाग्गुद पक्षी होता है। उत्तम सुगन्ध की चीज़ चुराने से छछुनदर, पत्ते-शाक चुराने से मोर, पका हुआ अन्न चुराने पर भेड़िया और कच्चा अन्न चुराने से शल्यक होता है। आग चुराने से बक, सूप-मूसल चुराने पर मकड़ी और लाल वस्त्र चुराने से चकोर 'पक्षी होता है। मृगया, हाथा चुराने से नाहर. घोड़ा चुराने से व्याघ्र, फल-मूल की चोरी से वानर, स्त्री चुराने से रीछ, पीने का जल चुराने से चातक, सवारी की चोरी से ऊँट और पशु की चोरी से बकरा होता है। मनुष्य दूसरे की कोई भी वस्तु चुराकर और बिना होम हवि, भोजन से अवश्य पक्षी

होता है। स्त्रियां भी चोरी करने पर इन्हीं दोषों को प्राप्त करती हैं और उन्हीं जन्तुओं की स्त्री बनती हैं । बिना आपत्ति के अपने अपने नित्य कर्मों से पतित पुरुष पाप-योनियों में पैदा होकर, शत्रुओं के यहां दासता को प्राप्त करते हैं। ॥६३-७०॥

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात् स्वकाच्च्युतः ।
अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः ॥ ॥७१॥
मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक् ।
चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात् स्वकाच्च्युतः ॥ ॥७२॥
यथा यथा निषेवन्ते विषयान् विषयात्मकाः ।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥ ॥७३॥
तेऽभ्यासात् कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ।
सम्प्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ॥७४॥
तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम् ।
असिपत्रवनादीनि बन्धनछेदनानि च ॥ ॥७५॥
विविधाश्चैव सम्पीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम् ।
करम्भवालुकातापान् कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥ ॥७६॥
संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः ।
शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥ ॥७७॥
असकृद् गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम् ।
बन्धनानि च काष्ठानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ॥७८॥

अपने धर्म से भ्रष्ट ब्राह्मण उल्कामुख प्रेत होकर वमन खाता है। क्षत्रिय, कटपूत प्रेत होकर विष्ठा और मुरदा खाता है। अपने धर्म से भ्रष्ट वैश्य मैनाक्षज्योतिक प्रेत होकर, पीब खाता है और शूद्र चैलाशक प्रेत होकर, कपड़े की जूं खाता है। विषय आसक्त पुरुष जैसे जैसे विषयों का सेवन करते हैं, वैसे वैसे उनमें उनकी कुशलता

हो जाती है। वे निर्बुद्धि उन पाप कर्मों के चार बार करने से यहां अनेक योनियों में जन्म लेकर दुःख पाते हैं। तामिस्त्र आदि भयानक नरकों में बार यार जन्म होता है। असिपत्र आदि वनों में चलना पड़ता है। यमलोक के बन्धन और छेदन के दुःख भोगने पड़ते हैं। अनेक पीड़ाएं होती हैं, कौआ, उल्लू नोच नोच कर खाते हैं, जलती रेती का ताप और कुम्भीपाक श्रादि दारुणं नरक भोगने पड़ते हैं। दुःख से पूर्ण, पशु आदि की योनि में बारम्बार जन्म होते हैं। सर्दी-गर्मी की पीड़ा और भांति भांति के भय होते हैं। फिर पुन: गर्भ में वास होता है। दुःखद जन्म होता है। विविध बंधन श्रंखला इत्यादि का और दासता को प्राप्त होता है॥ ७१-७८॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः ।
द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनम् ॥ ॥७९॥
जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।
क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान् मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥ ॥८०॥
यादृशेन तु भावेन यद् यत् कर्म निषेवते ।
तादृशेन शरीरेण तत् तत् फलमुपाश्नुते ॥ ॥८१॥
एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ।
नैःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ॥८२॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥ ॥८३॥
सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् ।
किं चिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ॥८४॥
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद् ह्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ॥८५॥
षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चैह च ।
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ॥८६॥

बान्धवों का वियोग, दुर्जनों का सहवास, दुःख से धन पाना, धन का नाश, कठिनता से मित्र पाना और शत्रुओं से बैर भाव होता है । जिसका उपाय न हो सके ऐसा बुढ़ापा आता है, व्याधियों से कष्ट, नानाप्रकार के दुःख और दुर्जय मरण होता है। मनुष्य जिस भाव से जो कर्म करता है, उसके अनुकूल - शरीर धारण करके सभी फलों को भोगता है। यह सब कर्म फलों का वृत्त' कहा गया है । अब ब्राह्मणों का कल्याण करनेवाला कर्म सुनोः -

नैःश्रेयस-कर्म

वेदास्यास, तप, आत्मज्ञान, इन्द्रियसंयम, महिला गुरुसेवा, ये कर्म ब्राह्मणों को परम हितकारी हैं। इन सब शुभकर्मों में भी पुरुष का, अधिक कल्याण करनेवाला कर्म-आत्मज्ञान है। वह सब विद्याओं में श्रेष्ठ है और उससे मोक्ष मिलता है। इन ऊपर कई छः कर्मों में लोक-परलोक दोनों में अधिक कल्याणकारी वैदिक कर्म है ॥ ७९-८६॥

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः ।
अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन् क्रियाविधौ ॥ ॥८७॥
सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ॥८८॥
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञातपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ॥८९॥
प्रवृत्तं कर्म संसेव्यं देवानामेति साम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ॥९०॥
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ॥९१॥

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद् वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥ ॥९२॥
एतद् हि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत् कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ॥९३॥
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ॥९४॥

वैदिक कर्मों में ऊपर कही सब क्रियाओं का अन्तर्भाव होता है। स्वर्गादि सुख और अभ्युदय करनेवाला प्रवृत्ति कर्म और मोक्ष देनेवाला-आत्मज्ञानरूप निवृत्त कर्म ये दो प्रकार के वैदिक कर्म होते हैं। इसलोक के और परलोक के सुख की कामना से किया हुआ कर्म प्रवृत्त और निष्काम आत्मज्ञानार्थ किया कर्म निवृत्त कहलाता है। प्रवृत्त कर्म के करने से देवताओं की समता को और निवृत्त कर्म करने से पञ्चभूतों को उलांघ कर मोक्ष पाता है । सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को समान देखनेवाला आत्मयाजी मोक्ष को पाता है । द्विज शास्त्रोक्त कर्मों को भी न कर सके तो ब्रह्मध्यान, इन्द्रियनिग्रह और वेदाभ्यास को ही करना चाहिए। इन्हीं आचरणों से ही विशेषकर ब्राह्मण के जन्म की सफलता है। द्विज आत्मज्ञान को पाकर ही कृतार्थ होता है, अन्यथा नहीं। पितर, देवता और मनुष्यों के धर्म का मार्ग, दिखाने वाला वेद ही नेत्र है । वह मीमांसा आदि शास्त्रों के विचार बिना जानने में अशक्य है और अनन्त है, यही मर्यादा है ॥ ८७-९४ ॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ ॥९५॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानि चित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ॥९६॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥ ॥९७॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः ॥ ॥९८॥
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यत्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ॥९९॥
सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ ॥१००॥
यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥ ॥१०१॥
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ॥१०२॥

जो स्मृति वेदमूलक नहीं हैं, जो वैदिक देव-यज्ञादि को झूठा बतलाने वाले ग्रन्थ है, उन सभी को निष्फल और नरकगति देनेवाले जानना चाहिए । वेद से भिन्न-मूलक जो ग्रन्थ हैं, वह सब उत्पन्न होते है और थोड़े समय में नष्ट हो जाते हैं। वह सब आधुनिक होने से निष्फल और असत्य हैं। चारों वर्ण, चारों आश्रम, तीनों लोक और भूत, भविष्य, वर्तमान काल सब वेद ही से प्रसिद्ध होते हैं। शब्द,स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच भी वेद से उत्पन्न है और सत्वादि गुणों के कर्म से हैं। सनातन वेद यज्ञादि से चराचर विश्व का धारण और पालन करता है। इसलिये वेद अधिकारी के परम कल्याण का साधन है। सेनापति, राज्य, न्यायाधीश और सबका स्वामी वेदशास्त्र ही होता है । जैसे प्रज्वलित अग्नि गीले वृक्षों को भी भस्म कर डालता है वैसे ही वेदज्ञ अपने कर्मदोषों को भस्म कर डालता है। वेद के तत्त्व को जाननेवाला चाहे जिस किसी भी आश्रम में रहे, वह इसी लोक में मोक्ष को प्राप्त करता है। ॥९५-१०२ ॥

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥ ॥१०३॥
तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ॥१०४॥
प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधाऽऽगमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ ॥१०५॥
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ ॥१०६॥
नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः ।
मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥ ॥१०७॥
अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद् भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ ॥१०८॥
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ ॥१०९॥
दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यऽवरा वाऽपि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ॥११०॥

अज्ञों से ग्रन्थ पढ़े हुए श्रेष्ठ हैं, उनसे धारण करनेवाले श्रेष्ठ हैं, उनसे भी अर्थ समझनेवाले श्रेष्ठ हैं, उनसे भी शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं। तप और विद्या ब्राह्मण का परम हितकारी है। ब्राह्मण तप से पाप का नाश करता है और ब्रह्मविद्या से मोक्ष प्राप्त करता है। धर्म के तत्व को जानने की इच्छावाले प्रत्यक्ष (श्रुति) अनुमान (स्मृति) और विविध शास्त्रों को भली भांति जानना चाहिए। जो वेद और धर्मशास्त्र का वेद के अनुकूल तर्क से विचार करता है वह धर्म को जानता है, दूसरा नहीं जानता। इस प्रकार मोक्ष देनेवाले सब कर्म कहे गये हैं । अब इस मानव धर्मशास्त्र के रहस्य का उपदेश करते हैं:

रहस्य-उपदेश

जो धर्म इस शास्त्र में नहीं कहे गये हैं, उनका निर्णययदि शिष्ट ब्राह्मणों की आज्ञा से जो हो वही माननीय होता है। जिन्होंने साङ्ग, वेद, धर्मभाव से अध्ययन किया हो उन वेद के प्रत्यक्ष प्रमाण भूत ब्राह्मणों को शिष्ट जानना चाहिए। कम से कम दस सदाचारी ब्राह्मणों की सभा या तीन ही ब्राह्मणों की सभा जो धर्म की व्याख्या करें वही धर्म जानना चाहिए ॥ १०३-११०॥

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद् दशावरा ॥ ॥१११॥
ऋग्वेदविद् यजुर्विद्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यऽवरा परिषद्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ॥११२॥
एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ॥११३॥
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ॥११४॥
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तृननुगच्छति ॥ ॥११५॥
एतद् वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् ।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ॥११६॥
एवं स भगवान् देवो लोकानां हितकाम्यया ।
धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥ ॥११७॥
सर्वमात्मनि सम्पश्येत् सत्वासत्व समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि सम्पश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ ॥११८॥

तीनों वेद का ज्ञाता वेदानुकूल शास्त्रज्ञ, मीमांसादि तर्कों का ज्ञाता, निरुक्त और धर्म के विचारों में परायण ऐसे ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ दस ब्राह्मणों की सभा कहलाती है । धर्म में सन्देह पड़ने पर निर्णय करने के लिए तीनों वेद के ज्ञाता, कम, से कम तीन ब्राह्मणों को अधिष्ठाता करना चाहिए। एक भी वेदज्ञ ब्राह्मण जिसको धर्म कहे उसको धर्म जाने । पर दस हजार मूर्खों का भी कहा धर्म मान्य नहीं होता । ब्रह्मचर्य हीन, वेद न जानने वाले नाममात्र से ब्राह्मण जाति के हज़ारों इकट्ठे हो जाएँ तो भी वह सभा नहीं कही जाती । तमोगुणी, धर्म न जाननेवाले, जिसको प्रायश्चित्त बताएं उसका पाप, सैकड़ो भाग होकर बतलाने वाले को प्राप्त होता है। यह परम कल्याणकारी संपूर्ण साधन कहा गया है । जो द्विज अपने धर्म से विचलित नहीं होता वह परम गति को प्राप्त करता है । इस प्रकार भगवान् मनु ने मनुष्यों की हितकामना से यह धर्म का सारा तत्व कहा था, वही मैंने तुम लोगों से कह सुनाया। मनुष्य संपूर्ण कार्य कारणों को आत्मा में सावधान होकर भावना करनी चाहिए। जो सबको आत्मरूप जानता है उसका मन अधर्म में नहीं लगता ॥१११-११८ ॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ ॥११९॥
खं संनिवेशयेत् खेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम् ।
पक्तिदृष्ट्योः परं तेजः स्नेहेऽपो गां च मूर्तिषु ॥ ॥१२०॥
मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम् ।
वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥ ॥१२१॥
प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि । रु
क्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम् ॥ ॥१२२॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ॥१२३॥

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ ॥१२४॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् । ॥१२५॥
इत्येतन् मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन् द्विजः ।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद् गतिम् ॥ ॥१२६॥

इन्द्रादि सभी देव आत्मस्वरूप हैं, यह सारा जगत् परमात्मा में ही स्थित है। क्योंकि धर्मात्मा ही प्राणियों को उन के शुभाशुभ कर्मों का फल देने वाले हैं। ज्ञानी पुरुष बाहरी आकाश को आत्माकाश में, वायु को चेष्टा और स्पर्श में, तेज को जठराग्नि में, सूर्य को नेत्र में, जल को शरीर के चिकने पदार्थों में, पृथिवी को शरीर में, चन्द्रमा को मन में, दिशाओं को श्रोत्र में, विष्णु भगवान् को गति में, शिव को बल में, अग्नि को वाणी में, मित्र को गुदा में और प्रजापति को जननेन्द्रिय में भावना करनी चाहिए । संपूर्ण विश्व का शासनकर्ता अणु से भी अणु शुद्ध सुवर्ण समान-कान्तिमय और निर्विकल्प बुद्धिगम्य परमात्मा को जानना चाहिए । इस परमात्मा को कोई अग्नि, कोई मनु, कोई प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई सनातन ब्रह्म कहते हैं। यह परमात्मा सभी प्राणियों को पञ्चभूतों के साथ मिलाकर चक्र की गति की भांति उत्पत्ति, पालन, और प्रलय द्वारा घुमाया जाता है । इस प्रकार जो पुरुष सब प्राणियों में अपनी आत्मा को देखता है वह सब की समता को पाकर परमपद ब्रह्म को पाता है। जो द्विज भृगु के कहे इस मानव धर्मशस्त्र को पढ़ता है वह सदाचारी होता है और अभीष्ट उत्तम गति को प्राप्त करता है। ॥ ११९-१२६ ॥

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां स्मृतौ द्वादशोऽध्यायः समाप्तः ॥१२॥

॥महर्षि भृगु द्वारा प्रवचित मानव धर्म शास्त्र स्मृति का बारहवां अध्याय समाप्त॥

॥ समाप्तं मानवं धर्मशास्त्रम् ॥

॥मानव धर्म शास्त्र समाप्त॥

॥ हरि ॐ ॥

ॐ असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतम् गमय ॥

संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥